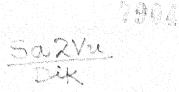
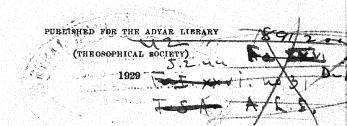
### THE SAMNYASA UPANISHADS

WITH THE COMMENTARY OF SRI UPANISHAD-BRAHMA-YOGIN

#### EDITED BY

MR. T. R. CHINTAMANI DIKSHIT, M.A. WITH THE ASSISTANCE OF THE PANDITS OF THE ADVAR LIBRARY





LIBRARY NEW DELHL

Acc. No. 7907

Date. 19:11:56

Toll No. 522 Very Dek

## अष्टोत्तरशतोपनिषत्सु

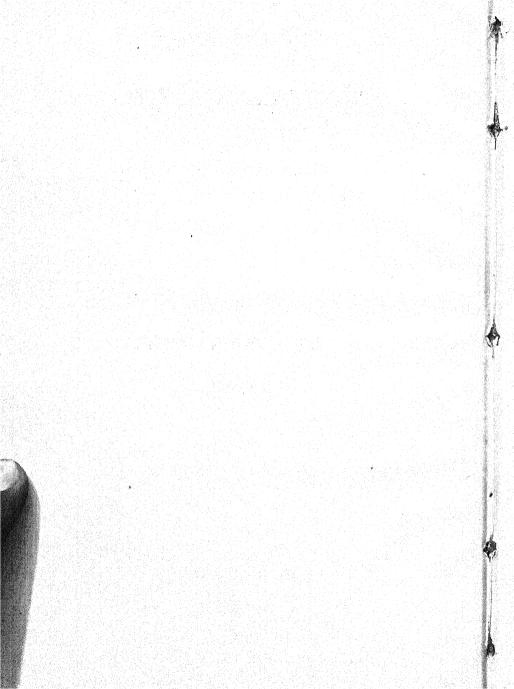
# संन्यास-उपनिषदः

श्री उपनिषद्वसयोगिविरचितव्याख्यायुताः

अडयार्-पुस्तकालयस्थैः पण्डितः सहकृतेन

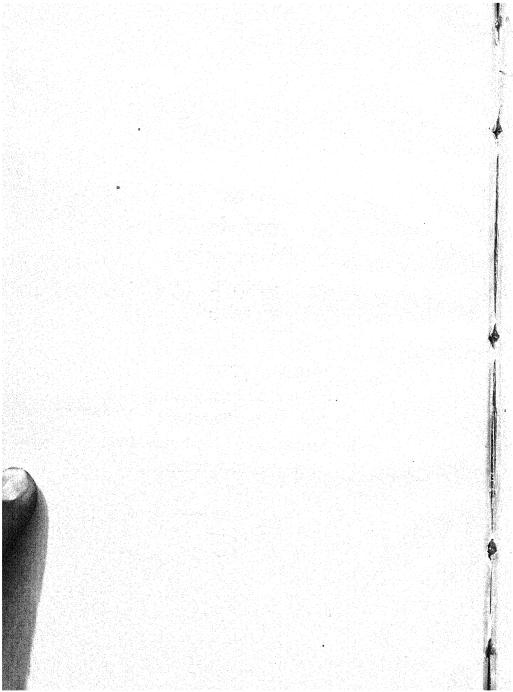
टि. आर्. चिन्तामणिदीक्षितेन संपादिताः

> अडयार्-पुस्तकालयार्थे प्रकटीकृताश्च १९२९



ॐ नमो
ब्रह्मादिभ्यो
ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो
वंशऋषिभ्यो
नमो गुरुभ्यः

DEDICATED TO
Brahma and the Rishis,
The Great Teachers
Who handed down Brahmavidya
through Generations

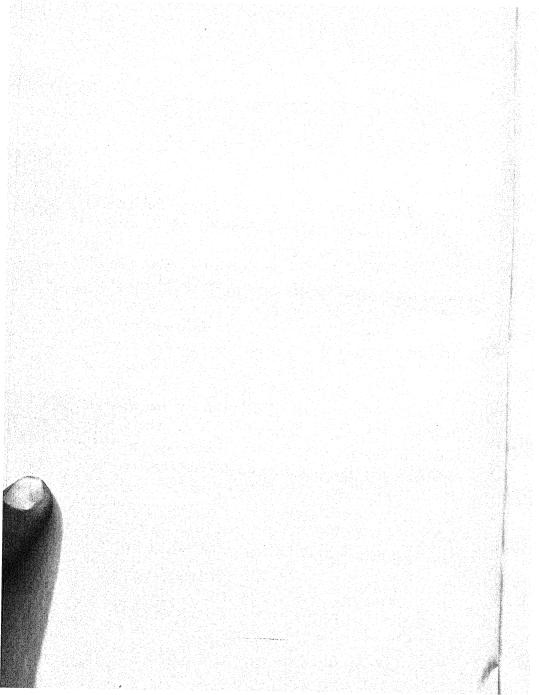


#### PREFACE

WITH this volume the Adyar Library finishes the publication of the Minor Upanisads, 98 in number, with the commentary of Upanisadbrahmayogin, which was undertaken by my predecessor the late Pandit A. Mahadeva Sastri. He had published four volumes, and I now issue the fifth volume containing the Samnyāsopanisads. I have closely followed the plan of the previous volumes. The book was seen through the press by the Pandits of the Adyar Library, who have worked with my predecessor in the publication of the previous volumes, and also by the assistant librarian, Mr. T. R. Chintamani, M.A. The Library does not intend at present to issue the ten Major Upanisads with the commentary of Upanisadbrahmayogin. The Library contains about 75 Upanisads more, nearly all of them yet unpublished. The Library will very soon issue all these Minor Upanisads, along with any more that may be available from outside.

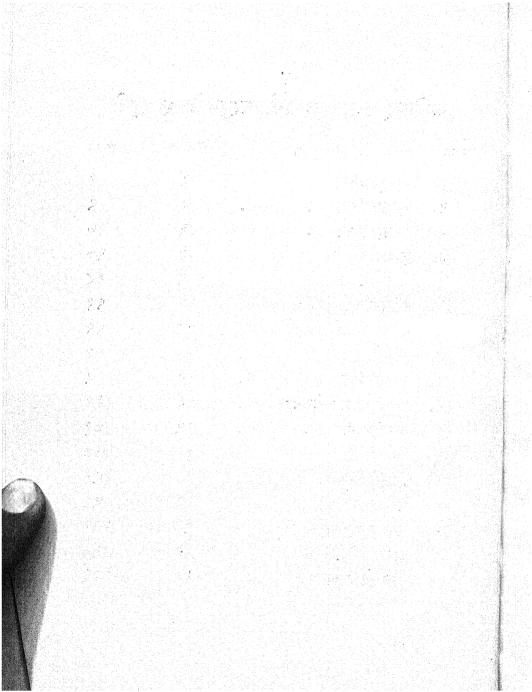
C. KUNHAN RAJA,

Hon. Director.



## अस्मिन् सम्पुटे अन्तर्गतानामुपनिषदां सूची

| संख्या | उपनिषन्नाम                | ई | शादिसंख्या | पुटसंख्या   |
|--------|---------------------------|---|------------|-------------|
| ٤.     | अवधूतोपनिषत् .            |   | ७९         | 8           |
| ₹.     | आरुण्युपनिषत् .           |   | १६         | ٩.          |
| ₹.     | कठरुद्रोपनिषत् .          |   | <b>८</b> ३ | १७          |
| 8.     | कुण्डिकोपनिषत् .          | • | ७४         | २७          |
| ٩.     | जाबालोपनिषत् .            |   | १३         | <b>३</b> ८  |
| ξ.     | तुरीयातीतावधूतोपनिषत्     | • | ६४         | 99          |
| ७.     | नारदपरित्राजकोपनिषत्      |   | ४३         | 99          |
| ۷.     | निर्वाणोपनिषत .           | • | 80         | १३४         |
| ९.     | परब्रह्मोपनिषत् .         |   | ७८         | १४९         |
| १०.    | परमहंसपरित्राजकोपनिषत्    |   | ६६         | १६१         |
| ११.    | परमहंसोपनिषत् .           |   | १९         | १७१         |
| १२.    | ब्रह्मोपनिषत् .           | • | 8 8        | १७७         |
| १३.    | भिक्षुकोपनिषत् .          |   | ξo         | १९०         |
| १४.    | मैत्रेय्युपनिषत् .        |   | २९         | १९३         |
| १५.    | याज्ञवल्क्योपनिषत्        | • | 6/8        | २१३         |
| १६.    | <b>रााट्यायनीयोपनिषत्</b> | • | ९९         | <b>२</b> २२ |
| १७.    | संन्यासोपनिषत् .          |   | ६५         | २३६         |
|        |                           |   |            |             |



# विषयसूचिका

## १. अवधूतोपनिषत्

| अवधूतजिज्ञासा .                   | •                 |            |      | १        |
|-----------------------------------|-------------------|------------|------|----------|
| अवधूतशब्दस्याक्षरार्थः            | •                 |            |      | 8        |
| प्रधानगौणावधूतचर्या               | •                 |            |      | ર        |
| प्रियादिवृत्तेः पक्षित्वेन वर्णनम |                   |            |      | २        |
| ज्ञानस्य फलम् .                   | •                 |            | 1115 | ३        |
| अवधूतचर्यानुऋमणम्                 | •                 |            |      | <b>३</b> |
| महाबतम् .                         | •                 |            |      | 8        |
| परमार्थसदुपदेशः .                 |                   |            |      | 8        |
| श्रवणादिविधानम् .                 |                   |            |      | ٩        |
| विद्याफलम् .                      |                   |            |      | ૭        |
|                                   | २. आ <del>र</del> | ण्युपनिषत् |      |          |
| पारिब्राज्यलक्षणम् .              |                   |            | •    | ዓ        |
| संन्यस्यमानस्य कर्तव्यानि         |                   |            |      | १०       |
| संन्यासमन्त्रिङ्गविध्यादि         |                   |            | • 20 | १२       |
| संन्यासिनामासनादिनियमाः           | •                 |            |      | १३       |
| भिक्षानियमाः .                    |                   |            | •    | १४       |
| भिक्षानिमित्तोपस्थानमन्त्रः       |                   |            |      | १४       |

| विद्वत्सन्यासाधिकारः                  | •          |                                       | • | • | १५        |
|---------------------------------------|------------|---------------------------------------|---|---|-----------|
| उपसंहार: .                            |            |                                       |   |   | १५        |
| 3                                     | . कठरुद्रे | ोपनिष त्                              |   |   |           |
| ब्रह्मविद्याध्ययनम् .                 |            |                                       |   |   | १७        |
| ब्रह्मविद्याङ्गसंन्यासनिरूपणम्        |            |                                       | • |   | १८        |
| संन्यासऋमः .                          |            |                                       |   |   | १९        |
| संन्यस्तस्य कर्तव्यानि                |            | •                                     | • |   | २०        |
| ब्रह्मचर्यलक्षणम् .                   |            |                                       |   |   | २१        |
| ब्रह्मचर्यस्य फलम् .                  |            |                                       | • |   | २१        |
| ब्रह्मभावापत्तेः ज्ञानायत्तता         |            |                                       |   |   | २१        |
| ब्रह्मज्ञानफलम् .                     | •          |                                       | • |   | २२        |
| एकस्यैव निर्विशेषब्रह्मणः सप्तध       | ।। भेदः    | •                                     |   |   | २५        |
| विद्याफलम् .                          | •          |                                       |   |   | २५        |
| 8.                                    | . कुण्डिव  | जेपनिषत्                              |   |   |           |
| संन्यासपरिग्रहात्पूर्वं कर्तत्र्यानाः | मनुक्रमणम् |                                       |   |   | 30        |
| विदारस्यैव संन्यासाधिकारः             | •          |                                       |   |   | २९        |
| जन्मनिवृत्त्यर्थे संन्यासपरिग्रहः     |            |                                       |   | • | ३०        |
| संन्यस्तस्य न श्रोतस्मार्ताग्निसेव    | नम्        |                                       |   |   | ३१        |
| अग्निसेवने प्रत्यवायः                 | •          |                                       |   |   | ३१        |
| चित्तशुद्भवर्थे प्रणवादिमहावाक्य      | ानामावतेन  | ң.                                    |   | • | ३१        |
| दीक्षानियमा: .                        |            |                                       |   |   | ३२        |
| विश्वाधिष्ठानात्पञ्चभूतानां भेदः      | •          |                                       |   |   | ३३        |
| यतेः स्वानुभवप्रकटनम्                 | •          | ************************************* |   |   | 38        |
| योगाभ्यासेन ब्रह्मसाक्षात्कारः        |            |                                       |   |   | <b>48</b> |

| सविशेषज्ञानिनः ऋममुक्तिः           |       |   |   | ३५    |
|------------------------------------|-------|---|---|-------|
| निर्विशेषब्रह्मज्ञानिनां मोक्षः .  |       |   |   | ३६    |
| . ५. जाबालोप                       | निषत् |   |   |       |
| प्रथम: खण्ड:                       |       |   |   |       |
| अविमुक्तोपासनम् .                  |       |   |   | ३८    |
| द्वितीयः खण्डः                     |       |   |   |       |
| अविमुक्तस्वरूपजिज्ञासा .           |       |   | • | 80    |
| अविमुक्तोपलब्धिसाधनम्              |       |   |   | 80    |
| तृतीयः खण्डः                       |       |   |   |       |
| अविमुक्तज्ञानोपायः                 |       |   | • | ૪ર    |
| चतुर्थः खण्डः                      |       |   |   |       |
| सर्वकर्मसंन्यासज्ञानजिज्ञासा       |       |   |   | ४२    |
| आहिताग्निसंन्यासविधिः .            |       |   |   | 88    |
| निरग्निकसंन्यासविधिः .             |       |   | • | ४५    |
| पश्चम: खण्ड:                       |       |   |   |       |
| ब्राह्मणस्यैव संन्यासेऽधिकारः      |       |   | • | ४६    |
| संन्यासेऽधिकृतानां कर्तव्यनिरूपणम् |       | • | • | ्र ४६ |
| षष्ठः खण्डः                        |       |   |   |       |
| पारमहंस्यपूगस्य सर्वोत्कृष्टता     |       | • |   | 80    |
| साम्बरपरमहंसलक्षणम् •              |       |   |   | 85    |
| दिगम्बरपरमहंसलक्षणम् .             |       |   | • | 85    |

#### ६. तुरीयातीतावधूतोपनिषत् तुरीयातीतावधूतचर्या, निष्ठाच ७. नारद्परित्राजकोपनिषंत् प्रथमोपदेश: नारदं प्रति शौनकादीनां प्रश्नः 99 विदेहमुक्तिलामोपायोपदेशः ५६ द्वितीयोपदेशः पारिब्राज्यस्वरूपक्रमः 90 तृतीयोपदेशः संन्यासाधिकारी ६१ आतुरसंन्यासः ६२ आतुरसंन्यासविधिः ६२ देशान्तरस्थाहिताग्नेः संन्यासविधिः ६३ सतृष्णस्य संन्यासपरिग्रहे नरकप्राप्तिः ६३ वैतृष्ण्यमेव संन्यासपरिग्रहे हेतः ६४ विद्रत्संन्यासः ६४ अवैधपरिप्रहे प्रत्यवायः ६६ परिव्राजकानां धर्माः ६६ यतिचर्या तत्फलं च ६९ अजिह्वादीनां लक्षणम् 90 यतीनां वर्जनीयानि 90 यतिभिरनुष्टेयानि 50 आश्रमानुसारेण पारिब्राज्यम् 50

| यतेरेव मुख्यब्राह्मण्यम्   |                         |             |   |                | 80 |
|----------------------------|-------------------------|-------------|---|----------------|----|
| पारमहंस्यावधूताश्रमपरिग्र  | <b> </b> ₹•             |             |   | •              | ७५ |
| चतुर्थोपदेशः               |                         |             |   |                |    |
| यतिधर्माणां तत्फलस्य च     |                         |             |   |                | 99 |
| क्रमसंन्यासविधिनिरूपण<br>- |                         |             |   |                | ८२ |
| पश्चमोपदेशः                |                         |             |   |                |    |
| संन्यासप्रभेदा अनुष्ठानभे  | दाश्व                   | •           |   |                | ८७ |
| संन्यासचातुर्विध्यम्       |                         |             |   |                | 66 |
| <b>े वैराग्यसंन्यासः</b>   |                         |             |   |                | 66 |
| ज्ञानसंन्यासः              |                         | •           | • | •              | ८९ |
| ज्ञानंवैराग्यसंन्यासः      | •                       |             |   | •              | ८९ |
| कर्मसंन्यासः               |                         |             |   | •              | ८९ |
| निमित्तानिमित्तभेदेन कर्म  | संन्यास <del>स</del> ्य | द्वैविध्यम् | • |                | ९० |
| कुटीचकादिभेदेन संन्यार     | तः षड्विधः              | •           |   | •              | ९० |
| कुटीचकलक्षणम्              |                         |             |   | •              | ९१ |
| बहूदकलक्षणम्               |                         |             |   | adi je ( t.e.) | ९१ |
| हंसलक्षणम् .               | •                       | S           | • | •              | ९१ |
| परमहंसलक्षणम्              |                         |             |   |                | ९१ |
| तुरीयातीतछक्षणम्           |                         |             |   | •              | ९२ |
| अवधूतलक्षणम्               |                         |             |   |                | ९२ |
| जीवत आतुरस्य ऋमसंन्य       | ग्रसः                   |             |   |                | ९२ |
| कुटीचकादीनां संन्यासि      | ाघि:                    | •           |   | •              | ९२ |
| परमहंसादित्रयाणां संन्या   | सविधि:                  |             | • | •              | ९३ |
| कुटीचकादीनां भिक्षाविशे    | া <b>দ:</b>             | •           |   |                | ९३ |
| े तेषां प्राप्यस्थानानि    |                         |             |   | •              | ९४ |

| 96  |   |    |     |
|---|---|----|-----|
| ब्रह्मानुसन्धानमेव कर्तव्यं, नान्यत् .                |   |    | ९५  |
| अननुसंधाने पातित्यम्                                  |   |    | ९७  |
| तुरीयातीतानां भोजनादिकं अन्यदीयेच्छयेव                |   |    | ९८  |
| ब्रह्मविद्वरिष्ठः                                     |   |    | ९८  |
| यतीनां भोजनादिनियमाः                                  |   |    | ९९  |
| यतेर्जितेन्द्रियत्वम्                                 |   |    | १०० |
| यतेः सर्वेकर्मपरित्यागः                               | • |    | १०० |
| यतेरसाधारणधर्माः                                      | • | •  | १०२ |
| षष्टोपदेशः  |   |    |     |
| मोक्षोपायजिज्ञासा                                     |   |    | १०४ |
| विद्वदेहशरीरवर्णनादिकम्                               |   |    | १०४ |
| तुर्यातीतत्वप्राप्त्युपायः                            |   |    | १०५ |
| तुर्यातीतस्वरूपम्                                     |   |    | १०७ |
| असच्यांत्यागः सच्यांनुष्टानं च .                      |   |    | १०८ |
| विविदिषोः श्रवणादिविधिः .                             |   |    | ११० |
| सप्तमोपदेश:   |   |    |     |
| यतिनियमाः   |   |    | ११३ |
| कुटीचकादीनां स्नानादिनियमेषु विशेषः                   |   | •  | ११५ |
| अष्टमोपदेश:   |   |    |     |
| तारकखरूपजिज्ञासा                                      |   |    | ११७ |
| अन्तःप्रणवादीनां स्वरूपकथनम्                          |   |    | १२० |
| विराट्प्रणवस्य षोडशमात्रात्मकत्वम .                   |   |    | १२१ |
| परब्रह्मानुसन्धानम्                                   |   |    | १२३ |
| विश्वादीनां चातुर्विध्यम्                             |   | •/ | १२४ |
| 하다 경기 그렇는 하기 하면 하면 이렇게 하지 않고 하면서 다른 살이 얼마나 없었다. 그 속 없 |   |    |     |

| तुर्यावस्थायाश्चातुर्विध        |            |  |       |   | १२५ |
|---------------------------------|------------|--|-------|---|-----|
| तुर्यतुरीयो ब्रह्मप्रणवः        |            |  |       | • | १२६ |
| नवमोपदेशः                       |            | (1) 이 등 시 (1) 이<br>음악 시 (1) 등 (1)<br>2 (1) (1) (1) (2) |       |   |     |
| ब्रह्मखरूपवर्णनम्               |            |  |       |   | १२७ |
| शास्त्रवेदनफलम्                 |            |  |       |   | १२९ |
| ब्रह्मप्राप्तिस्तद्वेतुश्च      | •          |  |       |   | १३१ |
|                                 | ८. निः     | र्गाणोपनिषत्   |       |   |     |
| मुख्यावधूतलक्षणम् .             |            |  |       |   | १३४ |
| <b>गौ</b> णावधूतः तचर्या तत्फलं | <b>ਰ</b> . |  |       |   | १४६ |
| मुख्यावधूतोपायसंपत्तिः          |            |  |       |   | १४७ |
| अधिकारिनिरूपणम्                 |            |  |       |   | 886 |
|                                 | ९. परः     | <b>म्ह्योपनिष</b> त्                                   |       |   |     |
| वरिष्ठा ब्रह्मविद्या .          |            |  |       |   | १४९ |
| त्रिपाद्रह्मप्रापकोपायः         | •          | •  |       | • | १५१ |
| अन्तर्बाह्यशिखादिलक्षणम्        |            |  |       |   | १५४ |
| निर्विशेषब्रह्मस्वरूपम्         |            |  |       |   | १५५ |
| कर्मणः चित्तशुद्धिप्रापकत्वम्   |            |  |       |   | १५५ |
| मुमुक्षुणा कर्तत्र्यानि .       |            |  |       |   | १९८ |
| १०.                             | परमहंसप    | रित्राजकोपा  | नेषत् |   |     |
| परिव्राजकलक्षणजिज्ञासा          | •          |  |       |   | १६१ |
| अधिकारिनिरूपणम्                 | •          |  |       |   | १६२ |
| निरामयस्य संन्यासः              |            | •.   | •     |   | १६३ |
| a .                             |            |  |       |   |     |

|                                 |                       |                  | 16                         |   |            |     |
|---------------------------------|-----------------------|------------------|----------------------------|---|------------|-----|
| बसप्रणवस्वरूपजिञ्च              | ासा                   |                  |                            |   |            | १६६ |
| अग्रज्ञोपवीतिनो बाह             | गणत्वम्               |                  |                            |   | Voj. 12. / | १६८ |
|                                 | ?                     | १. परम           | ।<br>इंसोपनिषत्            |   |            |     |
| ्र<br>परमहंसपरिव्राजकान         | ர் <del>ப</del> ட்டு∙ |                  |                            |   |            | १७१ |
| परमहंसपरिव्राजकान               |                       |                  |                            |   |            | १७२ |
|                                 |                       |                  |                            |   |            |     |
|                                 |                       | १२. ब्र          | स्रोपनिषत्                 |   |            |     |
| चतुष्पाद्रह्म                   |                       |                  |                            |   |            | १७७ |
| परस्य ब्रह्मणोऽक्षरत            | वम्                   | •                |                            |   |            | १७० |
| निर्वाणस्यैकत्वम्               | •                     |                  |                            |   |            | १८० |
| त्रिवृत्सूत्रम्                 | •                     | •                |                            |   |            | 120 |
| वहि <del>स्</del> सूत्रम्       |                       | •                |                            |   |            | १८१ |
| ब्रह्मसूत्रम्                   |                       | •                |                            |   |            | १८१ |
| <b>ज्ञान</b> शिखादीनां मुख      | यब्राह्मण्या          | ले <b>ङ्ग</b> ता |                            |   |            | १८३ |
| <b>कि</b> या <b>ङ्ग</b> सूत्रम् |                       |                  |                            | ] - 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 | •          | १८३ |
| <b>निरूपचरितब्राह्मण्य</b> म    | Į                     |                  |                            |   |            | १८४ |
| यज्ञोपवीतयाथातम्यग              | ī                     | •                |                            |   |            | १८४ |
| ब्रह्मीभूतो विद्वानेक           | एव                    | •                |                            | •                                       |            | १८५ |
| ब्रह्मास्युपाय:                 |                       |                  |                            |   |            | १८६ |
|                                 | १                     | ३. भि            | <b>क्षुकोपनिष</b> त्       |   |            |     |
| चतुर्विधा मिक्षव:               | •                     |                  |                            |   |            | १९० |
| कुटीःचकाः                       | • *                   | •                |                            |   |            | १९० |
| बहूदकाः                         | •                     |                  | 2001 (1902)<br>1403 (1903) |   |            | 198 |
|                                 |                       |                  |                            |   |            |     |

|                                | 98                                  |            |       |             |
|--------------------------------|-------------------------------------|------------|-------|-------------|
| हसाः                           |                                     |            |       | १९१         |
| परमहंसाः                       |                                     |            |       | १९१         |
| y a                            | त्रेय्युपनिषत्                      |            |       |             |
| प्रथमोऽघ्यायः                  | 4.311.110                           |            |       |             |
| संसारविरक्तस्यात्मजिज्ञासा     |                                     |            |       | १९३         |
| संसारनिर्वेदगाथा .             |                                     |            |       | १९३         |
| ब्रह्मणो याथातम्यप्रकटनम्      |                                     |            |       | १९०         |
| द्वितीयोऽध्यायः                |                                     |            |       |             |
| मैत्रेयं प्रति महादेवस्योपदेशः |                                     |            |       | १९६         |
| शौचविधानम् .                   |                                     |            | •     | २००         |
| चित्तशुद्धिः                   |                                     |            |       | २०          |
| अहङ्कारादित्यागः .             |                                     |            |       | २०          |
| कर्मत्यागः                     |                                     | •          |       | २०          |
| मुख्यसंन्यासः .                | 12 이 전 시기를<br>기타했다. <b>2</b> 1일 기다. | • 37       |       | २०:         |
| संन्यासाधिकारी .               |                                     |            | •     | २०          |
| मुक्तिं प्रति साधनान्तराणि     |                                     |            | •     | २०          |
| अनुभवः                         |                                     |            |       | २०          |
| परमरहस्योपदेशः .               |                                     |            |       | २०          |
| विदेहमुक्तस्य स्थिति: .        |                                     |            | .n .• | २०          |
| तृतीयोऽध्याय:                  |                                     |            |       |             |
| मेत्रेयस्य खानुभवप्रकटनम्      | •                                   |            |       | २०          |
| १५. याः                        | ज्ञवल <del>्व</del> योपनि <b>'</b>  | <b>गत्</b> |       |             |
| सर्वकर्मसंन्यासज्ञानजिज्ञासा . |                                     |            |       | <b>२</b> १: |

| आहिताग्निसंन्यासविधिः                                       | •         |  |     |   | २१३         |
|---|-----------|--|-----|---|-------------|
| निर <b>ग्निकसं</b> न्यासविधिः                               | •         | •  |     |   | २१४         |
| ब्राह्मणस्यैव संन्यासेऽधिकारः                               | •         |  |     | • | २१४         |
| संन्यासेऽनधिकृतानां कर्तत्र्यनि                             | रूपणम्    |  |     |   | २१४         |
| पारमहंस्यपूगस्य सर्वोत्कृष्टता                              |           |  |     |   | २१५         |
| साम्बरपरमहंसलक्षणम्   | •         |  |     |   | २१५         |
| दिगम्बरपरमहंसलक्षणम्  | •         |  |     | • | २१५         |
| परिव्राजिनः परमेश्वरत्वम्                                   | •         |  |     |   | २१६         |
| स्त्र्यादीनां कुत्सनम्                                      |           | . 영화 이 기계 (1976)<br>1985 - 이 기계 (1985)<br>- 이 기계 특히 (1985) | •   | • | २१७         |
| सद्यति:   |           |  |     | • | २१९         |
| १६.   | . शास्त्र | ायनीयोपनि  | षत  |   |             |
| 등 사용하다 경우 하는 사람들은 사용하다 하다.<br>사용하는 사용하는 사용하는 사용하는 사용하는 것이다. |           |  |     |   |             |
| मनसो बन्धमोक्षहेतुत्वम्                                     | •         |  |     | • | २२२         |
| साधनचतुष्टयसंपत्तिः   |           |  |     | • | २२३         |
| कुटीचकधर्माः .  | •         |  |     | • | <b>२२</b> ४ |
| संन्यासिनां चातुर्विध्यं धर्मश्र                            | •         |  |     | • | २२५         |
| कुटीचकानां जपयज्ञादि  |           |  |     | • | २२६         |
| योगयज्ञादियज्ञचतुष्टयम्                                     | •         |  |     |   | २२७         |
| परिब्राजेकैः कर्तव्यनिरूपणम्                                |           |  |     | • | २२८         |
| वासस्थाने नियमः .   | •         |  | •   | • | २२९         |
| आत्मज्ञानवतः स्थितिः  |           |  | i i |   | २३०         |
| आरूढपातित्ये प्रत्यवायः                                     |           | •  |     |   | २३१         |
| विष्णुलि <b>ङ्गद्व</b> यानुवर्तनम्                          |           | •  | •   | • | २३३         |
| १७  | ). संन्य  | <b>गसोपनिषत्</b>   |     |   |             |
| प्रथमोऽध्यायः   |           |  |     |   |             |
| संन्यासविधि:  | •         |  |     | • | २३६         |

#### द्वितीयोऽध्यायः

| संन्यासाधिकारी           |                      |   |  |   | २३९         |
|--------------------------|----------------------|---|--|---|-------------|
| पतितलक्षणम्              |                      |   |  |   | २३९         |
| संन्यासानधिकारिणः        |                      |   |  |   | २३९         |
| संन्यासस्वीकारप्रकार:    |                      | •   |  | • | २४०         |
| संन्यस्तपुरुषस्तवः       |                      |   |  | • | २४०         |
| दण्डपरिग्रह:             |                      |   |  | • | २४१         |
| दण्डलक्षणम्              |                      |   |  | • | २४१         |
| कमण्डलुपरिग्रहः          |                      |   |  | • | 288         |
| संन्यासिनां चातुर्विध्यम |                      |   |  | • | २8 <b>२</b> |
| वैराग्यसं <b>न्</b> यासी |                      |   |  |   | २४२         |
| ज्ञानसंन्यासी            |                      |   |  | • | २४२         |
| ज्ञानवैराग्यसंन्यासी     |                      |   |  |   | २४३         |
| ऋमसंन्यासी.              |                      | 1 : 40   1   21   11  <br>1 • 1   1   1   1   1   1   1   1   1 |  |   | २४३         |
| षड्विधसंन्यासः           |                      |   |  |   | २४३         |
| कुटीचक: .                |                      |   |  |   | २४३         |
| बहूदक: .                 |                      |   |  | • | २४३         |
| हंसः .                   |                      |   |  | • | २४३         |
| परमहंसः .                |                      |   |  | • | 788         |
| तुरीयातीत: -             |                      |   | 15 17 |   | 788         |
| अवधूत: .                 |                      |   |  | • | 788         |
| प्रसम्बह्धेक्यभावना      |                      |   |  | • | 788         |
| चितिशक्तिः तत्स्तुतिश्च  |                      |   |  | • | २४६         |
| अभेदानुभवः               | •                    |   |  |   | २४७         |
| आतुरसंन्यासः संन्यासि    | नां प्राप्यस्थ       | ानानि च   |  | • | २५१         |
| संन्यासिभिः स्वरूपानुस   | ान्धानं विन <u>ा</u> | नान्यत्किम  | पि कार्यम्   | • | २५२         |
|                          |                      |   |  |   |             |

|       | तेषां चर्यादिकम्                     | २५३ |
|-------|--------------------------------------|-----|
|       | यतीना वर्ज्यानि                      | २५६ |
|       | षड्यतिपातकानि; पातित्ये दोषनिरूपणं च | १९६ |
| नामध  | यपदसूची                              | २६१ |
| विशेष | पदसूची                               | २६३ |

# अवधूतोपनिषत्

### सह नाववतु—इति शान्तिः

अवधूतजिज्ञासा

अथ ह साङ्कृतिर्भगवन्तमवधूतं दत्तात्रेयं परिसमेत्य पप्रच्छ । भगवन कोऽवधूतस्तस्य का स्थितिः किं हक्ष्म किं संसरणमिति । 'तं होवाच भगवो दत्तात्रेयः परमकारुणिकः ॥ १ ॥

> गोणमुख्यावधूतालिहृदयाम्बुजवर्ति यत् । तत्त्रेपदब्रह्मतत्त्वं स्वमात्रमवशिष्यते ॥

इह खल्ज कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्तेयं अवधूतोपनिषत् अवधूतचर्याप्रकटनव्यग्रा निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । साङ्कृतिदत्तात्रेयप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकाम-वतारयति—अथेति । किमिति—भगविन्निति । साङ्कृतिप्रश्लोत्तरं भगवानाह—तिमिति । भगव इत्यत्र भव इति पाठस्वीकारे, भवतीति भवो भगवान् इति व्युत्पत्तिः ॥ १ ॥

अवधूतशब्दस्याक्षरार्थः

अक्षरत्वाद्धरेण्यत्वाद्भृतसंसारबन्धनात् । तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्थते ॥ २ ॥

#### अवधूत इसक्षरार्थमाह—अक्षर इति ॥ २ ॥

#### गौणावधृतचर्या

यो विलङ्घाश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा । अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते ॥ ३ ॥

मुख्यावधूतः प्रमात्मेत्युक्त्वा स्वातिरिक्तिनिष्टतिप्रधानगौणावधूतचर्यामा-ह—य इति ॥ ३ ॥

प्रियादिवृत्तेः पक्षित्वेन वर्णनम्

तस्य प्रियं शिरः कृत्वा मोदो दक्षिणपक्षकः । प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्दो गोष्पदायते ।। ४ ॥ गोवालसदृशं शीर्षे नापि मध्ये न चाप्यधः । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पुच्छाकारेण कारयेत् । एवं चतुष्पदं कृत्वा ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ५ ॥

तित्प्रयादिवृत्तिं पिक्षित्वेन वर्णयिति—तस्येति । योऽवधूत इति ख्यातस्तस्य साधनसम्पत्तिजं प्रियं हर्षे शिरः कृत्वा समाहितावस्थायां यो हर्षः स मोदो दिक्षणपक्षत्वेन चिन्त्यः । अखण्डाकारवृत्तिजः प्रमोद उत्तरपक्षत्वेन ध्येयः । निर्वि-कल्पसमाधिजो यः आनन्दः स आत्मा; स एव गोष्पदायते प्रियमोदप्रमोदानन्द-रूपेण चतुर्धा भिद्यते ॥ तत्र शीर्षे साधनसंपत्तिजहर्षे स्वात्मबुद्धि न कुर्यात् । न चाप्यधः दक्षिणोत्तरपक्षोपमे समाहितचित्ताखण्डाकारवृत्तिरूपे मोदे प्रमोदे च स्वात्मबुद्धि न कुर्यात् । तथा मध्येऽपि निर्विकल्पकसमाधिजानन्दे स्वात्मिधयं त्यजेत् । तथा चेदात्मधीः कुत्र कार्येत्यत्र यद्गोवास्रसदृशं किंचिदविश्वं

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> ड, ड १. गोष्पदाकृतिः

तद्भक्षपुच्छं प्रतिष्ठेति पुच्छाकारेण कारयेत्। यत्प्रियाद्यवयवकलपनाधिकरणं तद्भतहेयांशापाये यदविशिष्यते तिन्नरिधकरणं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रं स्वावशेषिधया ध्यायेदित्यर्थः। एवमेकं चतुर्धा विभज्य पुनस्तदारोपापवादाधिकरणं निरिधकरणं ब्रह्म स्वमात्रमिति ये जानन्ति ते तज्ज्ञानसमकालं तन्मात्रावशेषलक्षणां परमां गतिं विदेहमुक्तं यान्ति विदेहमुक्ता भवन्तीत्यर्थः॥ ४, ९॥

#### ज्ञानस्य उत्कर्षः

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ॥ ६ ॥

कर्मादिभिरिप केवल्यमाप्तुं शक्यते किं ज्ञानेनेत्यत आह—नेति । "कर्मणा बद्धयते जन्तुः किं प्रजया करिष्यामः" "मा गृघः कस्य चिद्धनम्" इति च श्रुत्यनुरोधेन ब्रह्मातिरेकेणापह्योतच्यैः कर्मप्रजाधनैः केऽप्यमृतत्वं नानशुः । किन्त्वेतत्सर्वत्यागेन ब्रह्मातिरिक्तं नेति इति स्वातिरिक्तसामान्यसंन्यासेन सम्यज्ञान्नातमना अमृतत्त्वं विदेहँकैवल्यमानशुः प्राप्नुयुरित्यर्थः ॥ ६ ॥

#### अवधूतचर्यानुकमणम्

स्वैरं स्वैरिवहरणं तत्संसरणम् । साम्बरा वा दिगम्बरा वा । न तेषां धर्माधर्मौं न मेध्यामेध्यौ । सदा सांग्रहण्येष्टचाश्वमेध-मन्तर्यागं यजते । स महामखो महायोगः ॥ ७ ॥

अवधूतचर्यामनुक्रामित स्वैरमिति । श्रुतिस्मृतिशिष्टाचाराविरोधेन स्व-च्छन्दं स्वैरं स्वैरविहरणं तत्संसरणं यदच्छयागतिभिक्षादिदेहधारणमात्रोपयोगि-परिप्रहपूर्वकं स्वाञ्चलोकोन्मादनप्रवृत्तिनिरासकं तत्संसरणमटनिम्द्यर्थः । केचन अव-धूतचित्तमळाः सन्तः साम्बरा वा दिगम्बरा वा भवन्ति । न तेषां धर्माधर्मी विद्येते, प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुस्वाञ्चानवैरल्यात् । तथा तद्दष्ट्या न मेध्यामेध्यौ भवतः केवळबह्ममात्रदृष्टित्वात् । तादृशः किं करोतीत्यत्राह—सदेति । बहुवेव सर्वं ब्रह्माति- रिक्तं न किंचिदस्ति इति यया सम्यग्ज्ञानवृत्त्या गृह्यते सा संग्रहणी, सैव सांग्रहणी। तया सांग्रहण्येष्ट्रया जुष्टं श्वः परश्वो वा स्वातिरिक्तपशुमेधनं विश्वसनमपह्नवं कर्तव्यं इत्यत्र यद्विलम्बनासहं तदेवाश्वमेधमन्तर्यागं विद्वान् यजते सदा सर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति तन्मात्रतया अवतिष्ठते॥ ७॥

#### महावतम्

कृत्स्त्रमेतिचित्रं कर्म स्वैरं न निगायेत्। तन्महात्रतम्। न स मूटविष्ठिप्यते ॥ ८॥

> यथा रिवः सर्वरसान्त्रभुङ्के हुताशनश्चापि हि सर्वभक्षः । तथैव योगी विषयान्त्रभुङ्के न लिप्यते पुण्यपापैश्च शुद्धः॥९॥ आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् । तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमामोति न कामकामी ॥

स एव कृत्स्तमेति त्रित्रं कर्म अहमेता दश इति येन केनापि स्वैरं स्वच्छन्द्-शीछं जात्वपि न विगायेत् इति यत् तत् महात्रतम्। यदि कदा चित् बहिष्ट-प्राण्यदृष्टानुरोधेन स्वशीछं विगायेत्तदाऽयं न स मृढविष्ठिप्यते। तदेव सदृष्टान्तं प्रपञ्चयति—यथेति ॥ युगपत्सर्वकामाञ्चनेऽपि न वर्धते न हीयते स्वयं अविकृतः सन् स्वातिरिक्तशान्ति भजतीत्याह—आपूर्यमाणिमिति। अपरिच्छिन्नविषयसेवया योगी मुच्यते न तथा कामी परिच्छिन्नविषयसेवयापि हीयते इत्यर्थः॥ ८-१०॥

#### परमार्थसदुपदेश:

न निरोधो न चोत्पित्तर्वद्धो न हि न साधकः । न मुमुक्कुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ११ ॥ ऐहिकामुष्मिकवातिसद्धचे मुक्तेश्च सिद्धये । बहुकृत्यं पुरा स्यान्मे तत्सर्वमधुना कृतम् ॥ १२ ॥ तदेव कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
दुःसिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ॥ १३ ॥
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छ्या ।
अन्ततिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ॥ १४ ॥
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ।
व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानघ्यापयन्तु वा ॥ १५ ॥
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽकियत्वतः ।
निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ॥ १६ ॥
दृष्टारश्चेत्कलपयन्तु किं मे स्यादन्यकलपनात् ।
गुज्जापुज्जादि दह्येत नान्यारोपितविह्नना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥ १७ ॥

यत् परमार्थसत् तदुपिदशिति—नेति । निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रे स्वाति-रिक्तप्रपञ्चोत्पित्तप्रलयादिकं कुतः संभवित ब्रह्म निष्प्रतियोगिकमविशिष्यते इत्यर्थः ॥ एवं दत्तात्रेयमुखतः परमार्थतत्त्वं स्वावशेषियावगम्य तद्नुज्ञ्या तिन्नष्ठो भूत्वा स्वाज्ञलोकानुकम्पया सर्ववेदान्तसिद्धान्तः प्रकटियतव्य इति स्वानुभवं स्वधन्यतां च प्रकाशयामासेत्याह—ऐहिकेति॥ तव कृतार्थत्वेन संसारानुवर्तने का हानिरित्यत्र— दुःखिन इति॥ तथापि यर्तिकचित् कर्म त्वया अनुष्ठेयं इत्यत्र—अनुतिष्ठन्तिवि॥ किं च—व्याचक्षतामिति॥ ११-१७॥

#### श्रदणादिविधानम्

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् । मन्यन्तां संशयापत्रा न मन्येऽहमसंशयः ॥ १८॥ विपर्यस्तो निदिध्यासे किं ध्यानमविपर्यये। देहात्मत्वविपयीसं न कदाचिद्धजाम्यहम् ॥ १९ ॥ अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् । विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥ २० ॥ आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते । कर्मक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्धचानसहस्रतः ॥ २१ ॥ विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्धचानमस्त ते। अबाधिकां व्यवहृतिं पर्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥ २२ ॥ विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम । विक्षेपो वा समाधिवी मनसः स्याद्विकारिणः ॥ २३ ॥ नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक । क्रतं क्रत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव नित्यशः ॥ २४ ॥ व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा । ममाकर्त्रलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥ २५ ॥ अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया । शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं मम का क्षतिः ॥ २६॥ देवार्चनस्नानशौचिभक्षादौ वर्ततां वपुः। तारं जपत् वाक्तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥ २७ ॥ विष्णुं ध्यायत् धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् । साक्ष्यहं किञ्चिद्प्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥ २८ ॥

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्यप्राप्ततया पुनः। तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥ २९ ॥ धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि । धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥ ३० ॥ धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य। धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं कापि ॥ ३१ ॥ धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित । धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥ ३२ ॥ धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेमें कोपमा भवेछोके । धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥ ३३ ॥ अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् । अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥ ३४ ॥ अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम्। अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरु: ॥ ३५ ॥

श्रवणाद्यकर्तव्यतामप्याह—शृण्विन्ति। कथं वर्तसे इस्पत्र—देवार्चनेति॥ किमिति—धन्योऽहमिति॥ पालियतं पलाियतमिति पक्षद्वयम्॥ स्वानुभवं प्रकटियत्वा साङ्कृतिभेगवतानुङ्गातो भगवन्तं हृदये कृत्वा यथासुखं विचचारेत्यर्थः॥ १८–३५॥

#### विद्यापठनानुसन्धानफलम्

य इदमधीते सोऽपि कृतकृत्यो भवति । सुरापानात्पूतो भवति । स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति । ब्रह्महत्यात्पूतो भवति ।

कृत्याकृत्यात्पूतो भवति । एवं विदित्वा स्वेच्छाचारपरो भूयात् । ओं सत्यम् । इत्युपनिषत् ॥ ३६ ॥

ग्रन्थतोऽर्थतश्चेतिद्विद्यापठनानुसन्धानफलमाह—य इति । यथावत् एवं विदित्वेति । लोकोन्मादनिरासकोऽयमस्य स्वेच्छाचारः तस्यापि प्राप्य-दृष्टायत्तत्वात् वस्तुतो न ह्यस्य प्रवृत्तिः निवृत्तिर्वास्ति ब्रह्मनिष्टस्य निष्प्रतियोगिक-ब्रह्ममात्रपर्यवसन्नत्वात् ब्रह्मवायमित्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः अवधूतोपनिषत्परि-समास्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्गस्योगिना । अवधूतोपनिषदो व्याख्यानं लिखितं लघु । अवधूतोपनिषदः पञ्चाशद्ग्रन्थसंयुता ॥

इति श्रीमदीशाच्छोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रश्चितरणे एकोनाशीतिसंख्या-पूरकमवधूतोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

# आरुण्युपनिषत्

## आप्यायन्तु—इति शान्तिः

#### पारिवाज्यलक्षणम्

आरुणिः प्राजापत्यः प्रजापतेलोंकं जगाम । तं गत्वोवाच । केन भगवन्कर्माण्यशेषतो विस्रजानीति । तं होवाच प्रजापतिः । तव पुत्रान्ध्रातृन्बन्ध्वादीञ्छिखां यज्ञोपवीतं यागं सूत्रं स्वाध्यायं च भूलोकभुवलोंकस्वलोंकमहलोंकजनोलोकतपोलोकसत्यलोकं च अतल-वितलसुतलपातालरसातलतलातलमहातलब्रह्माण्डं च विस्नेत् । दण्डमाच्छादनं कोपीनं च परिग्रहेत् शेषं विस्नेत् । इति ॥ १ ॥

> आरुणिकाख्योपनिषत्ख्यातसंन्यासिनोऽमलाः । यत्प्रबोधाद्यान्ति मुक्तिं तद्रामब्रह्म मे गतिः ॥

इह खल्वारुणिकोपनिषदः सामवेदप्रविभक्तत्वेन केनछान्दोग्ययोः विख्यातो-पोद्धातप्रकरणमत्रापि स्मर्तव्यम् । आरुणिप्रजापतिप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आरुणिः प्रजापति पारिबाज्यलक्षणं पृच्छतीत्याह—आरुणिरिति । अरुणस्यापत्यमारुणिः प्रजापतिशिष्यः प्राजापत्यः प्रजानां पालयितुः प्रजापतेर्लोकं जगाम गतवान् । तत्रापि तं प्रजापति गत्वा विनयेनोपसङ्गस्योवाच । किमिति—हे भगवन् प्रजापते केनोपायेन अहं सर्वकर्माण्यशेषतो विसृजानि निःशेषं त्यजेयं इत्यारुणिना पृष्टः प्रजापितः एवमुवाचेत्याह्—तिमिति । य एवं पृष्टः कर्माण्यशेषतो विसृजानीति तं प्रजापितहोंवाच किल । किमिति—तव पुत्रभ्रातृश्वशुरस्यालादिबन्धु-जनान् शिखां यद्घोपवीतं यागं तदुपलक्षितसर्वकर्म स्वसूत्रगोत्रादिकं स्वाध्यायं स्वशाखादिवेदांश्व भूलोकादिमहातलान्तलोकविशिष्टं ब्रह्माण्डं च स्वातिरिक्तिधिया विसृजेत् । चकारात स्वेन त्याजनीयपुत्रादिब्रह्माण्डान्तं स्वोपभोगतया अस्ति नास्तीति विश्रममिप संत्यजेदिति द्योत्यते । लोकोन्मादप्रवृत्तिनिरसनाय स्वोपभोगार्थं वा दण्डं आच्छादनं कौपीनं परिप्रहेत् । तदितरत् यद्यत् प्राह्यत्वेन मन्यते लोकः तच्छेषमशेषं विसृजेत् । आवृत्त्या यद्यत् त्यक्तं स्वातिरिक्तिधिया तत्तत् स्वप्नेऽपि न परिप्रहेत् इति द्योत्यते ॥ १ ॥

#### संन्यस्यमानस्य कर्तव्यानि

गृहस्थो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा अलौकिकाझीनुद्राझौ समारोपयेत् । गायत्रीं च स्ववाच्यझौ समारोपयेत् । उपवीतं भूमावप्सु वा विस्रजेत् । कुटीचको ब्रह्मचारी कुटुम्बं विस्रजेत् । पात्रं विस्रजेत् । पवित्रं विस्रजेत् । दण्डाँह्लोकाझीन् विस्रजेत् इति होवाच । अत उद्ध्वममन्त्रवदाचरेत् । उद्ध्वगमनं विस्रजेत् । औषधवदद्दान-माचरेत् । त्रिसंध्यां स्नानमाचरेत् । संधिं समाधावात्मन्याचरेत् । सर्वेषु वैदेष्वारणमावर्तयेदुपनिषद्मावर्तयेदुपनिषद्मावर्तयेत् । खल्वहं ब्रह्मसूत्रं, सूचनात् सूत्रं, ब्रह्मसूत्रमहमेवं विद्यात् । त्रिवृतसूत्रं त्यजेद्विद्वान्य एवं वेद ॥ २ ॥

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> ड १. ' औषधवदशनमाचरेत् ' इति नास्ति.

<sup>&</sup>lt;sup>2</sup> उ १. 'वेदेष्ट्यावरण-'

"कौपीनयुगळं कन्था दण्ड एक: परिग्रह:। यते: परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते॥"

इत्यादिश्रुतेः यदि परिव्रजनाधिकारी गृहस्थो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा भवतु तदा ते स्वस्वाश्रमोचिताछोिकिकाग्नीन् उदराग्नौ समारोपयेत् स्वस्वाग्निमात्म-समारोपणं कुर्यात्। ब्राह्मण्याधारां वेदमातरं गायत्रीं च स्ववाच्यग्नौ समारोपयेत्। चशब्दः ब्रह्मचर्याद्याश्रमे यावन्तो मन्त्रा गृहीताः तानिष त्यजेदिति विध्यर्थः। यज्ञोपवीतं "यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत्" इति मन्त्रेण भूमौ वा अप्सु वा विसृजेत्। यदि कश्चित् कुटीचको ब्रह्मचारी पारमहंस्याश्रममारोद्धिमच्छिति तदा कुदुम्बप्रदेशं विसृजेत्। पुरा परिगृहीतजल्पात्रपवित्रत्रिदण्डलोकाग्निरूदम्लाध्यवसायानिष विसृजेदिति होवाच प्रजापतिः। यदैवं सर्व परित्यजित तदा तत ऊर्ध्व मन्त्रः संकल्पः एवमेवं भवितव्यमिति। तद्विपरीतोऽमन्त्रवान् निःसंकल्पवता मनसा स्वाश्रमोचितकर्म आचरेत्। ऊर्ध्वगमनं मनोराज्यं विसृजेत्। त्रिसन्ध्यां प्रातर्मध्याह्मायाहेषु यथाशक्ति स्नानमाचरेत्। "जीवात्मपरमात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा सन्ध्या" इति,

" नोदकेर्जायते सन्ध्या न मन्त्रोचारणेन तु । सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं सा सन्ध्या सद्भिरीर्यते ॥"

इति च श्रुतिस्मृत्यनुरोधेन समाधावात्मन्यन्तः करणे प्रत्यक्परिचतोः सन्धिम्यमाचरेत् । न कदापि तयोर्भेदबुद्धं कुर्यात् । सर्वेषु वेदेषु विद्यमानमारणं सा-वित्रमावर्तयेत्। यद्दा तेनास्माकं किमिति? उपनिषद्मावर्तयेदुपनिषद्मावर्तयेदिति वीप्सया तदावर्तनं तदर्थविचारं विना क्षणमात्रमपि न स्थेयमिति द्योत्यते । सर्वोपनिषदर्थब्रह्मसूत्रमहमेव खलु ब्रह्म । सूत्रार्थं श्रुतिः स्वयमेवाह । सर्वेषु वेदेषु निष्प्रति-योगिकतया ब्रह्ममात्रस्यव सूचनात् यत् सूत्रं तदेव ब्रह्मसूत्रमहमेविति विद्याद्यप्वं वेद । स विद्वान त्रिवृत्सूत्रं यज्ञोपवीतं तदुपलक्षितप्रपञ्चजातं स्वातिरिक्तिधया संत्य-जेत् न पुनः स्मरेदित्यर्थः ॥ २ ॥

#### संन्यासमन्त्रलिङ्गविध्यादि

संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति त्रिरुक्तवा अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । सखा मा नोपायोजः सखा योऽसीन्द्र-स्य वज्रोऽसि वार्त्रघः शर्म मे भव यत्पापं तिन्नवारयेत्यनेन मन्त्रेण कृतं वैणवं दण्डं कौपीनं परिग्रहेत् । औषधवदशनमाचरेदौषधवदशनं प्राक्षीयाद्यथालाभमश्रीयात् । ब्रह्मचर्यमहिंसां चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन हे रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति ॥ ३ ॥

केन मन्त्रेण संन्यासः कर्तव्यः ? किं वा संन्यासिळङ्ग ? तदनुष्ठेयविधिर्वा कीदशः ? इत्याशङ्क्याह - संन्यस्तिमिति । यदि विद्वान् मुनिस्तदा नारदपरिव्राज-कोपनिषचतुर्थोपदेशोक्तरीत्या कुच्छ्रप्रायश्चित्ताष्टश्राद्भसप्तकेशविसर्जनपूर्वकक्षौरस्नान-गायत्र्यादिमन्त्रग्रामस्वज्ञाखोपसंहरणपुरुषसूक्तविरजाहोमाय्युपसंहारपूर्वकं नाभिदश्नो-दकमुपविश्य यद्यत् गायत्र्यादि स्वाधीतं तत्तत्सर्वे व्याह्वतिषु प्रवेशयित्वा ''अहं वृक्षस्य '', '' यश्छन्दसां '', इति मन्त्रोचारणपूर्वकं देवब्राह्मणसनिधौ स्वयमुत्तरां दिशमवलोक्यन् , देवब्राह्मणा यूयं शृण्वन्तु दारेषणायाश्च धनेषणायाश्च लोकेष-णायाश्च ब्युत्थितोऽहमस्मीति विज्ञाप्य ''ॐभू: संन्यस्तं मया '' इत्यादि प्रातिस्वि-केन व्याह्रतित्रयमुचार्याथ कृतस्त्रमपि संन्यस्तं मयेति चोचार्य मन्द्रमध्यमताडनध्वनिभिः एवं निर्भयः सन् त्रिवारोद्घोषणपूर्वकं ''अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्व प्रवर्तते स्वाहा '' इति मनुना जलं प्राश्य, ततः प्राच्यां दिशि पूर्णाञ्जलिं प्रक्षिण्य ''ॐ स्वाहा '' इत्यविशष्टकेशानुत्पाट्य ''यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत्'' इति मन्त्रेण यज्ञोपवीतं छित्वा ''ॐ भू: समुद्रं गच्छ स्वाहा '' इत्यप्सु जुहुयात् । ततः पुन: प्रैषं त्रिवार-मुचरेत् । यद्यत् स्वातिरिक्तत्वेनाभिमतं तत्तत्स्वं निष्प्रतियोगिक बहामात्रियया मया संन्यस्तं सम्यक् त्यक्तम् । आवृत्तिरादरार्था । एवं ब्रह्मादिस्तम्बान्तसर्वभूतेभ्योऽभयं मया दत्तं तथा सर्वभूतैरिप मह्यमिति प्रतिज्ञाय जातरूपधरः सन् शतपद्मुदीचीं दिशं गच्छेत् । ततो गृहस्थप्रार्थनया गुरुनिकटमागत्य तैर्दत्तकटिसूत्रकौपीनशाटिक-

मण्डलुदण्डादिकं तत्तन्मन्त्रोच्चारणपूर्वकं गृहीत्वा, अथ गुरोः सकाशात् प्रणव-महावाक्यादिकं स्वीकृत्य स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्यर्थः । " सखा मा गोपाय " इति दण्डप्रहणमन्त्रः । उत्तलक्षणलिक्षतोऽयं दण्डो वैराजरूपः । तदभेदेन यः स्वांशज-व्यष्टिजीवसखाजः इन्द्रस्य वात्रेघो वज्रोऽसि यतो मे स्वांशजत्वेन सखा असि । अतस्त्वं मा मां गोपाय पालयतु । अतस्त्वं मे शर्मकृत् भव त्वद्दर्शनात् पुरा यन्मया कृतं पापं तिन्नवारय इत्यनेन मन्त्रेण कृतं वैणवं दण्डं परिग्रहेत् । कौपीन-परिग्रहणं किटसूत्रकमण्डलुशाव्याद्युपलक्षणार्थम् । यथा यथा मेदोवृद्धिर्न जायते प्राणोऽपि देहं न त्यजित तथा तथा औषधवद्शनमाचरेत्, औषधवदेवाशनं प्राशी-यात् । स्वाशनस्य गृहस्थाधीनत्वेन यथालाभमश्रीयात् । बाह्यमान्तरं चेति द्विविधं बह्मचर्यादि । तत्राष्टाङ्गमेथुनवर्जितं बाह्यम् । ब्रह्ममावमनश्चारो ह्यान्तरब्रह्मचर्यम् । तथा हिंसां परस्वपीडाकरलक्षणां च, तथैवापरिग्रहं च प्राणसंधारणेतरापरिग्रहं बाह्यं ब्रह्मेव स्वमात्रमितिधिया स्वातिरिक्तसामान्यापरिग्रहमान्तरं च, तथा सत्यं च प्राणिमात्र-प्रियकरसत्यवचनं बाह्यं स्वयमेव सत्यं सन्मात्रमित्यान्तरं हे शिष्याः यूयं एतद्वाह्या-न्तरप्रविभक्तब्रह्मचर्याहिसापरिग्रहादिकं महता प्रयत्नेन रक्षत । आवृत्तिः अप्रमादेनैवा-चरणीयमित्यवधारणार्था । रक्षतेत्यथें रक्षतः इति प्रयोगस्तु छान्दसः ॥ ३ ॥

#### संन्यासिनां आसनादिनियमाः

अथातः परमहंसपरित्राजकानामासनशयनाभ्यां भूमौ ब्रह्म-चारिणाम् । मृत्पात्रं वा अलाबुपात्रं दारुपात्रं वा । कामकोधलोभ-मोहदम्भदपेंच्छासूयाममत्वाहंकारादीनिप त्यजेत् । वर्षासु ध्रुवशीलो-ऽष्टौ मासानेकाकी यतिश्चरेद् , द्वावेवाचरेत् द्वावेवाचरेत् । स खलु एवं यो विद्वान् सोपनयनादृर्ध्वमेतानि प्राग्वा त्यजेत् । पितरं पुत्र-मग्न्युपवीतं कर्म कलत्रं चान्यदपीह ॥ ४ ॥

तेषामासनशयनपात्रनियममाह—अथेति । अथ गुरूपदेशानन्तरं यतः संन्यासकाळे मृद्वासनखट्वादिकं परित्यक्तं अतः । परमहंसः परमात्माहमस्मि इति

दृढनिश्चयेन स्वातिरिक्तिधिया यद्यत् भातं तत्तत् सर्वे परित्यज्य ब्रह्ममात्रपदं ब्रजन्तीति परिव्राजकाः । तेषां परमहंसपरित्राजकानां ब्रह्मण्येव चरतां ब्रह्मभावमापन्नानां भूमावेव आसनं शयनं च आसनशयने ताभ्यामेव देहयात्रा संभवति, न मृद्वास्तरण-शय्याकाङ्क्षास्ति। "महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत्" इति, "शय्या भूतलमजिनं वासः '' इति च श्रुतेर्भाष्यकारोक्तेश्व । तेषामुदकाहरणार्थं कमण्डलुस्थानीयं मृत्पात्र-मलानुपात्रं दारुपात्रं वा भवति । तत्र मृत्पात्रासंभवे अलाब्वादिपात्रं वा प्राह्यं, न तु लोह्विकारमित्यर्थः । कदाचिदपि स्वोपस्करविषये यदि प्रसक्तेयं कामकोधादिवृत्तिः तन्निःशेषं संत्यनेदित्यर्थः । प्राणिहिंसानिवृत्त्यर्थं वर्षासु चातुर्मास्यनियमपुरस्सरं यतिः एकत्र स्वयोग्यप्रदेशे ध्रुवशील: स्थिरासनो भवेत्। शिष्टाष्टौ मास्येकाकी यतिश्चरेत्। यद्वा—"पक्षा वै चतुरो मासा इति द्वौ मासौ वा वसेत्" इति श्रुत्यनुरोधेन मासचतुष्टयनियमं विहाय यावाषाढश्रावणमासौ तौ द्वावेवाचरेदिति । आवृत्तिः अवधारणार्था । एकत्र मासचतुष्टयवसनात् तत्रत्यानां श्रमो भवेदिति दययेत्यर्थः । यो यद्येवं पारिब्राज्येयत्तां विद्वान् भवति तदा सोऽयमुपनयनादूर्ध्वं उपनयनात् प्राग्वा हस्तामलकाचार्यवज्ञातमात्रेण विदिततत्त्वश्चेत् संन्यसेत् । यदि गार्हस्थ्यदशायां संजातिवरागः संन्यस्तुमिच्छिति तदानीमेव पितरं पुत्रमम्युपवीतं कर्मार्थस्वीकृतः कलत्रं च, पुनरन्यदपि यद्यत् स्वबन्धहेतुत्वेन द्योत्यते तदपि संत्यजेत् संन्यसे-दित्यर्थः ॥ ४ ॥

#### भिक्षानियमा:

यतयो मिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्ति पाणिपात्रम् , उद्रपात्रं वा ॥५॥

तेषां भिक्षानियममाह—यतय इति । "यतयो भिक्षार्थमेव व्यङ्गारे भुक्त-वज्जने " इति श्रुतिसिद्धयथोक्तकाले श्रामं प्रविश्वान्ति, न तदितिरिक्तकाले । तैः पाणिपात्रं उदरपात्रं वा शारीरिस्थित्यर्थमङ्गीकृतम् । यावज्जीवं तेनैव कालं नयन्ति ॥ ९ ॥

#### भिक्षानिमित्तोपस्थानमन्त्रः

ओं हि ओं हि ओं हीत्येतदुपनिषदं विन्यसेत्। विद्वान्य एवं वेद ॥ ६ ॥ भिक्षानिमित्तोपस्थानमन्त्रमाह—ॐ हीति । ॐ हि ॐ हि ॐ हि इति मन्त्रेण सूर्यमण्डलस्थात्मानुसंधानं कुर्वन् अथ प्रामं प्रविशेदित्यर्थ: ।

> ''पाणिपात्रश्वरन् योगी नासकृद्धेक्षमाचरेत् । आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनि: । तदा सम: स्यात् सर्वेषु सोऽन्दृतत्वाय कल्पते ॥''

इति श्रुतेः । य एवमेतदुपनिषदं वेद यथाविद्वद्वान् विन्यसेत् विद्वत्संन्यासं कुर्यात् ॥ ६ ॥

#### विद्वत्संन्यासाधिकारः

पालाशं बैल्वमौदुम्बरं दण्डं मौझीं मेखलां यज्ञोपवीतं च त्यक्ता शूरो य एवं वेद ॥ ७ ॥

किं कृत्वा संन्यसेदित्यत आह— त्यक्त्वेति । ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो व। क्रमेण पालाशं वेल्वमीदुम्बरं दण्डं मौकीं मेखलां यज्ञोपवीतम् । चङ्गब्दः एतत् सर्व त्यक्त्वा विन्यसेदिति पूर्वेणान्वयः ॥ ७॥

#### उपसंहार:

तद्धिष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥ ८ ॥ तद्धिप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ इति ॥ ९ ॥

एवं निर्वाणानुशासनं वेदानुशासनं वेदानुशासनम् । इत्युपनिषत् ॥

य एवं वक्ष्यमाणं विष्णुपदं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति वेद सोऽयं स्वाति-रिक्ताविद्यापदतत्कार्यापहृवीकरणदक्षत्वेन शूरो भूत्वा तन्मात्रतया अवशिष्यते इत्युपसंहरति—तदिति । तदेतिनिर्विशेषं ब्रह्म स्वाज्ञदृष्टिविकल्पितस्वाविद्यापद-तत्कार्यप्रसक्ती तदारोपापवादाधिकरणतया विभातस्य विष्णोः व्यापनशीलस्य त्रिविधपरिच्छेदराून्यस्य स्वाधिष्ठेयाविद्यापदतत्कर्यापवादसापेक्षताधिकरणतासंभव-प्रबोधसिद्धत्वेन परमं निरधिकरणतया सर्वोत्कृष्टं नित्यसूरिभिः ब्रह्मविद्वरिष्टैः । स्वमात्रतया पद्यत इति पदं तिहिष्णोः परमं पद्म् । 'राहोः शिरः ' इतिवत् विष्णु-याथात्म्यं सूरयो ब्रह्मविद्वरीयांसः सदा निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति पश्यन्ति । पश्यन्तीतित्र्यपदेशात् विष्णुपदस्य दश्यत्वेन परिच्छिन्नता स्यादित्यत आह—दि-वीति। दिवि द्योतनात्मके ब्रह्मणीव चक्षुर्दृष्टिः दर्शनं तद्गोचरज्ञानमाततममपरिच्छिनं तद्विष्णुपदं निष्प्रतियोगिकपूर्णं स्वभेदेन सूरयः पश्यन्ति चेत् तत्परिच्छेद्यं भवितुमहिति । न हि तथा ते पश्यन्ति किं तु स्वयमेव विष्णुपदं पश्यन्तीत्यर्थः । किविशोषणविशिष्टाः सूरयः १ तद्दर्शनतस्तन्मात्रतय। विशिष्यन्त इत्यत आह—-तदिति । विप्रासः विप्राः ब्रह्मविद्वरिष्ठाः ब्राह्मणाः विपन्यवो विगतस्वातिरिक्ता-छाभप्रयुक्तमन्यवः, स्वातिरिक्तस्य स्वमात्रतया छब्धत्वात् । अत एव ते जागृवांसः स्वाज्ञाननिद्रावैरल्यात् नित्यं जागरूकाः । विष्णोर्यत् परमं पदं स्वमात्रतया पश्यन्ति तद्दर्शनसमकालं एते तन्मात्रावदोषतया तद्विष्णुपदं समिन्धते तन्मात्रतया अवशिष्यन्ते । इत्येवं निर्वाणस्य केवल्यस्य अनुशासनं वेदानु-शासनम् । वेदानुशासनमिति द्विरुक्तिरादरार्था । इत्युपनिषच्ळदावारुणिकोप-निषत्परिसमाह्यथीं ॥ ८-१० ॥

> श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्गसयोगिना । लिखितं स्याद्विवरणं स्फुटमारुणिकस्य हि । आरुणिकविवरणप्रन्थस्त्रिंशोत्तरं शतम् ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे षोडशसंख्यापूरकं आरुणिकोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

# कठरुद्रोपनिषत्

# सह नाववतु—इति शान्तिः

ब्रह्मविद्याध्ययनम्

<sup>1</sup>देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन् । अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्याम् । स प्रजापतिरब्रवीत् ॥ १ ॥

> पारिब्राज्यधर्मपूगाळङ्कारा यत्पदं ययुः । . तदहं कठविद्यार्थरामचन्द्रपदं भजे ॥

इह खल्ज कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्तेयं कठरुद्रोपनिषत् पारिब्राज्यधर्मप्रकटन-व्यप्रा ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । देवता-पटलप्रजापतिप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकामव-तारयति—देवा इति । देवकृतप्रश्लोत्तरं स प्रजापतिरब्रवीत् ॥ १ ॥

े अड्यार् पुस्तकशालायां मुद्रिते संन्यासोपनिषदकोशे अधोलिखितमधिकं प्रारम्भे दृश्यते :—ॐ। योऽनुक्रमेण संन्यसित स संन्यस्तो भवति । कोऽयं संन्यास उच्यते । कथं संन्यस्तो भवति । य आत्मानं क्रियाभिः सुगुप्तं करोति मातरं पितरं भार्यो पुत्रानसुहृदो बन्धूननुमोदियत्वा ये चास्यित्विज्ञस्तान्सर्वीश्च पूर्ववद्वृणीत्वा वैश्वानरीमिष्टिं कुर्यात् । सर्वस्वं द्यात् । यजमानस्याङ्गानृत्विजः सर्वैः पात्रैः समारोण्य यदाहवनीये गाईपत्येऽन्वाहार्यपचने सम्यावसथ्ययोश्च प्राणापानव्यानोदानसमानान्सर्वान् सर्वेषु समारोपयेत् । सशिखान्केशानिष्कृष्य, विस्रज्य यज्ञोपवीतं, निष्कम्य, पुत्रं दृष्ट्वा, त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं सर्वमित्यनुमन्तयेत् । यद्यपुत्रो

#### ब्रह्मविद्याङ्गसंन्यासनिरूपणम्

सिशालान् केशानिष्कृष्य, विसुज्य, यज्ञोपवीतं निष्कृष्य, ततः पुत्रं दृष्ट्वा, त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञान्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारस्त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं धाता त्वं विधाता । अथ पुत्रो वदति । अहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं वपट्कारोऽहमोंकारोऽहं स्वाहाहं स्वधाहं धाताहं विधाताहं त्वष्टाहं भितिष्ठास्मीति । तान्येतानि अजुत्रजन्नाश्रुमापातयेत् । यदश्रुमापातयेत्प्रजां विछिन्द्यात् । प्रदक्षिणमावृत्येतचेतच्चानवेक्षमाणः प्रत्यायिति । स स्वर्गो भवति ॥ २ ॥

किमिति । अत्र ब्रह्मविद्याङ्गतया संन्यासं निरूपयति — सशिखानिति । ब्रह्म वेदः यज्ञवषट्कारादिकं मयानुष्ठितमननुष्ठितं वा तच्छेषपूरणं त्वदधीनिमिति पित्रोक्तस्तथेत्याह — अथेति । भवता अधीतमनधीतं वा वेदादिकं तच्छेषपूरणं

भवत्यात्मानमेवं ध्यात्वानवेक्षमाणः प्राचीमुदीचीं वा दिशं प्रव्रजेत् । चतुर्षु वर्णेषु भैक्षचर्यं चरेत् । पाणिपात्रेणाशनं कुर्याद्योवधवत्प्राश्रीयाद्यथालाभमश्रीयात्प्राणसंधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिनं जायते । कृशीभूत्वा याम एकरात्रं, नगरे पत्ररात्रं, चतुरो मासान्वार्षिकान्त्रामे वा नगरे वापि वसेत् । विशीर्णं वस्तं वलकलं वा प्रतिगृद्धा नान्यत्प्रतिगृद्धीयात् । यद्यशक्तो भवति येन कृशसद्दः स तप्यते तप इति । यो वा एवं क्रमेण संन्यसित यो वा व्युत्तिष्ठति किमस्य यज्ञोपवीतं कास्य शिखा कथं चास्योपस्पर्शनमिति । तान्होवाच । इदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं यदात्मध्यानं, या विद्या सा शिखा, नीरैः सर्वत्रावस्थितैः कार्यं निर्वत्येन्नोदपात्रे । जलतीरे निकेतनं हि ब्रह्मवादिनो वदन्ति । अस्तमित आदित्ये कथं चास्योपस्पर्शनमिति । तान्होवाच ॥

यथाहिन तथा रात्रौ नास्य नक्तम् न वा दिवा । तद्य्येतदृषिणोक्तम् । सक्वदिवा है वास्मै भवति । य एवं विद्वानेतेनात्मानं संघत्ते संघत्ते ॥

देवा ह वै समेल्य प्रजापितमञ्जवन् । न विदामो न विदाम इति । सोऽन्नवीद्रिह्मिष्टेभ्यः । मे तद्वदतो ज्ञास्यथेति । ततो वै ते न्निह्मिष्टा न वदन्त इत्येतत्सर्वम् । देवानां सार्ष्टितां सालोक्यतां सायुज्यतां गच्छति य एवं वेद ॥

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> ड **१**. प्रत्यायन्ति.

अहं करोमीति पुत्रोक्तिमाकण्यं तं विसृज्य प्रव्रजनकान्ने तिद्वयोगजाश्रुपातं सन्तिनिविच्छेदकरं न कुर्यात् । ततः किं इत्यत्र —प्रदक्षिणिमिति । यः संन्यासादूर्ध्वं स्वाधिष्ठितग्रामं स्वजनं वा प्रदक्षिणीकृत्य पुनस्तमनवेश्चमाणः प्रव्रजति स स्वर्गो व्रह्मलोकं गतो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

#### संन्यासकमः

ब्रह्मचारी वेदमधीत्य वेदोक्ताचरितब्रह्मचर्यो दारानाहृत्य पुत्रानुत्पाच ताननुरूपोपाधिभिर्वितत्य, इष्ट्वा च राक्तितो यज्ञैस्तस्य संन्यासो गुरुभिरनुज्ञातस्य बान्धवैश्च । सोऽरण्यं परेत्य द्वादशरात्रं पयसाग्निहोत्रं जुहुयाद् द्वादशरात्रं पयोभक्षः स्यात् । द्वादशरात्र-स्यान्तेऽसये वैश्वानराय प्रजापतये च प्राजापत्यं चरुं, वैष्णवं त्रिकपाछं अग्निम् । संस्थितानि दारुपात्राण्यन्नौ जुहुयात् । मृन्मयान्यप्सु जुहुयात् । तैजसानि गुरवे दद्यात् । मा त्वं मामपहाय परागा नाहं त्वामपहाय परागामिति गाईपत्यदक्षिणाश्याहवनीयेषु, अरणिदेशा-द्भस्ममुष्टिं पिबेदित्येके । सिशखान् केशानिष्कृष्य विसुन्य यज्ञोपवीतं भूः स्वाहेत्यप्सु जुहुयात्। अत ऊर्घ्वमनशनमपां प्रवेशनमग्निप्रवेशनं वीराध्वानं महाप्रस्थानं वृद्धाश्रमं वा गच्छेत् । पयसायं प्रश्नीयात्सो-ऽस्य सायंहोमो यत्प्रातः सोऽयं प्रातः, यहर्शे तहर्शे यत्पौर्ण-मास्ये तत्पौर्णमास्यं, यद्वसन्ते केरारमश्रुलोमनखानि वापयेत्सो-Sस्याभिष्टोमः ॥ ३ ॥

ब्रह्मचर्याद्याश्रमाचारप्रकटनपूर्वकं क्रमसंन्यासमाह—ब्रह्मचारीति । ब्रह्मचर्यं समाप्याथ गुर्वनुज्ञयोद्वाह्याथ दारानाहृत्येति । तदनुरूपोपाधिभिः संयोज्याथ

इष्ट्वा चेति । अग्नये वैश्वानराय इति मन्त्रेण संस्थितानि दारुपात्राण्यभौ जुहुयात् । तत अनेन मन्त्रेण मा त्विमिति । एतज्ञाबालोपनिषदि व्याख्यातम् ॥ संन्यासानन्तरमुक्तलक्षणलक्षितमित्रश्लोमादिकं तन्मन्त्रं वा न पुनरावर्तयेदित्याह—पयसेति । इत्यग्निशोमलक्षणमुक्तम् ॥ ३ ॥

#### संन्यस्तस्य कर्तव्यानि

संन्यस्याप्तिं न पुनरावर्तयेत् । यन्मृत्युर्जीयमावहं इत्य-ध्यात्ममन्ताञ्जपेत् । स्वस्ति सर्वजीवेभ्य इत्युक्ता आत्मानमनन्यं ध्यायन् तदूर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवेदनिकेतश्चरेत् । भिक्षाशी यर्तिकचित्र दद्यात् । छैवेकं नाधावयेत् जन्तुसंरक्षणार्थं वर्षवर्जम् इति । तद्पि श्लोका भवन्ति ॥ ४ ॥

> कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानही । शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा ॥ ९ ॥ पित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च । यज्ञोवत्रीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥ ६ ॥ स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पृताभिराचरेत् । नदीप्रिलिनशायी स्यादेवागारेषु वा स्वपेत् ॥ ७ ॥ नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत् । स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥ ८ ॥

संन्यस्यामि न पुनरावर्तयेत् इत्यादि निन्दितो न शपेत् परान् इत्यन्तं कुण्डिकोपनिषदि प्रायशो व्याख्यातम् ॥ ४–८ ॥

### ब्रह्मचर्यलक्षणम्

ब्रह्मचर्येण संतिष्ठेदप्रमादेन मस्करी । दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम् ॥ ९ ॥ संकल्पोऽध्यवसायश्च कियानिवृतिरेव च । एतन्मेथुनमष्टाङ्कं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १० ॥ विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ।

ब्रह्मचर्येण सदा स्थेयं इत्याह—ब्रह्मचर्येणेति । किमिदं ब्रह्मचर्यम् इत्यत आह—दर्शनमिति । रागेण स्त्रीदर्शनमित्यादि ॥ ९-१० ॥

### ब्रह्मचर्यस्य फलम्

<sup>1</sup>यज्जगद्भासकं भानं नित्यं भाति स्वतः स्फुरत् ॥ ११ ॥ स एष जगतः साक्षी सर्वीत्मा विमलाकृतिः । प्रतिष्ठा सर्वभूतानां प्रज्ञानवनलक्षणः ॥ १२ ॥

ब्रह्मचर्यपरिष्कृतज्ञानफलात्मा कीद्दशः इत्यत आह—**यदि**ति ॥ प्रत्य-ग्रूपेण स एव जगतः साक्षी ॥ ११, १२॥

ब्रह्मभावापत्तेः ज्ञानायत्तता

न कर्मणा न प्रजया न चान्येनापि केनचित्। ब्रह्मवेदनमात्रेण ब्रह्मामोत्येव मानवः॥ १३॥

प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावापितः ज्ञानायत्ता नान्यायत्तेत्याह—न कर्मणेति ॥१३॥

¹ यज्जगद्भासकमित्यारभ्य आसमाप्ति अङ्यार् पुस्तकशालायां मुद्रिते कोशे न दृश्यते.

#### ब्रह्मज्ञानफलम्

तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखाद्वयम् । संसारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञिके ॥ १४ ॥ निहितं ब्रह्म यो वेद परमे व्योम्नि संज्ञिते । सोऽर्नुते सकलान् कामानक्रमेण द्विजोत्तमः ॥ १५ ॥ प्रत्यगातमानमज्ञानमायाशक्तेश्च साक्षिणम् । एकं ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मेव भवति स्वयम् ॥ १६ ॥ ब्रह्मभूतात्मनस्तसमादेतस्माच्छक्तिमिश्रितात् । अपञ्चीकृत आकाराः संभूतो रज्जुसर्पवत् ॥ १७ ॥ आकाशाद्वायुसंज्ञस्तु स्पर्शोऽपश्चीकृतः पुनः । वायोरिनस्तथा चाग्नेराप अद्भचो वसुन्धरा ॥ १८ ॥ तानि सर्वाणि सूक्ष्माणि पञ्चीकृत्येश्वरस्तदा । तेभ्य एव विसृष्टं तत् ब्रह्माण्डादि शिवेन ह ॥ १९ ॥ ब्रह्माण्डस्योदरे देवा दानवा यक्षकिन्नराः । मनुष्याः पशुपक्ष्याद्यास्तत्तत्कर्मानुसारतः ॥ २० ॥ अस्थिस्नाय्वादिरूपोऽयं शरीरं भाति देहिनाम् । योऽयमन्त्रमयो ह्यात्मा भाति सर्वशारीरिणः ॥ २१ ॥ ततः प्राणमयो ह्यातमा विभिन्नश्चान्तरस्थितः । ततो मनोमयो द्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः ॥ २२ ॥ ततो विज्ञान आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः। आनन्दमय आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः ॥ २३ ॥ योऽयमन्त्रमयः सोऽयं पूर्णः प्राणमयेन त । मनोमयेन प्राणोऽपि तथा पूर्णः स्वभावतः ॥ २४॥ ततो मनोमयो ह्यात्मा पूर्णी ज्ञानमयेन तु । आनन्देन सदा पूर्णः सदा ज्ञानमयः सुखी ॥ २५ ॥ तथानन्दमयश्चापि ब्रह्मणान्येन साक्षिणा । सर्वान्तरेण पूर्णश्च ब्रह्म नान्येन केनचित् ॥ २६ ॥ यदिदं ब्रह्मपुच्छारूयं प्रत्यज्ञानाद्वयात्मकम् । सारमेव रसं लब्ध्वा साक्षाद्देही सनातनम् ॥ २७ ॥ सुखी भवति सर्वत्र अन्यथा सुखिता कुतः। असत्यस्मिन् परानन्दे स्वात्मभूतेऽखिछात्मनाम् ॥ २८ ॥ को जीवति नरो जातु को वा नित्यं विचेष्टते। तस्मात सर्वातमना चित्ते भासमानो ह्यसौ नरः ॥ २९ ॥ आनन्दयति दु:खाढ्यं जीवात्मानं सदा जनः । यदा ह्येवैष एतिसमन्नदृश्यत्वादिलक्षणे ॥ ३०॥ निर्भेदं परमाद्वेतं विन्दते च महायतिः । तदेवाभयमित्यन्तं कल्याणं परमामृतम् ॥ ३१ ॥ सद्रपं परमं ब्रह्म त्रिपरिच्छेदवर्जितम् । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः ॥ ३२ ॥ विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः । अस्यैवानन्दकोशेन स्तम्बान्ता विष्णुपूर्वकाः ॥ ३३ ॥

भवन्ति सुखिनो नित्यं तारतम्यक्रमेण तु । तत्तत्पद्विरक्तस्य श्रोत्रियस्य प्रसादिनः ॥ ३४ ॥ स्वरूपमृत आनन्दः स्वयं भाति पदे यथा। निमित्तं किञ्चिदाशित्य खलुशब्दः प्रवर्तते ॥ ३५ ॥ यतो वाचो निवर्तन्ते निमित्तानामभावतः । निर्विशेषपरानन्दे कथं शब्दः प्रवर्तते ॥ ३६ ॥ तस्मादेतन्मनः सूक्ष्मं व्यावृत्तं सर्वगोचरम्। यस्माच्छोत्रत्वगक्ष्यादिखादिकर्मेन्द्रियाणि च ॥ ३७ ॥ व्यावृत्तानि परं प्राप्तुं न समर्थानि तानि तु । तद्वद्यानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्धनम् ॥ ३८ ॥ विदित्वा स्वात्मरूपेण न बिभेति कृतश्चन । एवं यस्तु विजानाति स्वगुरोरुपदेशतः ॥ ३९ ॥ स साध्वसाधुकर्मभ्यां सदा न तपति प्रभुः। तप्यतापकरूपेण विभातमसिलं जगत् ॥ ४० ॥ प्रत्यगात्मतया भाति ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात् ।

कीदृशं ब्रह्मेत्यत्र तिद्वचाविषयं ब्रह्म इत्यादिना आनन्दवल्ल्यर्थं स्पष्टी-करोति । "ब्रह्मविदामोति परम्" इति सूत्रवाक्यं "न कर्मणा" इति वाक्येन स्पष्टीकृतम् । तद्वृत्तिस्थानीय—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति वाक्यमिप "तद्विचाविषयं ब्रह्म" इति वाक्येन स्पष्टीकृत्य, "यो वेद निहितं गुहायाम्" इत्यादि संसारे च इति वाक्ये: स्पष्टीकरोति—संसार इत्यादिना ॥ "यज्ञगद्धा-सकं भानम्" इत्यादि "ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात्" इत्यन्तं आनन्दवल्लीव्याख्या-नेनैव व्याख्यातं स्यादिति मन्तव्यम् ॥ १९–४०॥ एकस्यैव निर्विशेषब्रह्मणः सप्तधा भेदः

शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च ॥ ४१ ॥
प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा ।
इति सप्तविषं प्रोक्तं भिद्यते व्यवहारतः ॥ ४२ ॥
मायोपाधिविनिर्भुक्तं शुद्धमित्यभिषीयते ।
मायासम्बन्धतश्चेशो जीवोऽविद्यावशस्तथा ॥ ४३ ॥
अन्तःकरणसम्बन्धात् प्रमातेत्यभिषीयते ।
तथा तद्वृत्तिसम्बन्धात् प्रमाणमिति कथ्यते ॥ ४४ ॥
अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेयमिति कथ्यते ।
तथा ज्ञातं च चैतन्यं फलमित्यभिषीयते ॥ ४५ ॥
सर्वोपाधिविनिर्भुक्तं स्वात्मानं भावयेतसुधीः ।

एकस्यैव निर्विशेषब्रह्मणः सप्तधा भेदः स्वाज्ञदृष्टिविकाल्पतः इत्याह— शुद्धमिति ॥ श्रुतिः स्वकृतसूक्तवाक्यं स्वयमेव विवृणोति—मायेति । स्वाति-रेकेण मायास्ति नास्तीति विश्वमासंभवप्रबोधसिद्धं शुद्धमित्यभिधीयते ॥ स्वाज्ञान-तानवतारतम्यानुरोधेन सर्वोपाधिविनिर्मुक्तम् ॥ ४१–४९ ॥

#### विद्याफलम्

एवं यो वेद तत्त्वेन ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४६ ॥ सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं विच्य यथार्थतः । स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवाविशिष्यते ॥ ४७ ॥ इत्युपनिषत् ॥

विद्याप्तलमाह—एविमिति । स मुनिर्ज्ञह्मभूयाय कल्पते ॥ सर्ववेदान्त-सिद्धान्तसारं प्रकटयन्नुपसंहरित— सर्वेति । किं तत् इत्यत आह—स्वयिमिति । स्वदेहादौ रूदमूलं स्वंभावमहंभावं मृत्वा मृतीः नीत्वा स्वात्मिनि विलाप्य तिद्देलापनाधिकरणं स्वयं भूत्वा अधिष्ठेयसापेक्षाधिकरणतापाये निष्प्रतियोगिकं निरिधकरणतया स्वयभेवाविद्याच्यते इत्यत्र—

> स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासतः । स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्भयमिक्रयम् ॥

इति ॥ इत्युपनिषच्छन्दः कठोपनिषत्समात्यर्थः ॥ ४६, ४७ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्रक्षयोगिना । लिखितं स्याद्विवरणं कठोपनिषदो लघु । कठोपनिषदो व्याख्या द्विषष्टिप्रन्थसंयुता ॥

इति श्रीमदीशायश्रोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे त्र्यशीतिसंख्यापूरकं कठोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

# कुण्डिकोपनिषत्

# आप्यायन्तु—इति शान्तिः

संन्यासपरिग्रहात्पूर्व कर्तव्यानां अनुक्रमणम्

<sup>1</sup>ब्रह्मचर्याश्रमेऽक्षीणे गुरुशुश्रूषणे रतः ।

वेदानधीत्यानुज्ञात उच्यते गुरुणाश्रमी ॥ १ ॥

दारमाहृत्य सदृशमिश्रमाधाय शक्तितः ।

ब्राह्मीमिष्टिं यजेत्तासामहोरात्रेण निर्वपेत् ॥ २ ॥

¹ अङ्यार् पुस्तकशालायां मुद्रिते संन्यासोपनिषदकोशे अधोनिर्दिष्टमिषकं दृश्यते:—
ॐ अथाहितामिर्मियेत प्रेतस्य मन्तैः संस्कारोपतिष्ठते । स्वस्थो वाश्रमपारं गच्छेयमित्येतान्पितृमेधिकानोषिधसंभारान्संमृत्यारण्ये गत्थामावास्यायां प्रातरेवामीनुपसमाधाय पितृभ्यः
श्राद्धतर्पणं कृत्वा ब्राह्मेष्टिं निर्वेषेत् ॥

स सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्यैषाहुतिर्दिव्या अमृतत्वाय कल्पते ॥

इत्येवम् । अत अर्ध्वम्

यद्रद्धाभ्युदयिद्वं च लोकिमिदममुं च सर्वम् । सर्वमिभजन्युः सर्विश्रियं दधतु सुमनस्यमाना ॥ ब्रह्म जज्ञानं [प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः । स कुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥] इति ।

ब्रह्मणेऽथर्वणे प्रजापतयेऽनुमतयेऽमये स्विष्टकृत इति हुत्वा,

संविभज्य सुतानर्थे ग्राम्यकामान्विस्रज्य च । संचरन्वनमार्गेण शुचौ देशे परिभ्रमन् ॥ ३ ॥ वाग्रुभक्षोऽम्बुभक्षो वा विहितैः कन्दमूलकैः । स्वशरीरे समाप्याथ पृथिन्यां नाश्रु पातयेत् ॥ ४ ॥

कुण्डिकोपनिषत्ख्यातपरिव्राजकसन्ततिः । यत्र विश्रान्तिमगमत्तद्रामपदमाश्रये ॥

इह खलु सामवेदप्रविभक्तेयं कुण्डिकोपनिषत् पारिब्राज्यधर्मप्रकटनव्यप्रा ब्रह्ममात्रविश्रान्ता विजयते । अस्याः स्वल्पप्रन्थतो विवरणमारभ्यते । आख्यायिकां विना श्रुतेरवान्तरत्या प्रवृत्तिर्विद्यास्तुत्यर्था । ब्रह्मचर्येति । सत्कुळप्रसूतो द्विजाति-ब्रह्मचर्याश्रमस्वीकरणार्थं स्वगुर्विभमतद्युश्रूषणे रतः सन् गुरुकुळवासं कृत्वाऽथ गुरुणोपनीतस्तन्सुखतोऽशेषवेदानधीत्य सर्ववेदार्थरहस्यमप्यवगम्य गुरोः प्रसादतः अक्षीणे अक्षये द्विविधब्रह्मचर्यास्पदब्रह्मचर्याश्रमे छब्धेऽपि सति । ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृहाद्वनी भूत्वा प्रवजेत् यितः श्रुत्यर्थमाननाय । अधीत्यानुज्ञात इत्यत्र

> यज्ञ यज्ञं गच्छ [यज्ञपतिं गच्छ । स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥ एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः । सुवीर्यः स्वाहा ॥]

इत्यमावरणी हुत्वा,

| ओ | चित्सखायं |  | [सख्या वन्नत्यां |           |      |       |    |
|---|-----------|--|------------------|-----------|------|-------|----|
|   |           |  |                  |           | •••• |       |    |
|   |           |  | f                | वेत्तं मे | अस्य | रोदसी | 11 |

इति चतुर्भिरनुवाकैराज्याहुतीर्जुहुयात् । तैरेवोपतिष्ठते । अथ मय्यये अप्तिं [गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन । मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥]

इति च द्वावमी समारोपयेत् । वतवान्स्यादतन्द्रित इति । तत्र श्लोकाः ।

छान्दसत्वादकारस्तः पाठोऽपि वर्तते अधीत्यनुज्ञात इति । उत्तराश्रमस्वीकरणार्थं गुरुणा अनुज्ञातः सन् अयमाश्रमी ब्रह्मचारी स्वसदृशं स्वकुळानुरूपं दारमाहृत्योद्वाद्य तया साकं गाईस्थ्योचितधर्मानुष्ठानं कुर्वनुषित्वा वानप्रस्थाश्रमं जिगमिष्ठः शक्तितो धेर्यतोऽग्निमाधाय वानप्रस्थाश्रमाङ्गत्वेन तासां ब्रह्मादिदेवतान्।
सन्तुष्ट्यर्थं ब्राह्मीं ब्रह्मदेवताकामिष्टिं यजेत्। कत्यहानि कर्तव्येयमिष्टिः इत्यत्र
तासामहोरात्रेण निर्वपेत् । ततः स्वार्जितार्थं पित्रार्जितार्थं वा गोधनात्मके यथायोगं
संविभज्य तवेदमस्तु तवेदमस्तु इति सुतान् प्रति दत्त्वा, निःशेषीकृतपरिकरो,
ग्राम्यकामान् विसृज्य, शुचौ देशे संचरन् वनमार्गेण, वन्याश्रमोक्तिविधना
वायुमक्षोऽम्बुमक्षो वा परिश्रमन् तदाश्रमं समापयेत्। यदि वाय्वादिमक्षणातृप्तस्तदा
विहितैः निर्दृष्टैः कन्दम्लैरपकैः पक्षेर्वा शरीरयात्रां कुर्यात् । एवं स्वशरीरमात्रे
सर्वसंसारं समाप्याथ पूर्वानुभूतस्वपरिकरं स्मृत्वा पृथिव्यामश्रुपातं न कुर्यादित्यर्थः ॥ १–४॥

#### विदारस्यैव संन्यासाधिकारः

सह तेनैव पुरुषः कथं संन्यस्त उच्यते ।
सनामधेयो यस्मिस्तु कथं संन्यस्त उच्यते ॥ ९ ॥
तस्मात्फलविशुद्धाङ्गी संन्यासं संहितात्मनाम् ।
अग्निवर्णं विनिष्कम्य वानप्रस्थं प्रपद्यते ॥ ६ ॥
लोकवद्भार्यया सक्तो वनं गच्छति संयतः ।

संन्यासस्य ऋमप्राप्ततया विदारः सदारो वा संन्यसेदित्यत आह— सहेति । विदारेण संन्यासः कर्तव्यः खलु, संन्यासस्य दाराधेषणात्यागपूर्वकत्वात् । तथा सित तेनैव दारेण साकं पुरुषो वनी कथं संन्यस्तो भवेदित्युच्यते । यिसमस्तु सदारे सित सदारो वनीति नामधेयेन सहितः सनामधेयो भवति । स कथं संन्यस्तो भवतीत्युच्यते ॥ यस्मात् सदारस्य न संन्यासाधिकारः तस्मात् सम्यक्

स्विहितात्मनां संहितात्मनां वानप्रस्थधर्माणां ईश्वराराधनिधयानुष्ठितानां फळिवि-शुद्धाङ्गी स्वकृतधर्मफलार्पणसन्तुष्टेश्वरप्रसादासादितिवशुद्धिचत्तो विदारो मुनिः सर्वकर्मसंन्यासं कुर्यात् । तादशचित्तशुद्धयमावे ब्रह्मचर्यतः चित्तशुद्धिहेतुश्रौत-स्मार्तधर्मानुष्ठानार्धमिग्नवर्णे गार्हस्थ्यं प्रपद्य वानप्रस्थाश्रमारोहणचित्तशुद्धिविन-प्रस्थाश्रमं पारिबाज्यानुकूळिचित्तशुद्धिप्रापकं प्रपद्यते ॥ प्राम्यसुखेच्छाभावेऽिप औपासनादिधर्मानुष्ठानार्थं संयतकरणग्रामो मुनिः लोकवत् भार्यया सक्त इव वनं गच्छतीत्पर्थः ॥ ५, ६ ॥

#### जन्मनिवृत्त्यर्थं संन्यासपरिग्रहः

संत्यक्तवा संस्रतिसुखमनुतिष्ठति किं मुघा ॥ ७ ॥ किं वा दुःखमनुस्मृत्य भोगांस्त्यज्ञित चोच्छितान् । गर्भवासभयाद्भीतः शीतोष्णाभ्यां तथैव च । गुहां प्रवेष्टुमिच्छामि परं पदमनामयम् ॥ ८ ॥ इति ॥

किमर्थ संसारदुःखं विहाय वनी भवतीत्याशङ्क्य जन्मादिभिया सर्व त्यक्त्वा वनी भिक्षुर्वा भवतीत्याह—संत्यक्त्वेति । विपुलं संसारभवसुखं संत्यज्य मुधा वनाद्वनमटित दारपुत्रादियोगजसुखदे संसारे ॥ किं दुःखमनुस्मृत्य सर्वोच्छित्रान् स्वक्चन्दनादिभोगांस्त्यजतीति प्राप्ते सांसारिकदुःखपरम्पराहेतुत्वेन बितगृहिन्वन्याश्रमोचितबाह्यान्तःसंसारत्याग एव श्रेयानिति मनिस विधाय 'हे जाये त्वया मे यत् कर्तव्यं तत्सर्वे कृतं, पुत्रनिकटमेत्य तपश्चरन्ती ब्रह्मलोकं बज, इदानीमहं शोतोष्णादिबहुदुःखास्पदगर्भवासभयात् भीतः सन् यत्परमपदसाधनं गुह्यं निर्विशेषब्रह्मनिष्ठानुकूळसंन्यासं प्रवेष्टुमिच्छामि' इति जायामाश्वास्य प्रेषित्वा विदारो यथावत् संन्यासं कृतवानित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

<sup>&#</sup>x27; उ १ उज्झृतान् .

### संन्यस्तस्य न श्रोतस्मार्ताभिसेवनम्

# संन्यस्याग्निमपुनरावर्तनम् ॥ ९ ॥

कृतेऽपि संन्यासे मुक्तिहेतवे इतोऽधिकिचित्तशुद्धर्यर्थे वा श्रोतस्मार्ताग्निसेवनं कर्तव्यनिर्विशेषब्रह्मज्ञानजनकचित्तशुद्धेः निष्कामबुद्धयानुष्ट्रेयसत्कर्मनिमित्तादग्निसेवनं कार्यमिति तत्राह—संन्यस्येति । नह्युत्तीर्णसिरित्पारो नौकां शिरसा वहित यथा तथा संप्राप्तसत्त्वशुद्धेः संन्यासिनः कृतकृत्यस्य न हि कर्मानुष्टानापेक्षाऽस्ति तस्य निरिग्नित्वात् । यत एवमतः संन्यस्य पुनः श्रोतं स्मार्तं वाग्निं कदापि न सेवेत । एवमग्निसेवाभावेऽपि यथोक्तकाले वचसा मनसा वापि प्रधानमन्त्रस्य कृतस्त्रस्य वा न कदाप्यावर्तनमाम्नेडनं स्मरणं वा कुर्यात् ॥ ९ ॥

#### अभिसेवने प्रत्यवायः

# यन्मन्युर्जीयमावहम् इति ॥ १० ॥

एवं कृते का हानिः इत्यत्राह—यदिति । योऽहं वर्णाश्रमव्यवस्थापक-श्रुतिगणः सोऽहं मृत्युर्भूत्वा परिब्राट्धर्मविरस्टस्य ते पूर्वसिद्धमपि जायं जायमानं वा परापरविषयकबह्मज्ञानमावहं प्रविद्येयं, मृत्युः प्रमादः तदस्मरणं इत्यंभूतमृत्यु-प्रस्तं ज्ञानमाभासज्ञानमज्ञानं वा भवेदित्यर्थः । यद्यत्स्वातिरिक्ततया त्यक्तं तत् कटाप्यस्ति नास्तीति वा निष्ट स्मेरेदित्यर्थः ॥ १०॥

# चित्तशुद्धवर्थं प्रणवादिमहावाक्यानां आवर्तनम् अथाध्यात्ममन्त्राञ्जपेत् ॥ ११ ॥

उत्पन्नचित्तशुद्धेः प्रयोजनाभावात् कर्म मास्तु । यद्यचित्तशुद्धः संन्यस्यिति तदा तचित्तशुद्धये कर्म विना किं ते अस्तीत्याशङ्कय तस्यापि न कर्मास्ति, ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि प्रेषादिमन्त्रपूर्वकं सर्वकर्मणां त्यक्तत्वात् । यद्यशुद्धचित्तस्तदा स्वाश्रमानुष्टानमविहाय स्वचित्तशुद्धये प्रणवमहावाक्यजातमावर्तयेदित्याह—अथेति ।

अथ विविदिषासंन्यासानन्तरमध्यात्ममन्त्वान् प्रणवमहावाक्यानि ईशाद्यष्टोत्तर-शतोपनिषदो वा स्वचित्तशुद्धये जपेत् ॥ ११ ॥

#### दीक्षानियमाः

दीक्षामुपेयात् । काषायवासाः । कक्षोपस्थलोमानि वर्जयेत् । <sup>1</sup>ऊर्घ्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवति । अनिकेतश्चरेत् । भिक्षाशी निद्ध्या-सनं दृघ्यात् । पवित्रं धारयेज्जन्तुसंरक्षणार्थम् ॥ १२ ॥ तदपि श्लोका भवन्ति। कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ । शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा ॥ १३ ॥ पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च। अतोऽतिरिक्तं यत्किञ्चित्सर्वे तद्वर्जयेद्यतिः ॥ १४ ॥ नदीपुलिनशायी स्यादेवागारेषु बाह्यतः । नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत् ॥ १५ ॥ स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः प्रताभिराचरेत । स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥ १६ ॥ भिक्षादि वैदलं पात्रं स्नानद्रव्यमवारितम्। एवं वृत्तिमुपासीनो यतेन्द्रियो जपेत्सदा ॥ १७ ॥ <sup>2</sup>विश्वायमनुसंयोगं मनसा भावयेत् सुधीः ॥ १८ ॥

¹ उ, १. ऊर्ध्वगो बाहु:.

<sup>&</sup>lt;sup>2</sup> उ **१**, विश्वायं,

आदेहपातं द्विविधन्नसचर्यदीक्षामुपेयान् । तनियमस्तु काषायवस्त्रधारणं, कक्षोपस्थलोमवर्जनपूर्वकं क्षौरं, संन्यासानन्तरं ऊर्ध्वबाहुः प्राचीमुदीचीं वा दिशं प्रव्रजेत् । व्याविद्धपूर्वाचरितसंसारमार्गो भवति । यदि श्रवणध्यानानधिकारी तदा ''अष्टौ मास्येकाकी यतिश्चरेत् '' इति श्रुत्यनुरोधेनानिकेतश्चरेत् । एकान्नत्यागपूर्वकं माधूकरादिवृत्त्या भिक्षाशी । यदि श्रवणाद्यधिकारी तदा अवाधकसत्सेवितपुण्यस्थले वसन् संश्यादिपञ्चदोषशान्यन्तं सर्ववेदान्तश्रवणमननं निदिध्यासनं च कुर्वन् , तत्फळीभूतार्थे सर्वापह्नवसिद्धं बहा निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति दध्यात् ध्यायेत् , जन्तुसंरक्षणार्थम ''सर्व खल्विदं ब्रह्मव्यतिरिक्तं न किचिदस्ति'' इति श्रुत्यनुरोधेन सर्वात्मभावनासिद्धये पवित्रं परिशुद्धं निर्विशेषज्ञानं धारयेत् ॥ ''पवित्रं ज्ञानमुच्यते'' इति श्रुतेः। ब्राह्मणेन योऽर्थोऽभिहितः तमेतमर्थं मन्त्रा अप्यनुवदन्तीत्याह—तद्पीति ॥ परै: स्त्यमान: । कुण्डिकां कमण्डलुं चमसं नारिकेळिकपालार्ध त्रिविष्टपं त्रेलोक्यं मन्त्रौषधमहिम्ना तत्संचारक्षमावुपानहौ पादत्राणनकरौ ॥ उत्तरासङ्गं वेदान्तविचारासिकः ॥ भिक्षाद्याधारतया वैद्छं पत्रप्रथितपर्णपात्रं अवारितमावस्यकं स्नानद्रव्यं मृत्तिका । अयं धर्मः कुटीचका-दीनां सम: । कुटीचकस्य तु चमसोपानहपवित्रभिक्षापात्राणि विशेष: ॥ कुण्डिकां इत्यादिमन्त्रे: यतीनां या वृत्तिरभिहिता तां वृत्तिं यतेन्द्रियो भूत्वोपासीनः सदा अध्यात्ममन्त्रान् जपेत् । ततः यद्विश्वारोपापवादाधिकरणं विश्वायं विश्वायतनं तद्येन मीयते स मनु: प्रणवः तयोः परापरब्रह्मणोः संयोगमैक्यं मनसा प्रणवार्थ ब्रह्माहमस्मि इति सदा भावयेत् ॥ १२--१८॥

विश्वाधिष्ठानात् पञ्चभूतानां भेदः

आकाशाद्वायुर्वायोज्योतिज्योतिष आपोऽद्भचः पृथिवी । - एतेषां भूतानां ब्रह्म प्रपद्येऽजरममरमक्षरं प्रपद्ये ॥ १९ ॥

यद्विश्वाधिष्ठानं ततः पञ्चभूतानि भिद्यन्त इत्यत आह—आकाश इति । तत्सकाशादाकाशः । आकाशादिपञ्चभूतानां ब्रह्मकार्यत्वेन कार्यकारणयोरेकत्वात्

एतेषां भूतानां यदारोपापवादाधिष्ठानं तत् ब्रह्मेति प्रपद्ये । अधिष्ठेयसापेक्षतोऽ-धिष्ठानमपि जीर्यन्म्रियत इत्यत आह—अजरममरमक्षरं प्रपद्य इति । अधिष्ठेयस्याकाद्यादेः स्वाज्ञानविकल्पितत्वेन कारणतुल्यत्वादधिष्ठेयापाये निर-धिष्ठानत्वात् तत् कदापि न हि जीर्यते, नापि म्रियत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

#### यतेः स्त्रानुभवप्रकटनम्

मध्यखण्डसुखाम्मोधौ बहुधा विश्ववीचयः । उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविश्रमात् ॥ २० ॥ न मे देहेन संबन्धो मेधेनेव विहायसः । अतः कुतो मे तद्धर्मा नाग्रतस्वप्रसुषुप्तिषु ॥ २१ ॥ आकाशवत्कलपविदूरगोऽहमादित्यबद्धास्यविलक्षणोऽहम् । अहार्यवित्रत्यविनिश्चलोऽहमम्मोधिवत्पारविवर्जितोऽहम् ॥२२॥ नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीश्वरः । अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः ॥

विश्वायमनुसंयोगध्याता यतिः स्वानुभवं प्रकटयति—मयीति । ममाकाशवत् कल्पनास्पृष्टत्वात् ॥ मेरोः केनापि हर्तुभशक्यत्वात् मेरुवदचलोऽस्मीत्यर्थः॥ एवं नित्यानुसंधानतो विविकलपं मनो भवति तेन कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः॥

योगाभ्यासेन ब्रह्मसाक्षात्कारः

तद्भ्यासेन प्राणापानौ संयम्य । वृषणापानयोर्मध्ये पाणी आस्थाय संश्रयेत् । संद्रय रानकैर्जिह्वां यवमात्रविनिर्गताम् ॥ २४ ॥ माषमात्रीं तथा दृष्टिं श्रोत्रे स्थाप्य तथा मुवि। श्रवणे नासिके गन्धायतत्वं न च संश्रयेत् ॥ २५ ॥ अथ रौवं पदं यत्र तद्भद्या ब्रह्म तत्परम्। तदभ्यासेन लभ्येत पूर्वजन्मार्जितात्मना ॥ २६ ॥

यधेवं ज्ञानं नोदेति तदा योगाभ्यासेन प्राणापानेक्यं कृत्वा षण्मुखीकरणेन कुण्डल्युद्धोधनं कृत्वा तया ग्रन्थित्रयात्मकषडाधारं मित्वा सहस्रारे ब्रह्मसाक्षात्कारं कुर्यादित्याह—तद्म्यासेनेति । योगाभ्यासेन प्राणापानसंयमनपूर्वकं कुण्डलिन्या सुषुम्नां भेदयेत् इत्यत्र वक्ष्यमाणमन्त्रा भवन्तीत्याह—वृषणेति । वृषणापानमध्यं करद्वयेन संपीड्य ॥ जिह्वाबन्धनपूर्वकं माषमात्रलक्ष्यानुसन्धानपूर्वकं दृष्टिं श्रोत्राकाशे - भुवि पदद्वये च संस्थाप्य । श्रवणनासिकागन्धग्रहणं पञ्चज्ञानेन्द्रियतद्विषयपञ्चकोपलक्षणार्थं । श्रवणादिपञ्चन्द्रियाणां शब्दादिपञ्चविषयायतनत्वं न च संश्रयेत् इन्द्रियेन्द्रियार्थसंबन्धं मनःसंकल्पसंबन्धं च न कुर्यादित्यर्थः । एवं कृते प्राणापानेक्यं भवति ॥ ततः कुण्डलिनी सुषुम्नां भित्त्वा अथ सहस्नारचकं प्रविश्य लीयते । तया साकं दृष्ट्यनःप्राणाग्नयोऽपि शैवपदं यत्र विराजते तत्रेव लीयन्ते । तल्लुयाधिकरणं ब्रह्मेव तल्लुयसापेक्षाधिकरणतापाये तदेव निष्प्रतियोगिकनिर्विशेषं परं ब्रह्मोत्यर्थः । एवमभ्यासः सफ्लो भवतीत्याह—तद्भ्यासेनेति । योऽयं ज्ञानयोगोऽभिहितः पूर्वजन्मन्यार्जितः अभ्यस्त आत्मा स्वरूपं यस्य तेन पूर्वजन्मार्जितात्मना तद्भ्यासेन योगिपटल्लभावनानुरूपं परापरे ब्रह्मणि लभ्येत ॥ तत्र निर्विशेषज्ञानिस्वात्त्वज्ञानसमकाल्मेव ब्रह्मेव भवतीत्युक्तम् ॥ २४–२६ ॥

सविशेषज्ञानिनः क्रममुक्तिः

संभूतैर्वायुसंश्रान्य हृद्यं तप उच्यते । ऊर्ध्व प्रपद्यते देहाद्भित्त्वा मूर्घानमन्ययम् ॥ २० ॥

# स्वदेहस्य तु मूर्घानं ये प्राप्य परमां गतिम्। भूयस्ते न निवर्तन्ते परापरविदो जनाः ॥ २८ ॥

अथ सिवशेषज्ञानिनः क्रममुितमाचेष्टे—संभूतेरिति । सम्यक् भवन्तीति संभूतानि बाह्यान्तःकरणानि । तेः साकं यत्सविशेषज्ञानाग्निना तप्यते दीप्यते प्रकाशते इति तप इत्युच्यते । हृदयं प्रविश्य तत्रत्यवायुं प्राणवायुं संश्राव्य ब्रह्मरन्ध्रभेदनसमर्थमिति श्रुत्वा तं प्राणमवष्टम्य सुषुम्नाद्वारेण देहादूर्ध्व मूर्धानं भित्त्वा यदपरं ब्रह्माव्ययं तदेव प्रपद्यते ।। तत् प्राप्य पुनः निवर्तन्त इत्यत्र— "स्वदेहस्य तु मूर्धानं ये प्राप्य परमां गतिम् भजन्ति । भूयस्ते न निवर्तन्ते परापरिवदो जनाः" ।। इति शबछब्रह्मोपासकाः सुषुम्नामार्गण ब्रह्मरन्ध्रं भित्त्वा सूर्यद्वारेण ब्रह्मछोकं प्रविश्य तत्र निर्विशेषब्रह्मान्वेषणं कुर्वन्तो यावदाभूतसंप्रवं तत्रोषित्वाथ वासनाक्षयतो ब्रह्मणा सह कैवल्यमेत्य कदापि न हि पुनरावर्तन्त इत्यर्थः ॥ २७, २८ ॥

#### निर्विशेषत्रहाज्ञानिनां मोक्षः

न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशिन्त विलक्षणम् । अविकारमुदासीनं गृहीधर्माः प्रदीपवत् ॥ २९ ॥ जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः । नाहं विलिप्ये तद्धमैर्घटधर्मेनेमो यथा ॥ ३० ॥ निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः । निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्धयः ॥३१॥ सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः । केवलाखण्डबोधोऽहं स्वानन्दोऽहं निरन्तरः ॥ ३२ ॥ स्वमेव सर्वतः परयन्मन्यमानः स्वमद्वयम् । स्वानन्दमनुमुङ्जानो निर्विकलपो भवाम्यहम् ॥ ३३ ॥ गच्छंस्तिष्ठनुपविशञ्ख्यानो वान्यथापि वा । यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिः ॥ ३४ ॥ इत्युपनिषत् ॥

केचनात्रैव निर्विशेषं ब्रह्म विदित्वा कृतकृत्या भवन्ति इत्यत्र आभासतोऽपि यद्यस्ति स्वातिरिक्तकलना तदा तत्साक्षिणो भूत्वा मुक्ता भवन्तीत्याह—न साक्षिणमिति । स्वदेहतद्न्यत्रात्मात्मीयाभिमतिमुत्सुज्यानवरतब्रह्मानुसंघानपरिक्षीणस्वातिरिक्तभ्रमो मुनिः प्रवृत्तिनिवृत्तिपराङ्मुखो भूत्वा कृतकृत्यो विदेहमुक्तो भवेदित्यर्थः ॥ इत्युपनिषच्छ्ब्दः कुण्डिकोपनिषत्परिसमाध्यर्थः ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रिशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना । कुण्डिकोपनिषद्वयाख्या छिखिता स्वात्मबोधिनी । कुण्डिकोपनिषद्वयाख्याग्रन्थजातं रातं स्मृतम् ॥

इति श्रीमदीशाच्छोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे चतुस्सप्ततिसंख्यापूरकं कुण्डिकोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

# जाबालोपनिषत्

# पूर्णमदः - इति शान्तिः

अविमुक्तोपासनम्

बृहस्पितिरुवाच याज्ञवल्क्यम् । यद्नु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । तस्माद्यत्र कचन गच्छिति तदेव मन्येतेति । इदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति । तस्माद्विमुक्तमेव निषेवेताविमुक्तं न विमुञ्चेत् । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य एवमेवैतद्भगवन् इति वै याज्ञवल्क्येति ॥ १ ॥

जाबालोपनिषत्ख्यातसंन्यासज्ञानगोचरम् । वस्तुतस्त्रैपदं ब्रह्म स्वमात्रमविशाष्यते ॥

ग्रुक्रयजुर्वेदान्तर्गतजाबालशाखायां कर्मादिकाण्डत्रयं विद्यते । तत्र सकामिनां कर्मकाण्डानुष्टानतः चन्द्रलोकाप्तिः । निष्कामिनां कर्मोपासनाकाण्डसमुचयानुष्टानतो

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> ड१. मन्यते.

<sup>&</sup>lt;sup>2</sup> उ. 'इति ' इत्यस्य स्था**ने 'तदविमुक्तमेव** ' इति दश्यते.

ब्रह्मलोकाप्तिः । काण्डद्रयार्थविरक्तानां ब्रह्ममात्राप्तिहेतुशतरुद्रीयजपसर्वकर्मसंन्यास-साधनसम्पन्नानां ब्रह्ममात्राप्तिसाधनभूतेयं ज्ञानकाण्डात्मिका जाबाळोपनिषदारब्धा । तस्यास्तावदलपग्रन्थतो विवरणमारभ्यते । आख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । मिथिलोपवनप्रान्ते वादेन ब्राह्मणान् जित्वा स्वात्तपरब्रह्मविद्यया जनकं बोधयित्वा स्विशिष्यगणेन सह याज्ञवल्क्यः पुनः मिथिलोपवने किंचित्कालमासांचके । यः सर्वज्ञकल्पस्तं याज्ञवलक्यं अविमुक्तेयत्तां जिज्ञासुर्बृहरूपतिरुवाच सर्वक्षेत्रादपि यद्नु प्रसिद्धम् । कुत्सितं पापकर्म रौतीति कुरुः । तस्य क्षेपणपूर्वकं स्वगतजनत्राण-नात् कुरुक्षेत्रम् । यद्वा--कुः पृथिवी, तस्यां रौति शब्दं करोतीति कुरुः प्राण-स्तदावासहेतुरारीरं कुरुक्षेत्रं तत्रत्यदेवतानामिन्द्रियाणां प्रवृत्तिनिमित्तदेवस्य प्रत्यिक्च-द्भातोर्यजनं <sup>1</sup>पूजाकरणम् । अत्र हीन्द्रियाणि स्वोचितविषयोपहारैरात्मानं यजन्ति सर्वेषां भूतानामिन्द्रियाधिष्टातॄणां वा ब्रह्मसद्नं ब्रह्माप्तिस्थानम् । यथा देवयजन-साधनं कुरुक्षेत्रं तथा विशेषणद्वयविशिष्टमान्तरं कुरुक्षेत्रमिति बृहस्पतिप्रश्नानुरोधं मुनिराह — अविमुक्तमिति । यत्खरूपं स्वाविद्याकामकर्मविमुक्तं तद्विमुक्तं ब्रह्म यत्रोपलभ्यते तदेव<sup>2</sup> भूमध्यगताज्ञाचक्रं कुरुक्षेत्रम् । देवानामित्याद्यक्तार्थम् । यस्मादेवं तस्माद्यत्र कचन गङ्गाप्रयागादिस्थले तद्विपरीते वा गच्छति तदेवाविमुक्तमिति मन्येत जानीयात् । इति अनेन प्रकारेण । इदं वै मया प्राप्तमेव ब्रह्म । कुरुक्षेत्रमित्याचुक्तार्थम् । क्षेत्रसामान्यस्य क्षेत्रज्ञविकल्पितत्वात् तदितरेकेण न किंचिदस्तीत्पर्थः । अत्राविमुक्तरूपे कुरुक्षेत्रे ब्रह्मेति विज्ञाते तद्विज्ञानानुरोधेन जन्तोः प्राणिमात्रस्य प्राणेषूत्कममाणेषु । स्वाज्ञानरुजं द्रावयति नाशयतीति रुद्रः परमेश्वर: संसारतारकं ब्रह्म सचिदानन्दलक्षणं व्याचष्टे कथयति । येन ''तत्त्व-मिस'', ''अहं ब्रह्मास्मि '' इत्युपदेशेन असौ जीवोऽमृतीभूत्वा स्वातिरिक्तस्रमतो मोक्षीभवति स्वांतिरिक्तापह्नवसिद्धनिष्प्रतियोगिक ब्रह्ममात्रतयाविशिष्यते । यस्मा-देवं तस्मात् ब्रह्ममात्रज्ञानोत्पत्तेः प्रागविमुक्तं भ्रूमध्यगतज्योतिर्छिङ्गमेव निषेवेत ज्योतिर्हिङ्गभस्मि इत्यनुसंधानं कुर्यात् ।

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> उ१. पूजाकारण**म्** .

<sup>&</sup>lt;sup>2</sup> ड. 'तदेव' नास्ति.

# " ज्योतिर्हिङ्गं भुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत् सदा यति: "

इति श्रुतेः । यावद्गह्ममात्रज्ञानं नोदेति तावदविमुक्तं <sup>1</sup>प्रत्यञ्चमात्मानमीश्वरं वा न विमुञ्जेत् । याज्ञवल्क्येनैवमुक्तो बृहस्पतिस्तदुक्तमङ्गीचकारेत्याह— एवमेवेति ॥१॥

इति प्रथम: खण्ड:

#### अविमुक्तस्वरूपजिज्ञासा

अथ हैनमितः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । य एषोऽनन्तोऽन्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽन्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति ॥ १ ॥

कथं पुनः अविमुक्तात्मोपासितुं शक्यस्तस्याव्यक्तत्वादित्यविमुक्तयाथात्म्यबु-मुत्सया याज्ञवल्क्यमित्रः पप्रच्छेत्याह—अथेति। अथ ह बृहस्पतिप्रश्ननिर्णयानन्तरं किलैनं याज्ञवल्क्यं ब्रह्मपुत्रोऽत्रिः पप्रच्छ। किमिति। यस्तारकब्रह्मेत्युक्त एषोऽनन्तः परिच्छेदत्रयविरलोऽन्यक्त आत्मा तमुक्तलक्षणमात्मानं कथमहं विज्ञानीयामव-गच्छेयं इति। अत्रिप्रश्लोत्तरं स होवाच याज्ञवल्क्यः बृहस्पतिं प्रति। तारकत्वेन य उक्तः सोऽविमुक्तः प्रत्यगभेदेनोपास्यः। तत्र हेतुः भवता पृष्टो य एषोऽनन्तोऽ-च्यक्त आत्मा व्याख्यातम्। सोऽविमुक्ते सोपाधिकेश्वरे प्रतिष्ठित इति तस्य निरावृतत्वात् तस्मित्रव्यक्तोऽनन्तात्मोपलभ्यते ॥ १ ॥

#### अविमुक्तोपलब्धिसाधनम्

सोऽविमुक्तः किस्मिन्प्रतिष्ठित इति । वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नासीति ।

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> उ. प्रपञ्चम्.

सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन वरणा भवति । सर्वा-निन्द्रियकृतान् पापान् नाशयतीति तेन नासी भवतीति । कतमचास्य स्थानं भवतीति । भ्रुवोर्घाणस्य च यः संधिः स एष द्यौर्छोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति । एतद्वै संधिं संध्यां ब्रह्मविद उपासत इति । सोऽविमुक्त उपास्य इति । सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे यो वै तदेवं वेदेति ॥ २ ॥

तदुपलब्धिस्थानं पुच्छति सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति । सोऽयमीश्वरः कुत्र संनिहितः इति पृष्टः उत्तरमाह—वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । वरणानास्योर्भञ्ये प्रतिष्ठित इत्यर्थः । वरणानासीप्रदेशौ श्रुतिर्व्या-करिष्यतीति न व्याख्यातम् । वरणानासीस्वरूपं पृच्छति का वै वरणा का च नासीति । तत्र वरणाशब्दार्थं व्युत्पादयति—सर्वानिति । सर्वान् ज्ञान-कर्मेन्द्रियकृतान् दोषान् वारयति निवारयतीति । तेन वरणा भवतीति । सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान् पापानि नाशयतीति । तेन नासी नाशी भवति । सकारः शकारार्थः । वरणाया नास्याश्च मध्ये प्रतिष्ठित इत्युक्त्या नासाभूसन्धिः प्रतीयते । तथापि तत्प्रदेशं प्रच्छति -- कतमज्ञास्य स्थानं भवतीति । अस्या-विमुक्तस्येत्यर्थः । सर्वत्रेतिशब्दः प्रश्नपरिसमात्यर्थः । भ्रुवोर्घाणस्य च यः प्रसिद्धः सन्धिः स एष प्रसिद्धः ब्रह्मकपाळस्थानीयचुळोकस्य चुबुकावसानस्था-नीयस्य च परस्य च भूलोकस्यापि सन्धिभवति । लोकद्वयसमुचयार्थश्वकारः । एतद्वे एतमेव । स संधीयते अस्मिन्नविमुक्तमिति सन्धिः स्वात्मा । तं सन्धि स्वात्मानं संध्यां भ्रूघाणसन्धौ ब्रह्मविद् उपासते तत्रत्यज्योतिर्हिङ्गध्यानपरा भवन्ति । सोऽविमुक्त उपास्यः इति व्याख्यातम् तज्ज्ञानपत्रमाह—यो वा इति। यो वै विद्वान् अविमुक्तयाथातम्यं वेद तद्भतहेयांशमपोह्य निर्विशेषातमानं जानाति

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> ड. 'तेन' नास्ति.

स विद्वान् सोऽविमुक्तन्तत्साक्षात्कारहेतुं ज्ञानमाच्छे स्वयमीश्वरभावमेत्य स्वभक्त-पटळचरमद्शायां तारकज्ञानोपदेशं करोति । स्वयं निर्विशेषब्रह्मेव भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥ इति द्वितीयः खण्डः

#### अविमुक्तज्ञानोपाय:

अथ हैनं ब्रह्मचारिण उचुः । किंजप्येनामृतत्वं ब्र्हीति । स होनाच याज्ञवल्क्यः । शतरुद्रीयेणेति । एतान्येव ह ना अमृतस्य नामधेयानि । एतेई ना अमृतो भवतीति ॥ १ ॥

अविमुत्तयाथात्म्यज्ञानोपायं ब्रह्मचारिणः पृच्छन्तीत्याह—अथेति । अथ अत्रिप्रश्ननिर्णयानन्तरं ह किल एनं याज्ञवल्क्यं तिच्छण्या ब्रह्मचारिण ऊचुः । किंजप्येनामृतत्वं केन जप्येनामृतत्वसाधनज्ञानं जायते तद्बृहि भगविनिति । तैः पृष्टः स होवाच याज्ञवल्क्यः । किमिति । केवल्यादिपञ्चरुदेण रुद्राध्यायेन वेति अमृतत्वसाधनज्ञानं जायते ततोऽमृतत्विमित्येतानि शतरद्राभिधानं।नि अमृतस्वरूपरुद्रनामधेयानि भवन्ति । एतैः शतरुद्रीयजपैः चित्तरुद्रिप्राप्यज्ञानद्वारा शतरुद्रजापी मुनिरमृतो भवति । इतिशब्दः खण्डसमाम्यर्थः ॥ १ ॥

इति तृतीय: खण्ड:

## सर्वकर्मसंन्यायज्ञानजिज्ञासा

अथ जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच । भगवन्संन्यासमनुब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्यं <sup>1</sup> <sub>उ. परिसमाप्य</sub>. समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रत्नजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रत्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरत्रती वा त्रती वा स्नातको वास्नातको वा उत्सन्नाभिरमभिको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रत्नजेत्॥ १॥

सर्वकर्मसंन्यासज्ञानबुभुत्सया जनको मुनि पृच्छतीत्याख्यायिकामवतारयति— अथेति । अथ ब्रह्मचारिप्रश्नानन्तरं नामतो जनको ह वैदेहो विदेहराजो याज्ञवल्क्यमुप समीपमेत्योवाच । किमिति । हे भगवन सर्वकर्मसंन्यासमनु-ब्रहीत्युक्तः स होवाच याज्ञवल्कयः । किमिति । अविरक्तदृष्टिमाश्रित्याश्रम-व्यवस्थामाह— ब्रह्मचर्थिमिति । विद्याग्रहणनिमित्तब्रह्मचर्ये तेनैव कालं नयेत् यद्यविरक्तस्तदा तत्समाप्य गृही भवेत्। तत्र यावच्छक्ति निष्कामबुद्ध्या सत्कर्मानुष्टानं कुर्वन् कालं नयेत् तत्र विरक्तिश्चेत्तदा गृहाद्वनी साम्निनिरम्निर्वा भूत्वा तत्रैव कालं नयेत् । यद्यखंबुद्धिस्तदा प्रव्रजेत् चतुर्थाश्रमं गच्छेत् । एवं क्रमेण संन्यासः कर्तव्यो न विपर्यये इत्यत आह—यदि वेति। यदि वेति पक्षान्तरे विकल्पः तीव्रतरवैराग्यं जायते तदाधीतवेदान्तो विद्वान् प्राथमिकब्रह्मचर्याश्रमादेव प्रव्रजेत् पारमहंस्याश्रमं गच्छेत् । ब्रह्मचर्यसमात्यनन्तरं कुटीचकादिक्रमेण पारिब्राज्यं प्राह्ममिति चेन्न तत्क्रमस्य मन्दविरागिविषयत्वात् , वैराग्यसाकल्ये पारमहंस्यमेव स्वीकर्त् शक्यमित्पर्थः । यदि गृहस्थाश्रमे विरतिर्जायते तदा गृहाद्वा प्रवजेत् वनाद्वा । प्रव्रजनस्य वैराग्यनिमित्तत्वात् न क्रमाकाङ्क्षास्तीत्यर्थः । यदा विरक्तिर्जायते तदाश्रमत्रयान्तराळेऽपि न्यासो युज्यत इत्याह । अथेति वैराग्या-नन्तर्यार्थः । वनस्थदीक्षासमाप्ताविप कुतिश्वित्रिमित्तात् संन्यासो न छभ्यते तदानी तदवस्थिति: द्विधा भवति जपो ध्यानं चेति । तदेव हि तद्व्रतम् । तदस्यास्तीति वती । न वती अव्रती वा, यद्वा व्रती वा, अधीतसाङ्गस्वाध्यायी स्नातकः, यरिंकचिद्वेदाध्याय्यस्नातको वा, गृहस्थोऽपि द्वेघा नाश्रमी भवति एकस्वीकृताग्निः कळत्रमरणादुत्सन्नामिः, कळत्रे सत्यपि कश्चित् निरम्निः असंस्कृतत्वात् , येनामिनी गृहीत: सोऽयमनिमको वा विरक्तिर्जाता चेत् परिव्रजेदिति सर्वत्रानुषज्यते । किं बहुना । नात्र कालकृतनियमोऽस्तीत्याह—यदिति । यस्मिन्नेवाहिन विरजेत् वैराग्यं प्राप्नुयात् तस्मिन्नेव अहिन प्रव्रजेत् संन्यसेत् ॥ १॥

#### आहितामिसंन्यासविधिः

तद्भैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । तदु तथा न कुर्यात् । आग्नेयीमेव कुर्यात् । अग्निर्हि वै प्राणः । प्राणमेवैतया करोति । त्रेषातवीयामेव कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति ।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोच्थाः । तं जानन्नम्न आरोहाथा नो वर्धया रियम् ॥ इत्यनेन मन्त्रेणामिमाजिन्नेत् । <sup>1</sup>एष ह वा अम्नेर्योनिर्यः प्राणः । प्राणं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ॥ २ ॥

यदा आहिताग्निः संन्यस्यति तदा तस्येष्टिविशेषमाह—तदिति । तद्धैके के-चनाचार्याः प्रजापतिदेवताकां प्राजाप्रत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति तदु । तेषामुक्तमिप न कुर्यात् । किं कर्तव्यमित्यत्र अग्निदेवताकामाग्नेयीमिष्टिमेव कुर्यात् । तत्रेयमुपपत्तिः । अग्निर्हि प्राणः । अग्नेर्देवप्रधानत्वेन सूत्ररूपत्वात् यस्मादेवं तस्मादेतया आग्नेय्येष्ट्या प्राणमेव करोति ततस्त्रैधातवीयामेवेन्द्रदेवताकामेवेष्टिं याज्ञिकप्रसिद्धां कुर्यात् । तत्रोपपत्तिः । एतयैवेष्ट्या त्रयो धातवो यदुताग्नेयं रूपत्रयं सत्त्वं शुक्तं रजो रोहितं तमः कृष्णम् । इतिशब्दो वाक्यसमान्यर्थः । पुरोक्तरीत्या यथाशास्त्रमिष्टिं कृत्वा अनेन मन्त्रेण अग्न्यात्राणं कुर्यादित्याह—अयमिति । हे अग्ने अयं प्राणस्ते तव योनिः मुख्यप्राणस्य विराडगोनित्वात् ऋत्वियः संवत्सरात्मनो ऋत्ववय-वित्वाद्यतः सूत्राज्जातः सन्नरोचथाः दीप्तिं कृतवानसि यस्तव कारणं तमात्मानं जानन्नारोह स्वकारणीभूतप्राणमात्रो भवेत्यर्थः । अथ स्वकारणप्रवेशानन्तरं

¹ उ, 'एष वा?.

नोऽस्माकं रियं स्वात्मज्ञानधनमभिवर्धय । मन्त्रसमाप्तावितिशब्दः । अनेन मन्त्रेणाग्निमाजिबेत् । मन्त्रार्थं श्रुतिरनुवदित । एष वा अग्नेयोनियः प्राण इति । स्पष्टम् । प्राणं स्वकारणं गच्छ । स्वाहाशब्दः कार्यकारणैकत्वद्योतकः । एवमेव मन्त्रोऽप्याह हि ॥ २ ॥

#### निरमिकसंन्यासविधिः

ग्रामादिशमाहत्य पूर्ववदिशमाद्रापयेत् । यदिशं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः । सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात्साज्यं हिवरनामयम् । मोक्षमन्त-स्त्रय्येवं विन्देत् । <sup>2</sup>तद्वस्य तदुपासितव्यम् । एवमेवैतद्भगविति वै याज्ञवल्क्य ॥ ३ ॥

इदानीं निरिप्तकानां संन्यासिविधिमाह—ग्रामादिति । ग्रामे श्रोत्रियागा-रादिप्रमाहृत्य पूर्वविदिष्टित्यितिरिक्तविरजाहोममन्त्रपुरुषसूक्ताभ्यां पूर्णांहुत्यन्तं हुत्वा "अयं ते" इति मन्त्रेण संन्यासाध्वर्युरिप्तमाद्यापयेत् । पक्षान्तरं यदिप्तं न विन्देदप्सु जुहुयात् । तत्रोपपित्तः आपो वे सर्वा देवताः । ओंकारप्रभवेभ्यः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहा इत्यनेन मन्त्रेण हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयम् । हुतशेषमत्रं निरामयहेतुत्वात् तदानीं यज्ञप्यं तदुच्यते स्वाज्ञानमोक्षहेतुमन्त्रः प्रणवस्तस्य त्रयीक्तपत्वात् । एवं विन्देत् यत् प्रणवार्थरूपं तदस्मीति विद्यात् । यत्सत्यज्ञानादिलक्षणं तद्भक्ष प्रणवार्थत्वेन्नोपासितव्यम् । एवं याज्ञवल्क्योक्तं जनकोऽङ्गीचकार । किमिति । एवमेवैत-द्भगवित्रिति वे याज्ञवल्क्योति । एष इति पाठे संन्यासः ॥ ३ ॥

इति चतुर्थ: खण्ड:

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> उ. वदेत् .

<sup>&</sup>lt;sup>2</sup> ड. एतद्रह्म एतदुपासितन्यम्.

#### त्राह्मणस्य संन्यासेऽधिकारः

अथ हैनमित्रः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । प्रच्छामि त्वा याज्ञ-वल्क्यायज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । इदमेवास्य यज्ञोपवीतं य आत्मा अपः प्राज्ञ्याचम्य । अयं विधिः प्रव्राजिनाम् ॥ १॥

जनकेन यत् प्रष्टव्यं तदनुज्ञया अत्रिः पप्रच्छेत्याह श्रुतिः—अथेति । अथ ह जनकप्रश्नानन्तरं एनं याज्ञवल्क्यं जनकचोदितोऽत्रिः पप्रच्छ । किमिति । हे याज्ञवल्क्य त्वा त्वां पृच्छामि क्रियाङ्गयज्ञोपवीती ब्राह्मणः इति छोकप्रसिद्धिः । अयं तु अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणो भवतीति पृष्टः स होवाच याज्ञवल्क्यः । इदं ब्रह्मज्ञानमेवास्य संन्यासिनो यज्ञोपवीतं यज्ञरूपविष्णुप्रापकत्वात् यः स्वयंप्रकाज्ञातमा सोऽहमस्मीति निश्चित्य । अपः प्राज्ञ्य इत्यनेन संन्यासिविधिरुक्तः । तत् कथं प्रैषानन्तरं ''समुद्रं गच्छ स्वाहा'' इत्यनेन मन्त्रेण जले शिखायज्ञोप-वीतप्रक्षेपणपूर्वकं त्रिराचम्य । अयं विधिः परित्राज्ञिनाम् ॥ १ ॥

### संन्यासेऽनिधकृतानां कर्तव्यनिरूपणम्

वीराध्वाने वानाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा । अथ परिवाड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही <sup>2</sup> मैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति । यद्यातुरः स्थान्मनसा वाचा संन्यसेत् । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति संन्यासी ब्रह्मविदिति । एवमेवैष भगवित्तिति वै याज्ञवल्क्य ॥ २ ॥

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> उ. परिवाजकानाम.

<sup>&</sup>lt;sup>2</sup> उ. मैक्षाणो.

क्षत्रियादेः पारित्राज्यानिधकारादाश्रमश्रष्टानामसाध्यिचिकित्सामयानां श्रवणा
यसमर्थानां वा वक्ष्यमाणोऽयं विधिर्युज्यत इत्याह—वीरेति । संप्रामानिवर्तिवीराणां

योऽध्वा तिस्मन् वीराध्वाने वा, न विद्यते अञ्चानं यस्य तदनाञ्चकं तिस्मन्ननाञ्चके

वा गङ्गाद्यपां प्रवेशे वा जाज्वल्यमानाग्निप्रवेशे वा यावच्छरीरपातगमने महाप्रस्थाने

वा तनुं त्यजेदिति पञ्चप्रकारेऽपि योज्यम् । यद्ययं श्रवणाधिकारी तदा शुक्केतरकाषाय
वासाः सिशाखकेशश्मश्रुराहित्यान्मुण्डः। न विद्यते देहमात्रधारणातिरिक्तपरिश्रहो

यस्य सोऽयं अपरिश्रहः। बाह्याभ्यन्तरशौचतः श्रुच्चः मनोवाक्कायकर्मिभः

प्राणिमात्राद्रोही प्राणसंधारणार्थं भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मसाक्षात्काराय भवति ।

पक्षान्तरं चोरव्याव्ररोगाद्यमिभूतस्य संन्यासाङ्गकर्म कर्तुमशक्यत्वात् । सोऽयं

वक्तं शक्तश्चेत् मनोयुक्तवाचा प्रयोज्ञारणपूर्वकं संन्यसेत् । यदि तत्राप्यशक्तस्तदा

मनसेव वा संन्यसेत् संकल्पयेत् । एष ज्ञानहेतुपन्था ब्रह्मणाधिकारिणा हानुवित्तो

छब्धः तेनोक्तेन पथा ब्रह्मवित्पथा संन्यासी स्वात्त्वोधानुरूपं ब्रह्मैति यदि

निर्विशेषज्ञानी तदा विदेहकेवल्यमेतीति मुनिनोक्तमत्रिरङ्गीचकार एवमेवैष

भगवित्रति व याज्ञवल्करोति ॥ २ ॥

इति पश्चमः खण्डः

## पारमहंस्यपूगस्य सर्वोत्कृष्टता

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्चेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघ-जडभरतद्तात्रेयरैवतकप्रभृतयोऽन्यक्तलिङ्गा अन्यकाचारा अनुनमत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः ॥ १॥

इदानीं याज्ञवल्क्यो मुनिः श्रोतृश्रद्धाभिवृद्धये तैरपृष्टोऽपि पारमहंस्यधर्मपूगस्य महद्भिराश्रितत्वेन सर्वोत्कृष्टतां प्रकटयति—तत्रेति । तत्र कुटीचकादिषु श्रुत्युक्तेषु तुर्याश्रमतुर्यभेदानुष्टायिनः परमहंसा नाम वक्ष्यमाणाः प्रसिद्धा हि । के ते इत्यत्र संवर्तकादिरैत्रतकप्रभृतयः नवसंख्याकाः श्रुतिपिठताः अव्यक्तिष्डद्भाद्या-चरन्त इत्यन्तं संवर्तकादीनां विशेषणम् । व्रतिकामिवनिष्ठिङ्गानि येषां न सन्ति ते अव्यक्तिख्द्भाः । यदाचारो छोकैर्न दृश्यते ते अव्यक्ताचाराः । अनुन्मत्ताः उन्मादहेतुमोहवैरळ्यादुन्मत्तवदाचरन्तः ब्रह्माकारपिरणतिचित्तत्वात् परबोधिताः यत्तिचित् कुर्वन्त इव दृश्यन्ते तत्करणमपि छोकोन्मादनिवृत्तिकरमेव भवति ।

> '' पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम् । आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्भवदुत्थिताः ॥ ''

इति श्रुतेः ॥ १ ॥

#### साम्बरपरमहंसलक्षणम्

त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोप-वीतं चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विज्छेत् ॥ २ ॥

पूर्व केवलपारमहंस्यमुक्तम् । इदानीं कुटीचकादिलिङ्गपरित्यागपूर्वकं पारमहंस्यं प्रकटयित— त्रिदण्डमिति । वेणवदण्डत्रयं मृद्दावलाव्वादिकमण्डलुं मोङ्ग्यादि-रचितं शिक्यं भिक्षाधारपात्रं दार्वादिविकारं वितस्तिमात्रं जलपवित्रं शिखां यंज्ञोपवीतम् । चकारः सर्वधर्मपरित्यागसमुच्चयार्थः । पञ्चमुद्रागायत्र्यादि-कमेतत्सर्वं "भूः स्वाहा" इत्यनेन मन्त्रेण अप्सु परित्यज्य देशिकमुपसृत्य वेदान्तश्रवणादिभिरात्मानमन्विच्छेत् ॥ २॥

#### दिगम्बरपरमहंसलक्षणम्

यथाजातरूपधरो निर्द्धन्द्वो <sup>1</sup>निष्परिग्रहः <sup>2</sup>तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंघारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुद्रपात्रेण<sup>3</sup> लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागारदेवगृह-

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> उ. निर्मन्थ:.

<sup>&</sup>lt;sup>2</sup> उ. तत्तद्रह्म.

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> उ. लाभालाभयोः समः.

तृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकुहर -कन्दरकोटरिर्निझरस्थण्डिलेब्बनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्रध्यान-परायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम । इत्युपनिषत् ॥ ३ ॥

साम्बरपरमहंसळक्षणमुक्तवा दिगम्बरपरमहंसळक्षणमाह - यथेति । यथा-जातरूपधरः दिगम्बरः निर्द्धन्द्वः शीतोष्णादिसमधीः। देहधारणोपयोगी कौपीन।च्छादनभिक्षाश्रयणसाधनपरिग्रहेतरपरिग्रहराून्यो निष्परिग्रहः। तत्त्वं वास्तवं निज्यतियोगिकब्रह्ममात्रं तत्प्रापकमार्गस्तज्ज्ञानं तस्मिन् तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः तिन्नष्ठ इत्यर्थः । तत्रोपायमाह—ग्रुद्धमानस इति । निस्सङ्कल्पत्वात् प्राणसंधारण-मात्रं विधूमाद्युपलक्षितयथोक्तकाले स्वाज्ञानतत्कार्यविमुक्तो यथानुरूपमुदरपात्रेण भैक्षमाचरन् मुखऱ्यादानं कुर्वन् भिक्षादिलाभालाभौ समौ भूत्वा हर्षविषादाव-कुर्वन् कालं नयेदित्यर्थः । इदानीं तिन्वासस्थलान्याह—शून्यागारेत्यादिना । जनशून्यागारं विष्णवादिदेवतागृहं, कुतश्चिन्निमित्तसंजाततृणकूटं, पिपीलिकादि-कृतवल्मीकं, वटाश्वत्थादिवृक्षमूलमामपात्रनिक्षेपकुलालशालात्रिपञ्चामिहोत्रशाला, महानदीतीरपुलिनं, गिरिरहवेण्वादिनिविडदेशो गिरिकुहरं, गिरिगुहास्थलं कन्दरं, वृक्षान्तस्सुषिरं कोटरं, उदकस्रावप्रदेशो निर्झरः, विशुद्धभूप्रदेशः स्थण्डिलं, निरावरणं शून्यागारादिस्थण्डिलान्तम्। तेषु यथासंभवं अनिकेतवासी नानाविधोप-करणे प्रयत्नः स्वातिरिक्तवस्तुषु निर्ममः शुक्रतेजो ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति पर्यवसन्नः शुक्रुरुध्यानपरायणः । ''शुक्रतेजोमयं ब्रह्म '' इति श्रुतेः । आत्ममात्र-मधिकृत्य भवतीत्यध्यातमं तन्मात्रज्ञानं तिन्नष्टः शुभाशुभस्थानीयनिष्कामसकाम-कर्मसामान्यनिर्मूळनपरः । किं बहुना । स्वातिरिक्तसामान्यंसंन्यासेन सह संन्यस्यास्मीति यस्तदेहाभिमतित्यागं करोति सोऽयं विद्वान् परमहंसः प्रत्यक्परविभागसहः प्रमात्मा नाम निश्चितम् । **इत्युपनिपच्छ**ब्दौ शास्त्रपरिस-माप्त्यर्थी ॥ ३ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्वसयोगिना । लिखितं स्याद्विवरणं जाबालोपनिषत्स्फुटम् । जाबालोपनिषद्ध्याख्या दशोनद्विशतं स्मृता ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे त्रयोदशसंख्यापूरकं जाबालोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

# तुरीयातीतावधूतोपनिषत्

### पूर्णमदः - इति शान्तिः

तुरीयातीतावधूतचर्या, निष्ठा च

अथ तुरीयातीतावधूतानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति सर्वछोकपितामहो भगवन्तं पितरमादिनारायणं परिसमेत्योवाच । तमाह भगवात्तारायणः । योऽयमवधूतमार्गस्थो छोके दुर्छभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतः स एव वैराग्यमूर्तिः स एव ज्ञानाकारः स एव वेदपुरुष इति ज्ञानिनो मन्यन्ते । महापुरुषो यस्तचित्तं मय्येवावतिष्ठते । अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः । सोऽयमादौ तावत्क्रमेण कुटीचको बहूद्कत्वं प्राप्य, बहूद्को हंसत्वमवछम्ब्य, हंसः परमहंसो भूत्वा, स्वरूपानुसंधानेन सर्वप्रभन्नं विदित्वा, दण्डकमण्डछुकटिसूत्रकौपीनाच्छादनस्वविध्युक्तिक्रयादिकं सर्वमप्सु संन्यस्य, दिगम्बरो भूत्वा, विवर्णजीर्णवल्कछाजिनपरिग्रहमपि संत्यज्य, तदूर्ध्वममन्त्ववदाचरन्, क्षौराभ्यङ्गस्नानोध्वपुण्डादिकं विहाय, विदिक्छोकिकमप्युपसंहत्य, सर्वत्र पुण्यापुण्यविवर्जितः, ज्ञानाज्ञान-

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> उ १. 'लोकिकवैदिक'

विहाय, शीतोष्णसुखदु:खमानावमानं निर्जित्य, देहादि-वासनात्रयपूर्वकं निन्दानिन्दागर्वमत्सरदम्भद्भेच्छाद्वेषकामक्रोधलोभ-मोहहर्षामषीस्यात्मसंरक्षणादिकं दग्ध्वा, स्ववपुः कुणपाकारमिव पश्यन्, अप्रयत्नेनानियमेन लाभालाभौ समौ कृत्वा, गोवृत्त्या प्राणसंघारणं कुर्वन् यत्प्राप्तं तेनैव निर्ह्णोहुपः, सर्वविद्यापाण्डित्यप्रपञ्चं भस्मीकृत्य, स्वरूपं गोपयित्वा, ज्येष्ठाज्येष्ठत्वापलापकः, सर्वी-त्कृष्टत्वसर्वात्मकत्वाद्वेतं कल्पयित्वा मत्तो व्यतिरिक्तः कश्चित्रान्यो-ऽस्तीति भावनस्य देवगुद्यादिधनमात्मन्युपसंह्रत्य, दुःखेन नोद्वियः, मुखेन नातुमोदकः, रागे निःस्पृहः, भर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहः, सर्वेन्द्रियोपरमः, स्वपूर्वोपन्नाश्रमाचारविद्याधर्मप्राभवमननुस्मरन्, त्यक्तवर्णाश्रमाचारः, सर्वदा दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः, सर्वत्र सर्वदा संचारशीलः, देहमात्रावशिष्टः, जलस्थलकमण्डलुः, सर्वदानुनमत्तो बालोन्मत्तपिशाचवदेकाकी संचरत् , असम्भाषणपरस्य स्वरूपध्यानेन निरालम्बमवलम्बय, स्वात्मनिष्ठानुकूल्येन सर्वे विस्मृत्य, तुरीयाती-तोऽनधूतवेषेणाद्वैतनिष्ठापरः, प्रणवात्मकत्वेन देहत्यागं करोति यः सोऽवधूतः स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥ १ ॥

> तुर्यातीताख्योपनिषद्वेदां यत्परमाक्षरम । तत्तुर्यातीतिचिन्मात्रं स्वमात्रं चिन्तयेऽन्वहम् ॥

इह खलु गुक्रयजुर्वेदप्रविभक्तेयं तुरीयातीतावधूतोपनिषत् गौणमुख्याव-धूतचर्याप्रकटनव्यप्रा ब्रह्ममात्रपर्यवसना विजृम्भते । अस्याः स्वलपप्रन्थतो विवरणमारभ्यते । शिष्याचार्यपुत्रपितृभावंगतचतुरानननारायणप्रश्नप्रतिवचन- रूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकामवतारयति—अथेति । तुर्याश्रम-प्रविभक्तकुटीचकबहूदकहंसपरमहंसचर्या यथावदवगम्य, अथ तुर्यसंख्यापूरकं पारमहंस्यं, तदतीतास्तुर्यातीताश्च ते ।

> "यो विल्रङ्घ्याश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा । अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते ॥ अक्षरत्वाद्धरेण्यत्वाद्भृतसंसारबन्धनात् । तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते ॥"

इति ''गौणमुख्यावधूताश्च '' इति तुरीयातीतावधूताः। तेषां महानुभावानां कोऽयं मार्गः इत्यनेन तैराचरणीयचर्या अवगम्यते । का स्थितिः इत्यनेन निष्ठा चापि ज्ञातव्येति । तत्प्रक्षमङ्गीकृय तमाह भगवान् नारायणः । किं तत् इत्यत्र तन्मार्गस्यातिदुर्छभतया तानादौ स्तौति — योऽयमिति । नित्यपृतः । मिय मद्भावमेल्य स्थितत्वात् । मद्भावापल्रज्ञानिनो मन्यन्ते अत एवायं महापुरुषः । कथमस्य महापुरुषत्वं इत्यत्र यतो यस्तचित्तं मय्येवावतिष्ठते मदतिरिक्तचिन्ता-वैरल्यात् । त्वं कुत्रावस्थित इत्यत्र—अहं च तस्मिन्नेवावस्थित इति । कुटीचकादिधर्मा नारदपरिवाजकोपनिषदि सम्यग्व्याख्याताः। तत्रायं परमहंसः सर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्मनिष्यतियोगिकस्वमात्रमिति । स्वरूपानुसन्धानेन सर्वप्रपर्ध स्वातिरिक्तं<sup>2</sup> नेतीति विदित्वा तद्वेदनसमकालमेव पारमहंस्यलि**इं** त्याज्यमिति मनीषया तत्रापि संसारिधया तत्त्याग उपपद्यत इत्यर्थः । तद्रध्वै पारमहंस्याश्रम-त्यागानन्तरं कर्तव्यकर्पाभावादेहादिचेष्टायां<sup>3</sup> मन्त्रानाकांक्षत्वात् अमन्त्रवदाचरन् । इदं कर्तव्यमितीच्छ्या क्षौरादिकं विहाय तथा वैदिकछौकिकमप्युपसंहृत्य। मनोवृत्तित्वसामान्यात् ज्ञानाज्ञानमपि विहाय देहाभिमानत्यागासिना शीतोष्ण-सुखदु:खमानावमानं निर्जित्य । देहादिवासनात्रयपूर्वकं अहं एतादश इत्यप्रकटनपूर्वकं स्वरूपं स्वशीलं गोपयित्वा। अयं मे ज्येष्टः अयं मे कनिष्टः इति ज्येष्ठाज्येष्ठत्वापळापकः । अद्वैतातिरिक्तं द्वैतं नास्तीति भावयित्वा देवगुह्यात् देवरहस्यात् यत्तदेव भावनं तत् इन्धनं ब्रह्ममात्राग्निना दाह्यत्वात्

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> उ. नित्यपूर्ते. <sup>2</sup> उ. 'स्वातिरिक्तम्' इति नास्ति. <sup>3</sup> उ. चेष्टाये.

ब्रह्माकारवृत्तेरिप इन्धनत्वं तदण्यात्ममात्रिधया आत्मन्युपसंहृत्य । यदि पुनः स्वातिरिक्ताभासावलम्बनतो दुःखादिप्रसक्तौ दुःखेन नोद्विग्नः इत्यादि । प्राभवं प्रभावम् । अनुस्मरन् मद्विदितिवद्याप्तल्मेवं पर्यवसन्निमिति वस्तुतस्तदिपि नानुसन्धेयम् । स्वेन पादप्रक्षालनाद्यकर्तव्यत्वेऽिप यदि तृषावृत्तिरुदेति तदास्येन पेयमिति जलस्थलकमण्डल्वपेक्षा युज्यत एवेत्यर्थः । येन केनापि असंभाषणपरः । स्वातिरिक्तप्रपञ्चजातं सर्व विस्मृत्य अद्वैतिनष्ठापरः अद्वैतात्मपरायणो भूत्वा "सर्ववाच्यवस्तु प्रणवात्मकम्" इति श्रुतिसिद्धप्रणवात्मकत्वेन प्रणवार्थतुर्यन्तुर्यात्मना देहत्यागं करोति देहतिन्वर्त्यजाप्रज्ञाग्रदादितुर्यस्वापान्ततद्व्यष्टिसमिष्टितदुभयारोपापवादाधिकरणविश्वविश्वाद्यविकल्पानुङ्गैकरसान्तकलनात्यागमपह्वं करोति । यस्य पारमहंस्यधर्मालंकृतस्य यतेराभासतोऽिप निर्वर्त्यस्वातिरिक्तमस्ति इति भ्रान्तः सोऽयं गौणावधूतो भवति । यस्य पुनः ब्रह्ममात्रं निष्प्रतियोगिकं तदितिरेकणापह्नोतव्यविषयाभावज्ञानमुदेति, सोऽयं यतिः मुख्यावधूतो भवतीत्यत्र

"यस्य स्वात्मातिरेकेण निर्वर्त्यं प्रतिभाति सः। गौणावधूतो भवति स्वातिरिक्तास्तिताभ्रमात्॥ ब्रह्ममात्रधिया यस्य निर्वर्त्यासंभवो भवेत्। मुख्यावधूतः स मुनिः स्वमात्रमविशिष्यते॥"

इति स्मृते: । **इत्युपनिषच्छ**ब्दः प्रकृतोपनिषत्समात्यर्थः ॥ १ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्गह्मयोगिना । लिखितं स्याद्विवरणं तुर्यातीतस्य सुस्फुटम् । तुर्यातीतप्रन्थजातं चत्वारिशत् समीरितम् ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे चतुष्षष्टिसंख्यापूरकं तुरीयातीतावधूतोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> उ १. अलङ्कारस्य.

## नारदपरिव्राजकोपनिषत्

## भद्रं कर्णेभि:-इति शान्तिः

नारदं प्रति शौनकादीनां प्रश्न:

अथ कदाचित्परिव्राजकाभरणो नारदः सर्वछोकसंचारं कुर्वन्नपूर्वपुण्यस्थलानि पुण्यतीर्थानि तीर्थीकुर्वन्नवलोक्य, चित्तशुद्धिं प्राप्य,
निर्वेरः, शान्तः, दान्तः, सर्वतो निर्वेदमासाद्य, स्वरूपानुसंधानमनुसंधाय, नियमानन्द्विशेषगण्यं मुनिजनैरुपसंकीर्णं नैमिशारण्यं
पुण्यस्थलमवलोक्य, सरिगमपधिनसंज्ञैवैराग्यबोधकरेः स्वरिवशेषेः
प्रापश्चिकपराङ्मुखेईरिकथालापेः स्थावरजङ्गमनामकैर्मगवद्धक्ति विशेषिर्नरमृगिकिमपुरुषामरिकन्नराप्सरोगणान्संमोहयन्नागतं ब्रह्मात्मजं
भगवद्भक्तं नारदमवलोक्य द्वादशवर्षसत्वयागोपस्थिताः श्रुताध्ययनसंपन्नाः सर्वज्ञास्तपोनिष्ठापराश्च ज्ञानवैराग्यसंपन्नाः शौनकादिमहर्षयः
प्रत्युत्थानं कृत्वा, नत्वा, यथोचितातिथ्यपूर्वकमुपवेशयित्वा, स्वयं
सर्वेऽप्युपदिष्टा भो भगवन्ब्रह्मपुत्र कथं मुक्तयुपायोऽस्माकं
वक्तव्यम् ॥ १॥

पारिब्राज्यधर्मपूरगालङ्कारा यत्प्रबोधतः । दशप्रणवलक्ष्यार्थे यान्ति तं राममाश्रये ॥

इह खल्ल अथर्वणवेदप्रविभक्तेयं नारदपरिवाजकोपनिषत् ब्रत्यादिस्वाश्रमाचार-प्रकटनपूर्वकं कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसतुरीयातीतावधूतधर्मप्रकटनव्यप्रा सृष्ट्यादि-दराप्रणववाच्यळक्ष्यार्थप्रकाशिनी सर्वापहृवसिद्धब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना बहुर्थगर्भिणी विजम्भते । अस्याः स्वरूपप्रन्थतो विवरणमारभ्यते । शौनकादिमुनिबृन्दनारद-नारदिपतामहप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाल्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आदौ श्रुतिराल्यायि-कामवतारयति--अथेत्यादिना । अथशब्द: आरम्भार्थ: । कदाचित् परित्राजक-शिरोमणिः नारदः कृत्स्नलोकसंचारं कुर्वन् स्वपादन्यासतः पुण्यस्थलानि पुण्यतीर्थानि च तीर्थीकुर्वन् स्वातिरिक्तप्रपञ्चजातं मिथ्यात्वेनावलोक्य ततिश्चत्त-शुद्धि प्राप्य सर्वात्मैकत्वभावनया निर्वेरः सङ्कल्पादिवृत्तितः शान्तो बाह्यवृत्तितो दान्तः सर्वतः सर्वत्र निर्वेदं वैराग्यमासाद्य स्वस्वरूपानुसन्धानमनुसंधाय । उक्तविशेषणविशिष्टं नेमिशारण्यमवछोक्य स्वागमनकाले स्वकरभूषणवीणा-वायुसंवर्षणजन्यसरिगमपधनिसंज्ञैः शृणवद्वाह्यवैराग्यबोधकैः भगवद्गतिप्रेमान्वित-हरिकथालापैः नरमृगादिप्रपञ्चजातं संमोहयन्नागतं नारदं शौनकादिमहर्षयस्त-मवलोक्य प्रत्युतथानादिसपूर्या कृत्वा दिव्यासने तं निवेश्य तद्श्निमात्रतो यत् प्रमार्थतत्वं तत् स्वयं सर्वेऽप्युपदिष्टा अपि छोकानुप्रहहेतोः तं पृच्छन्ती-त्याह - भो भगवन्निति । हे ब्रह्मपुत्र भगवद्गतिकानामस्माकं कथं स्वाति-रिक्तास्तिताभ्रमतो मुक्तिः स्यात् को वा तदाह्युपायो वक्तव्य इति ॥ १ ॥

#### विदेहमुक्तिलाभोपायोपदेश:

इत्युक्तस्तान्स होवाच नारदः । सत्कुलभवोपनीतः सम्य-गुपनयनपूर्वकं चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः स्वाभिमतैकगुरुसमीपे स्व-शाखाध्ययनपूर्वकं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा, द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकब्रह्म-चर्यम्, पञ्चविंशतिवत्सरं गार्हस्थ्यम्, पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं तद्विधिवत्क्रमान्निर्वर्त्यं, चतुर्विधब्रह्मचर्यं षिद्वध्यगार्हस्थ्यं चातुर्विध्य-वानप्रस्थधर्मं सम्यगम्यस्य, तदुचितं कर्म सर्वं निर्वर्त्यं, साधन-चतुष्ट्यसंपन्नः, सर्वसंसारोपिर मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तस्तथा वासनैषणोपर्यपि निर्वेरः शान्तो दान्तः, संन्यासी परमहंसाश्रमेणा-स्खिलतस्वरूपध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति स मुक्तो भवति । इत्युपनिषत् ॥ २ ॥

तैरेवं पृष्टो देवर्षिराह—इत्युक्त इति । इत्येवं शौनकादिभिः उक्तः स होवाच नारदः । किं तत् सत्कुले भवतीति यः कश्चन द्विजातिः सत्कुलभवः विधिव-दुपनीतः चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः । चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारः कीदृशः इत्यत्र गौतमधर्मे आम्नायते । तद्यथा—गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणान्नप्राशनचौल्लोपनयनानि चत्वारि वेदब्रतानि, स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः पश्चानां यज्ञानां अनुष्टानं देविपतृमनुष्यभूतब्रह्मणामेतेषां पश्चकम् ,पार्वणश्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी-चैत्र्याश्चयुजीति सप्तपाकयञ्चसंस्थाः, अग्न्याधेयमग्निहोत्रदर्शपूर्णमासावाग्रयणं चातुर्मीस्यानि निरूद्धपञ्चबन्धसौत्रामणीति सप्तहविर्यञ्चसंस्थाः, अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम इति सप्तसोमसंस्था इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः । अष्टावात्मगुणा दया सर्वभृतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति । यस्यते चत्वारिंशत्संस्कारा न चाष्टावात्मगुणाः, न स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति । यस्य तु खलु संस्काराणामेकदेशोऽपि अष्टावात्मगुणाः अथ स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छतीत्युक्तसंस्कारसंपन्नो भूत्वा

'' आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः''

इत्यादिश्रुत्यनुरोधेनोक्तलक्षणलक्षितस्वाभिमतैकगुरुनिकटे आदौ स्वशाखाध्ययन-पूर्वकं सविविद्यामभ्यस्य द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकश्रह्मचर्यव्रतीभूत्वा विद्यामभ्यसेदि-त्यर्थः। ततः पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं गाईस्थ्योचितधर्मानुष्ठानं कृत्वा अथ तथा पञ्चविशतिवत्सरपर्यन्तं वानप्रस्थाश्रमोचितधर्मजातं विधिवत् क्रमा-त्रिवेत्र्यं अथ सप्तत्यूर्ध्वं संन्यसेदित्यर्थः ।

ब्रह्मचर्यादिधर्माः कितिविधा इत्यत आह—चतुर्विधब्रह्मचर्यमिति । अस्मिन्नर्थे काण्वायनस्मृतिरर्थतोऽनुक्रम्यते । तद्यथा—गायत्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो बृहिन्निति ब्रह्मचारी चतुर्विधः । अस्यार्थः—तत्रोपनयनादूर्ध्वं यिस्त्ररात्रमक्षार- लवणाज्ञी गायत्रीमधीते स गायत्रः । यस्तु वेदस्याप्रहणात् ब्रह्मचर्यं चरित स ब्राह्मः । संवत्सरं वेदव्रतकृत् प्राजापत्यः । आमरणं गुरुकुलवासी नैष्ठिको बृहिन्नित्युच्यते ।

गार्हस्थ्यं कतिविधं इत्यत आह— षिद्धधगार्हस्थ्यमिति । तथा च गृहस्था अपि षड्विधाः । तद्यथा—वार्ताकः शालीनो यायावरो घोरसंन्यासिकः उञ्छ्वतिः अयाचितश्चेति । तत्र कृषिगोरक्षादिकृतया वैश्यवृत्त्या जीविन्नसादि- क्रियापरो वार्ताकवृत्तिः । शालीनस्तु षट्कर्मनिरतो याजनादिवृत्तिः । यायावरस्तु शिष्टगृहेषु किंचित् किंचित् स्वकुटुम्बभरणोपयोगितण्डुलसंग्रहीः। घोरसंन्यासिकस्तु उद्भृतपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्वन् अहन्यहिन शिष्टजनतः तण्डुलपिग्रही । उञ्छस्तु सिलोञ्छवृत्तिः । अयाचितस्तु यहच्छालब्धोपजीवी ।

वानप्रस्थः कितविधः इत्यत आह—चातुर्विध्यमिति । वनस्था अपि चतुर्विधाः । तद्यथा—वैखानस औदुम्बरो वालखिल्यः फेनपाश्चेति । तत्र अकृष्टपच्यौषधीभिः प्रामवहिष्कृताभिः अग्निहोत्रादि कुर्वन् वैखानस इत्युच्यते । यस्तु प्रातरुत्थाय यां यां दिशं पश्यति तत्रत्यौदुम्बरीबदरनीवारश्यामाकैः नित्ययात्रापर औदुम्बरः । यस्तु जटावल्कलधारी अष्टौ मासान् वृत्त्युपार्जन-कृचातुर्मास्ये गृहीताशी कार्तिक्यां संगृहीतपुष्पफल्यागी स वालखिल्यः । फेनपास्तु शीर्णपर्णफल्वृत्तयः यत्र किचिद्रसन्तः कर्मपरा इति ॥

एवं ब्रह्मचर्यादिवानप्रस्थान्तधर्मजातं निर्वर्त्यं नित्यादिसाधनचतुष्टयसम्पन्नो भूत्वा संसृतिवासनेषणात्रयत्यागपूर्वकं सर्वभूतेषु स्वात्मतया निर्वेरस्वान्तर्वाह्य- कळनाभावाच्छान्तो दान्तः संन्यासी अस्खिळतस्वरूपध्यानेन यो देहोपळिक्षत-स्वाविद्यापदमस्ति नास्तीति विश्रमाभिमति त्यजित सोऽयं स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रम-

मुक्तो विदेह**मुक्तो भवति ।** आवृत्तिरादरार्था । **इत्युपनिषच्छ**ब्दः प्रथमोपदेश-समाप्त्यर्थः ॥ २ ॥

इति प्रथमोपदेशः

#### पारित्राज्यस्त्ररूपक्रमः

अथ हैनं भगवन्तं नारदं सर्वे शौनकाद्यः पप्रच्छुभी भगवन्संन्यासविधिं नो ब्र्हीति । तानवलोक्य नारदस्तत्स्वरूपं सर्वे पितामहमुखेनैव ज्ञातुमुचितमित्युक्तवा सत्त्वयागपूर्यनन्तरं तैः सह सत्यलोकं गत्वा विधिवद्वह्मनिष्ठापरं परमेष्ठिनं नत्वा स्तुत्वा, यथोचितं तदाज्ञया तैः सहोपविश्य नारदः पितामहमुवाच । गुरुस्तवं जनकस्त्वं सर्वविद्यारहस्यज्ञः सर्वज्ञस्त्वम् । अतो मदिष्टं रहस्यमेकं वक्तव्यम् । त्वद्विना मद्भिमतरहस्यं वक्तं कः समर्थः । किमिति चेत् पारित्राज्यस्वरूपकमं नो ब्रहीति नारदेन प्रार्थितः परमेष्ठी सर्वतः सर्वीनवलोक्य मुहूर्तमात्रं समाधिनिष्ठो भूत्वा संसारार्ति-निवृत्त्यन्वेषण इति निश्चित्य नारदमवलोक्य तमाह पितामहः। पुरा मत्पुत्र पुरुषसूक्तोपनिषद्रहस्यप्रकारनिरतिशयाकारावलम्बिना बिराट्पुरुषेणोपदिष्टं रहस्यं ते विविच्योच्यते । तत्क्रममतिरहस्यं बाढमवहितो भूत्वा श्रूयताम् ।

भो नारद, विधिवदादावनुपनीतोपनयनानन्तरं तत्सत्कुलप्रस्-तः पितृमातृविधेयः पितृसमीपादन्यत्र सत्संप्रदायस्थं श्रद्धावन्तं सत्कु- लभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवन्तमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य नत्वा, यथोपयोगशुश्रृषापूर्वकं स्वाभिमतं विज्ञाप्य, द्वादशवर्षसेवापुरःसरं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा, तदनुज्ञया स्वकुलानुरूपामिमतकन्यां विवाह्य, पञ्चविंशतिवत्सरं गुरुकुलवासं कृत्वाथ गुर्वनुज्ञया गृहस्थोचितकर्म कुर्वन्, दौर्बोह्मण्यनिवृत्तिमेत्य स्ववंशवृद्धिकामः पुत्रमेकमासाद्य गार्हस्थ्योचितपञ्चविंशतिवत्सरं तीत्वी, ततः पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं त्रिषवणमुद्कस्पर्शनपूर्वकं चतुर्थकालमेकवारमाहारमाहरत्रयमेक एव वनस्थो मृत्वा, पुर्यामप्राक्तनसंचारं विहाय, निकिरविरहिततदाश्चित्तकर्मोचितकृत्यं निर्वर्त्यं, दृष्टश्रवणविषयवैतृष्ण्यमेत्य, चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः, सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेष्यीहंकारं द्ग्य्वा, साधनचतुष्टयसंपन्नः संन्यस्तुमर्हतीत्युपनिषत् ॥ १ ॥

एवं नारदेनोपदिष्टाः शौनकादिमुनयः पुनर्विशेषबुभुत्सया नारदं पृच्छन्ति । सोऽपि भवद्भिर्यत् पृष्टं तत् पितामहमुखेन ज्ञातव्यमित्युक्तवा प्रकृतयाग-समात्यनत्तरं तैः साकं सत्यछोकं गत्व पितामहं विधिवदुपसंगम्य नारदः पारिवाज्यधर्म पृष्टवान् इत्याह—अथेति । ब्रह्मनिष्ठापरं स्वातिरिक्तसर्वापह्वत्वसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति या अनवरतमावना सैव ब्रह्मनिष्ठा, तत्परं तिन्नष्ठं तेन परमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठिनम् । नारदः पितामहमुवाच । किमिति । सर्वेषां मम च गुरुस्त्वमिति । नारदेनैवं पृष्टः परमेष्ठी दिव्यज्ञानेन तदागमनप्रयोजनं ज्ञात्वा त्वया यत् पृष्टं तन्मे विराट्पुरुषेणोपदिष्टं तदुच्यते शृण्वेतदित्याह—नारदेनेति । किं तदित्यत्र मो नारदेति तं स्वाभिमुखीकृत्य क्रमेण संन्यासविधिमुपदिशतीत्याह—भो इति । सत्संप्रदायस्थं इत्याद्याचार्यविशेषणम् । श्रोत्रियं अधीतसाङ्गोपाङ्गस्वाध्यायतदर्थम् । पश्चित्रातिवत्सरं सदारो गुरुकुळवासं कृत्वा । "त्रिषवणमुदकोपस्पर्शी चतुर्थकाळपानमकः स्यात्" । इति श्रुतेः ।

निकरिवरिहतेत्यत्र निरतां किरं बीजावापनं यत्र तिनिकरं, गोधूमशालीश्यामाकादि तिद्वरिहतं नीवारतृणतण्डुलादितदाश्चितकमोंचितकृत्यं देविपत्राद्युदेशेन हव्य-कव्यादिकं दृष्टमेहिकं श्वावणमामुष्मिकं तत्र वैतृष्ण्यिमिहामुत्रभोगवितृष्णत्वम् । चत्वारिशत्संस्कारसंपन्न इत्याद्युक्तार्थम् । शिष्टं स्पष्टम् । इत्युपनिषच्छब्दो द्वितीयोपदेशसमाप्त्यर्थः ॥ १॥

इति द्वितीयोपदेश:

#### संन्यासाधिकारी

अथ हैनं नारदः पितामहं पप्रच्छ । भगवन् केन संन्यासः संन्यासाधिकारी वेति । एवमादौ संन्यासाधिकारिणं निरूप्य पश्चा-त्संन्यासविधिरुच्यते । अवहितः शृणु । अथ षण्डः पिततोऽङ्ग-विकलः स्त्रैणो विधरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चकी लिङ्गी वैखानसहर-द्विजो भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनिष्ठको वैराग्यवन्तोऽत्त्येते न संन्यासार्हाः । संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः । पूर्वसंन्यासी परमहंसाधिकारी ॥ १ ॥

परेणेवात्मनश्चापि परस्येवात्मना तथा । अभयं समवाप्नोति स परित्राडिति स्मृतिः ॥ २ ॥ षण्डोऽथ विकलोऽप्यन्धो बालकश्चापि पातकी । पतितश्च परद्वारी वैखानसहरद्विजौ ॥ ३ ॥ चक्की लिङ्की च पाषण्डी शिपिविष्टोऽप्यनिष्ठकः । द्वित्रिवारेण संन्यस्तो भृतकाध्यापकोऽपि च । एते नाईन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥ ४ ॥

साधनचतुष्ट्यसम्पन्नः संन्यस्तुमर्हतीति पितामहे नैवमुपदिष्टो नारदः संन्यास-स्वरूपं तद्धिकारिस्वरूपं च विविच्य ज्ञातव्यमिति स्विपतरं पप्रच्छेत्याह— अथेति । कोऽयं संन्यासः, को वा संन्यासाधिकारी, इति प्रश्नोत्तरं एविमिति । आदौ तावत् संन्यासानिधकारिणं निरूपयित—अथेति । शिपिविष्टो विकसितशेफ इत्यर्थः । उक्तार्थवैपरीत्येन यः सर्वभूताभयदः यस्य सर्वाणि भूतान्यभयं दास्यन्ति सोऽयं संन्यासाधिकारीत्याह—पूर्वेति । केयं स्मृतिः इत्यत्र

> ''अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥''

इति स्मृत्यनुरोधेन साध्यसाधनेषणापित्यागपूर्वकं निष्कामकर्मानुष्ठाता द्विजः पूर्वसंन्यासी । सोऽयं परमहंसाश्रमाधिकारी । तद्विपरीताधिकार्यपि श्रूयते मन्त्रद्वयेन षण्ड इति ॥ १–४ ॥

#### आतुरसंन्यास:

आतुरकालः कथमार्यसंमतः।

प्राणस्योत्क्रमणासन्नकालस्त्वातुरसंज्ञिकः । नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तनः ॥ ५ ॥

आतुरसंन्यासः कथं विद्वत्संमतो भवति इत्याक्षिण्य तत्राष्टश्राद्वादिकर्मछोपेऽपि संन्याससिद्धिकरप्रैषमन्त्राछोपादातुरसंन्यासोऽपि विद्वत्संमतो भवतीत्याह—आतुर-काल इति । प्राणस्योत्कमणासन्नकालः प्राणोत्क्रमणपूर्वभाविकाल एवेत्यर्थः ॥९॥

#### आतुरसंन्यासविधिः

आतुरेऽपि च संन्यासे तत्तन्मन्त्रपुरःसरम् । मन्त्रवृत्तिं च कृत्वैव संन्यसेद्विधिवद्बुधः ॥ ६ ॥ आतुरेऽपि क्रमे चापि प्रैषभेदो न कुन्नचित् । न मन्त्रं कर्मरहितं कर्म मन्त्रमपेक्षते ॥ ७ ॥ अकर्म मन्त्ररहितं नातो मन्त्रं परित्यजेत् । मन्त्रं विना कर्म कुर्याद्धस्मन्याहुतिवद्भवेत् ॥ ८ ॥ विध्युक्तकर्मसंक्षेपात्संन्यासस्त्वातुरः स्पृतः । तस्मादातुरसंन्यासे मन्त्रावृत्तिविधिर्मुने ॥ ९ ॥

आतुरसंन्यासविधिमाचष्टे—आतुरेऽपि चेति । क्रमातुरयोः प्रैषभेदः स्यात् इत्यत आह—आतुरेऽपीति । कर्मणो मन्त्राधीनत्वं केवलकर्मणो निष्मलत्वं चाह—न मन्त्रमिति । न मन्त्रं कर्मरहितं इत्यत्र विभक्तिव्यत्ययः । केवलमन्त्र-प्राधान्येन यत्र कर्मलोपः सोऽयं आतुरसंन्यास इत्याह—विध्युक्तिति । यस्मादेवं तस्मात् ॥ ६–९ ॥

देशान्तरस्थाहितामे: संन्यासविधि:

आहिताग्निर्विरक्तश्चेदेशान्तरगतो यदि । प्राजापत्येष्टिमप्स्वेव निर्वृत्येवाथ संन्यसेत् ॥ १० ॥ मनसा वाथ विध्युक्तमन्त्रावृत्त्याथवा जले । श्रुत्यनुष्ठानमार्गेण कर्मानुष्ठानमेव वा । समाप्य संन्यसेद्विद्वान्नो चेत्पातित्यमाप्नुयात् ॥ ११ ॥

यद्याहिताग्निरिक्तो दूरदेशं गतो भवति तस्य संन्यासः कथं इत्याकाङ्क्षायां मनसा वचसा कर्मणा वाप्सु प्राजापत्येष्टिं कृत्वैव संन्यसेत् नोचेत् पतितो भवतीत्याह—आहिताग्निरिति । देशान्तरगतो यदि तदा ॥ १०, ११॥

सतृष्णस्य संन्यासपरित्रहे नरकप्राप्तिः

यदा मनिस संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु । तदा संन्यासमिच्छन्ति पतितः स्याद्विपर्यये ॥ १२ ॥ विरक्तः प्रविज्ञाद्वीमान्सरक्तस्तु गृहे वसेत्। सरागो नरकं याति प्रविज्ञन् हि द्विजाधमः ॥ १३ ॥

स्वातिरिक्तवस्तुवैतृष्ण्यं संन्यासहेतुः यत्र कुत्रापि सतृष्णो यदि संन्यस्यति तस्य नरकपातः स्यादित्याह—यदेति ॥ १२, १३॥

वैतृष्ण्यमेव संन्यासपरिप्रहे हेतुः

यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्नोपस्थोदरं करः । संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ॥ १४ ॥ संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया । प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥ १५ ॥ प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम् । तस्माञ्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ १६ ॥

यस्य जिह्नादिकं स्ववशे वर्तते, इतः परमल्लमिति यस्य संसारविरिक्तरुदेति यस्य च ज्ञानं केवल्यसाधनं भवति सोऽयं वती गृही वनी वा संन्यसेदित्याह— यस्येति । यस्मादेवं तस्मात् ॥ १४-१६ ॥

#### विद्वत्संन्यासः

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् । तदैकदण्डं संगृह्म सोपवीतं शिखां त्यजेत् ॥ १७ ॥ परमात्मिन यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मिन । सर्वेषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति ॥ १८ ॥ पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्त्रो यथा भवेत् । तथा चेत्ताडचमानस्तु तदा भवति भैक्षमुक् ॥ १९ ॥

अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम् । इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्षभुक् ॥ २० ॥ यस्मिञ्छान्तिः शमः शौचं सत्यं संतोष आर्जवम् । अर्किचनमदम्भश्च स कैवल्याश्रमे भवेत् ॥ २१ ॥ यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् । कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक् ॥ २२ ॥ द्शलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः। वेदानतान्विधिवच्छ्रत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥ २३ ॥ धृतिः क्षमा दमोऽस्थेयं शौचिमिन्द्रियनिग्रहः । हीर्विद्या सत्यमकोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ २४ ॥ अतीतान्न स्मरेद्धोगान्न तथानागतानपि । प्राप्तांश्च नाभिनन्देचः स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ २५ ॥ अन्तःस्थानीन्द्रियाण्यन्तर्बहिष्ठान्विषयान्बहिः । शक्तोति यः सदा कर्तुं स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ २६ ॥ प्राणे गते यथा देह: 1 सुखदु: खं न विन्दति । तथा चेत्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ २७ ॥

विद्वत्संन्यासमाह—यदेति । यस्य स्वानुरिक्तस्वातिरिक्तविरिक्तिसमत्वादिकं नेजं भवति स यतितामर्हतीत्याह—परमात्मनीत्यादिना । अकिंचनं स्वातिरेकेण किंचिदस्तीति यन्मनो न मनुते तदिकंचनम् । किंच यदेति । पुनर्भङ्गयन्तरेण विद्वत्संन्यास उच्यते—दशेति । अनृणः ''ब्रह्मचर्येणिषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> उ १. 'सुखदुःखं' इत्यारभ्य 'विस्वज्य ध्यानयोगेन' (२७-५१) इत्यन्तं मूळव्याख्याने न दश्येते ।

पितृभ्य एष वा अनृणः '' इति श्रुतेः । दशलक्षणकं धर्ममित्यंशं श्रुतिरेव व्याकरोति—धृतिरिति। भूतादिकालत्रयाविच्छन्नभोगानिच्छुमीक्षाश्रमे वसेदित्याह—अतीतानिति । निगृहीतान्तर्वाह्यवृत्तिमीक्षाश्रमे वसेदित्याह—अन्तरिति । किं बहुना प्राण इति ॥ १७–२७॥

#### अवैधपरिप्रहे प्रत्यवाय:

कौपीनयुगलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः ।
यतेः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते ॥ २८ ॥
यदि वा कुरुते रागादधिकस्य परिग्रहम् ।
रौरवं नरकं गत्वा तिर्यग्योनिषु जायते ॥ २९ ॥
विशीणीन्यमलान्येव चेलानि ग्रथितानि तु ।
कृत्वा कन्थां बहिर्वासो धारयेद्धातुरिक्षतम् ॥ ३० ॥
एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः ।
एक एव चरेन्नित्यं वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ ३१ ॥
कुदुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गृढं चरेद्यतिः ॥ ३२ ॥

यतेर्देहधारणस्वाचारोपयोगिपरिग्रहं विनान्यत्र निह परिग्रहिविधिरिस्त यदि करोति तदा प्रत्यवैतीत्याह—कौपीनेति । यदि शीतभीतिस्तदा विशीर्णानीति । साम्बरा दिगम्बरा वा यतः श्रवणमननिदिध्यासनव्यापृतिविरला यदि तदा तेषां ग्रामैकरात्रसंचारो विधीयत इत्याह—एकेति ॥ २८—३२ ॥

#### परिवाजकानां धर्माः

कामः क्रोधस्तथा दर्पो लोभमोहादयश्च ये। तांस्तु दोषान्परित्यन्य परित्राण्निममो भवेत्॥ ३३॥

रागद्वेषवियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः । प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मुनिः स्यात्सर्वनिःस्पृहः ॥ ३४ ॥ दम्भाहंकारनिर्मुक्तो हिंसापैशुन्यवर्जितः। आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिमीक्षमवाप्ययात् ॥ ३५ ॥ इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयः। संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं निगच्छति ॥ ३६ ॥ न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा ऋष्णवत्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ३७ ॥ श्रुत्वा स्पृष्ट्या च मुक्त्वा च दृष्ट्या घात्वा च यो नरः। न हृष्यित ग्लायित वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ३८ ॥ यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा । स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ ३९ ॥ संमानाद्वाह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव । अमृतस्यैव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ ४० ॥ सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते । सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ ४१ ॥ अतिवादां स्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन । न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४२ ॥ क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुरालं वदेत्। सप्तद्वारावकीर्णी च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४३ ॥ अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिषः । आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४४ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च। अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ४५ ॥ अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम् । चर्मावबद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ४६ ॥ जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमात्रम् । रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ४७ ॥ मांसासृकपूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ । देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥ ४८ ॥ सा कालसूत्रपद्वी सा महावीचिवागुरा। सासिपत्रवनश्रेणी या देहेऽहमिति स्थितिः ॥ ४९ ॥ सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशेऽप्यपस्थिते । स्प्रष्टव्या सा न भव्येन सश्वमांसेव पुलकसी ॥ ५० ॥ प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसुज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनम् ॥ ५१ ॥ अनेन विधिना सर्वीस्त्यक्तवा सङ्गाञ्छनै:शनै:। सर्वद्वनद्वैविनिर्मुक्तो बह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ५२ ॥ एक एव चरेन्नित्यं सिद्धचर्थमसहायकः । सिद्धिमेकस्य पश्यन्हि न जहाति न हीयते ॥ ५३॥

परित्राजकधर्मानुपन्यस्यति—काम इत्यादिना । निर्ममो भवेत् स्वदेहत-दन्यत्र नाहंममाभिमानी भवेदित्यर्थः । मुनिः मननशीलः । इन्द्रियौरिन्द्रियार्थ-स्पर्शास्पर्शाभ्यां बन्धमोक्षौ भवत इत्याह—इन्द्रियाणामिति । कामोपभोगतः कामशान्तिः स्यादित्यत आह—नेति । एवं चेत् जितेन्द्रियत्वं कथं इस्यत आह—श्रुत्वेति । यद्वशे करणजातं भवति स ज्ञानफलमेतीत्याह—यस्येति । सम्यग्रुप्ते तनुभावं गते । यतिः संमानमनादृत्यावमानमेव कांक्षेदित्याह—संमानादिति । किंच अतिवादान् परकृताधिक्षेपान् तितिक्षेत नावमन्येत कंचन स्वात्मधिया । "सत वै शीर्षण्याः प्राणाः" इति सप्तद्वारावकीणीं च न वाचमनृतां वदेत् । सप्तमद्वारमूतां सदा अध्यात्मरितः । किं च इन्द्रियाणामिति । स्वाधिष्टितदेहरूढामहंधियं स्वानर्थकरीमृतसृज्य ब्रह्मात्मिन बुद्धं कुर्यादित्याह—अस्थीति । शुक्रशोणितयोगजं रजस्वलम् । भूतावासामिन्मतौ दोषं विशिनष्टि—मांसेति । देहगताहंमतिमहंब्रह्मास्मीति ब्रह्मण्येव कुर्यादित्यर्थः । एवं ब्रह्मानुसन्धानपरस्यापि शरीरयोगप्रभवसुकृतदुष्कृतयोरवश्यंभावित्वात्ततो ब्रह्मभावापत्तिः कुत इत्यत आह—प्रियेष्विति । ब्रह्माप्तिप्रतिबन्धक-सुकृतदुष्कृतयोः प्रियाप्रियजनापहृतत्वादयं निष्प्रतियोगिकं ब्रह्म स्वमात्रधियैतीत्यर्थः । प्रियाप्रियजनापहृतत्वादयं निष्प्रतियोगिकं ब्रह्म स्वमात्रधियैतीत्यर्थः । प्रियाप्रियजनापहृतत्वादयं निष्प्रतियोगिकं ब्रह्म स्वमात्रधियैतीत्यर्थः । प्रियाप्रियेष्वति ॥ ३२-५३ ॥

#### यतिचर्या, तत्फलं च

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलान्यसहायता।
समता चैव सर्विस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ५४ ॥
सर्वभूतिहतः शान्तिम्निद्गण्डी सकमण्डलुः ।
एकारामः परित्रन्य भिक्षार्थ ग्राममाविशेत् ॥ ५५ ॥
एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद् द्वावेव मिथुनं स्मृतम् ।
त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्च्व तु नगरायते ॥ ५६ ॥
नगरं न हि कर्तव्यं ग्रामं वा मिथुनं तथा।
एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधमिच्यवते यतिः ॥ ५७ ॥
राजवात्तीदि तेषां स्याद्भिक्षावार्त्ता परस्परम् ।
स्रेहपैशुन्यमात्सर्यं संनिक्षांत्र संशयः ॥ ५८ ॥

एकाकी निःस्पृहस्तिष्ठेत्र हि केन सहालपेत्।
द्यात्रारायणेत्येव प्रतिवाक्यं सदा यतिः ॥ ५९ ॥
एकाकी चिन्तयेद्वस्य मनोवाकायकर्मभिः ।
मृत्युं च नाभिनन्देत जीवितं वा कथंचन ॥ ६० ॥
कालमेव प्रतीक्षेत यावदायुः समाप्यते ।
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ॥
कालमेकं प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ६१ ॥
अजिह्वः पण्डकः पङ्गुरन्धो विधर एव च ।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षः षड्भिरेतैर्न संशयः ॥ ६२ ॥

पुनर्यतिचर्यो तत्फलं चाचष्टे—कपालिमित्यादिना । येन वाक्कायमनांसि दण्डयन्ते मौनस्वल्पाशनप्राणायामोपायत इति स त्रिदण्डी महायतिः ।

> ''वाग्दण्डः कायदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः । यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः ॥ ''

इति श्रुतेः । एकब्रह्मावशेषेण सर्वत्र रमत इति एकारामः । कथं तत् राजवार्तादीति । यस्मादेवं तस्मात् एकाकीति । एकाकिना किं कर्तव्यं इत्यत आह—एकाकी चिन्तयेदिति । अजिह्वादिवृत्तिमान् यतिः स्वातिरिक्तभ्रमतो विमुच्यत इत्याह—अजिह्व इति ॥ ५४–६२ ॥

अजिह्वादीनां लक्षणम्

इदं मृष्टमिदं नेति योऽश्वन्निप न सज्जति । हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्नं प्रचक्षते ॥ ६३ ॥ अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् । शतवर्षो च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स पण्डकः ॥ ६४ ॥ भिक्षार्थमटनं यस्य विष्मूत्रकरणाय च ।
योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः ॥ ६६ ॥
तिष्ठतो त्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम् ।
चतुर्श्वगां भुवं मुक्त्वा परित्राट् सोऽन्ध उच्यते ॥ ६६ ॥
हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं च यत् ।
श्रुत्वापि न श्रुणोतीव बिषरः स प्रकीर्तितः ॥ ५७ ॥
सांनिध्ये विषयाणां यः समर्थोऽविकलेन्द्रियः ।
स्रुतवद्गतेते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते ॥ ६८ ॥

सूत्रभूतं वाक्यं श्रुतिरेव क्रमेण व्याचष्टे । तत्राजिह्न्शब्दार्थमाह— इदिमिति । पण्डकशब्दार्थमाह—अद्येति । पङ्गुशब्दार्थमाह—-भिक्षार्थमिति । अन्धशब्दार्थमाह—तिष्ठत इति । विधरशब्दं व्याचष्टे—हितेति । मुग्धशब्दार्थं विशदयति—सान्निध्य इति ॥ ६३–६८ ॥

यतीनां वर्जनीयानि

नटादिप्रेक्षणं द्यूतं प्रमदासुहृदं तथा ।

भक्ष्यं भोज्यमुद्दक्यां च षण्न षरयेत्कदाचन ॥ ६९ ॥

रागं द्वेषं मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु ।

षडेतानि यतिर्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ७० ॥

मञ्चकं शुक्कवन्त्रं च स्त्रीकथा छोल्यमेव च ।

दिवास्वापं च यानं च यतीनां पातकानि षट् ॥ ७१ ॥

दूरयात्रां प्रयत्नेन वर्जयेदात्मचिन्तकः ।

यतिभिः यद्यत् त्याज्यं तदेकदेशं प्रदर्शयति --नटादीत्यादिना ॥६९-७१॥

#### यतिभिः अनुष्टेयानि

सदोपनिषदं विद्यामम्यसेन्मुक्तिहैतुकीम् ॥ ७२ ॥
न तीर्थसेवी नित्यं स्यान्नोपवासपरो यतिः ।
न चाध्ययनशीलः स्यान्न व्याख्यानपरो भवेत् ॥ ७३ ॥
अपापमशठं वृत्तमिनिह्वं नित्यमाचरेत् ।
इन्द्रियाणि समाहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ॥ ७४ ॥
क्षीणेन्द्रियमनोवृत्तिर्निराशीर्निष्परिग्रहः ।
निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ॥ ७५ ॥
निर्ममो निरहंकारो निरपेक्षो निराशिषः ।
विविक्तदेशसंसक्तो मुच्यते नात्र संशय इति ॥ ७६ ॥

यद्नुष्टेयं तदाह-**सदे**ति । अ**पापं** पापपुण्यतत्फळिविमुखम् । **अशठं** साधुजनसेव्यब्रह्मगोचरम् । अजिह्नं मौनिमत्यर्थः । इतिशब्दो मन्त्रपरि-समाप्त्यर्थः ॥ ७२–७६ ॥

#### आश्रमानुसारेण पारिवाज्यम्

अप्रमत्तः कर्मभिक्तिज्ञानसंपन्नः स्वतन्त्रो वैराग्यमेत्य ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा मुख्यवृत्तिका चेद्वह्मचर्यं समाप्य गृहीं भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा । अथ प्रनरव्यती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वोत्सवाग्निरनिश्चको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् । तद्भैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । अथवा न कुर्यात् । आग्नेय्यामेव

कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया करोति । तस्मात् त्रैधात-वीयामेव कुर्यात् । एत एव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति ॥ ७७ ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नम्न आरोहाथा नो वर्षया रियम् ॥ ७८ ॥
इत्यनेन मन्त्रेणामिमाजिन्नेत् । एष वा अम्नेयोनिर्यः प्राणः, प्राणं गच्छ स्वां योनि गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह । आहवनीयादमिमाहत्य पूर्ववदिमाजिन्नेत् । यदिमं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः, सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य तदुदकं प्राश्मीयात् साज्यं हिवरनामयं मोक्षदिमिति । शिखां यज्ञोपवीतं पितरं पुत्रं कलत्रं कर्म चाध्ययनं मन्त्रान्तरं विस्रज्येव परित्रजत्यात्मित् । मोक्षमन्त्रैस्त्रैधातवीयैविन्देत् । तद्वद्ध तदुपासितन्यम् । एवमेवैतदिति ॥ ७९ ॥

यथोक्तलक्षितवृत्त्यादेर्यदहरेव वान्ताशनमृत्रपुरीषादिवत् स्वातिरिक्तप्रपञ्च-विरतिरुदेति तदा तदहरेव प्रव्रजेत् यदि विरतिर्मन्दा तदाश्रमक्रमानुसारेण परिव्रजेदित्याह—अप्रमत्त इति । यदि स्वात्ताश्रमपरिग्रहे मन्द्विरक्त्या तत्र मुख्यवृत्तिका चेत् ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भवेत् । यदि वा इतरथा तीव्रतरिवरितिरुदेति तदा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् । विरजेत् तीव्रतरिवरागी स्यात् । यस्मादेवं तस्मात् । "ब्रह्मचर्यं समाप्य" इत्यारम्य "तद्ग्रह्म तदुपासितव्यम्" इत्यन्तं जाबालोपनिषदि चतुर्थखण्डे जनक्याज्ञवल्क्यसंवादे प्रायशः प्रतिपदं व्याख्यातम् ॥ ७७–७९ ॥

#### यतेरेव मुख्यं ब्राह्मण्यम्

पितामहं पुनः पप्रच्छ नारदः। कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मण इति । तमाह पितामहः ॥ ८० ॥ सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः। यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥ ८१ ॥ स्चनात्स्त्रमित्याहुः स्त्रं नाम परं पदम्। तत्सूत्रं विदितं येन स विघ्रो वेदपारगः ॥ ८२ ॥ येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदुर्शनः ॥ ८३ ॥ बहिःस्त्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममास्थितः । ब्रह्मभाविमदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः । धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥ सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् । ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥ ८५ ॥ ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः । ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥ ८६ ॥ अभेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा । स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ ८७ ॥ कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणाद्य:। तेभिर्घार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥ ८८ ॥

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् । बाह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुरिति ॥ ८९ ॥

संन्यासस्य शिखायज्ञोपवीतत्यागपूर्वकत्वात् कथमयं ब्राह्मणपदमर्हतीति नारदः पितामहं प्रच्छतीत्याह श्रुतिः—पितामहिमिति । तमाह पितामहः । किमिति—सशिखमिति । "सशिखम् " इत्यादि "ब्रह्मविदो विदुः" इत्यन्तं ब्रह्मोपनिषदि पदशो व्याख्यातम् ॥ ८०—८९ ॥

#### परमहंसस्य अवधूताश्रमस्य वा परिग्रहः

तदेतद्विज्ञाय बाह्मणः परिव्रज्य परिवाडेकशाटी मुण्डोऽपरि-प्रहः रारीरक्वेशासहिष्णुश्चेत् । अथवा यथाविधिश्चेज्ञातरूपघरो भूत्वा स्वपुत्रमित्रकलत्राप्तबन्ध्वादीनि स्वाध्यायं सत्कर्माणि संनय-स्यायं ब्रह्माण्डं च सर्वं कौपीनं दण्डमाच्छादनं च त्यक्त्वा द्वन्द्वसहिष्णुर्न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न निद्रा न मानावमाने च षड्मिवर्जितः, निन्दाहंकारमत्सरगर्वदम्भेष्यीसूयेच्छा-द्वेषसुखदुःखकामकोधलोभमोहादीन्विसृज्य, स्ववपुः शवाकारमिव स्मृत्वा, स्वव्यतिरिक्तमन्तर्बेहिरमन्यमानः, कस्यापि वन्दनमक्कत्वा ुन स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्याद्दच्छिको भवेत्। यदच्छालाभसंतुष्टः सुवर्णादीन्न परिग्रहेत् । नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं नामन्त्रं न ध्यानं नोपासनं न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथङ् नापृथङ् नत्वन्यत्र अनिकेतः स्थिरमतिः शून्यागारवृक्षमूळदेवगृहतृण-कूटकुलालशालाभिहोत्रशालाभिदिगन्तरनदीतटपुलिनभूगृहकन्दरनिर्झर- स्थिण्डिलेषु, वने वा, श्वेतकेतुऋभुनिदाधऋषभदुवीसःसंवर्तकदत्तात्रेय-रैवतकवदन्यक्तलिङ्कोऽन्यक्ताचारो बालोन्मत्तपिशाचवदनुन्मत्तोन्मत्त-वदाचरंश्चिदण्डं शिक्यं पात्रं कमण्डलुं कटिसूत्रं कौपीनं च तत्सर्व मूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्य ॥ ९० ॥

> कटिसूत्रं च कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डसुम् । सर्वमप्सु विस्रज्याथ जातरूपधरश्चरेत् ॥ ९१ ॥

आत्मानमन्विच्छेत् । यथाजातरूपघरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रह-स्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंघारणार्थं यथोक्तकाले करपात्रेणान्येन वायाचिताहारमाहरन्, लाभालाभौ समौ भूत्वा निर्ममः शुक्रध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यस्य पूर्णानन्दैकबोधस्तद्वह्माहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्मरन्ध्रमर-कीटन्यायेन शरीरत्रयमुत्स्रज्य संन्यासेनैव देहत्यागं करोति। स कृतकृत्यो भवति इत्युपनिषत् ॥ ९२॥

यतेरेव मुख्यं ब्राह्मण्यं विदित्वा परिव्रज्य पारमहंस्यमवधूताश्रमं वा गच्छेदित्याह—तदेतदिति । यदि शीताद्यसिहिष्णुस्तदा परिव्राद् । श्रवणादिसत्-कर्माणि । शीतोष्णादिद्वन्द्वसिहिष्णुः । अश्वनायादिः षड्मिः । स्वयमेवानन्तरम्वाद्यं ब्रह्मितः भावनया स्वव्यतिरिक्तमन्तर्बिहरमन्यमानः कस्यापि वन्दनम् कृत्वा सेव्यसेवकहेतुदेहाभिमितिवैरव्यात् यादृच्छिको भवेत् स्वातन्त्र्यणैकाकी संचरेदित्यर्थः । यदृच्छालाभसन्तुष्टः स्वप्रयोजनाभावात् । न मन्त्रं नामन्त्रं प्रथमार्थे द्वितीया । स्वातिरेकेणावाहनविसर्जनमन्त्रामन्त्रध्यानोपासनलक्षणीया-लक्षणीयलक्ष्यालक्ष्यभेदाभेदकलनावैरव्यात्, अत एव अनिकेतः स्थिरमितः । अवधूतस्य कृतकृत्यत्वेन श्रवणादिकर्तव्यामावादिनकेतस्थरमितत्वं युज्यत इत्यर्थः ।

तेषां निवासस्थलमाह—शून्येति। प्रशस्तावधूतपूगनाम निर्दिशति—श्वेत-केत्विति। यः कोऽप्यव्यक्तिलङ्गः अस्खलितस्वस्वरूपानुसंधानेन कालं नयेदित्यर्थः। यदि कुटीचकादिः अवधूतचर्यामिच्छति तदा त्रिदण्डमिति। यदि परमहंसस्तदा कटिसूत्रं चेति। ततः किं इत्यत्र—

'' आत्ममात्रमिदं सर्वमात्मनोऽन्यन्न किंचन ।''

इति श्रुत्यनुरोधेन आत्मानमन्विच्छेत् । तत्त्वब्रह्ममार्गे तत्प्रापकज्ञान-वर्त्मिन । करपात्रेणान्येन वा आस्याहारेणेत्यर्थः । अयाचिताहारमाहरन् तत्रापि लामालामौ समौ भूत्वा निर्ममः । "शुक्कतेजोमयं ब्रह्म" इति श्रुत्यनुरोधेन शुक्रध्यानपरायणोऽध्यात्मिनष्ठः स्वातिरिक्तप्रपञ्चनिवृत्तिप्रवृत्ति-रूपशुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः यत् स्वातिरिक्तं तत् संन्यस्य पूर्णानन्दैकबोधः यज्ञाप्रज्ञाप्रदादिचतुष्पञ्चदशकलनापह्नवसिद्धं तद्भह्माहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्म-रन् भ्रमरकीटन्यायेन शरीरत्रयतिक्रिपितात्मात्मीयाभिमतिमुत्सृष्ट्य यः स्वातिरिक्तास्तित्वश्रमसंन्यासेनेव देहत्यागं करोति स कृतकृत्यो विदेहमुक्तो भवति इत्यर्थः । इत्युपनिषच्छव्दः तृतीयोपदेशसमाह्यर्थः ॥ ९०–९२ ॥

इति तृतीयोपदेश:

यतिधर्माणां तत्फलस्य चोपन्यासः

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयाणीन्द्रियाणि च । आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम् ॥ १ ॥ नामगोत्रादिवरणं देशं कालं श्रुतं कुलम् । वयो वृत्तं त्रतं शीलं ख्यापयेन्नेव सद्यतिः ॥ २ ॥

न संभाषेतिस्रयं कांचितपूर्वदृष्टां च न स्मरेत्। कथां च वर्जयेत्तासां न पश्ये छि खितामपि ॥ ३ ॥ एतचतुष्टयं मोहात्स्त्रीणामाचरतो यतेः । चित्तं विकियतेऽवश्यं तद्विकारात्प्रणश्यति ॥ ४ ॥ तृष्णा क्रोधोऽनृतं माया लोभमोहौ प्रियाप्रिये। शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागः परिग्रहः ॥ ५ ॥ अहंकारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम् । प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधगराशिषः । प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो त्रजेद्धः ॥ ६ ॥ आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सहदोऽपि वा । संमाननं च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥ ७ ॥ प्रतिग्रहं न गृह्वीयान्नैव चान्यं प्रदापयेत्। प्रेरयेद्वा तथा भिक्षुः स्वप्नेऽपि न कदाचन ॥ ८ ॥ जायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शुभाशुभम्। श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत शोकमोहौ त्यजेद्यतिः ॥ ९ ॥ अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः । अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादः स्थैर्यमार्जवम् ॥ १० ॥ अस्रोहो गुरुशुषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः । उपेक्षा वैर्यमाधुर्ये तितिक्षा करुणा तथा ॥ ११ ॥ ह्यीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगो लघ्वशनं घृतिः। एष स्वधर्मी विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम् ॥ १२ ॥ निर्द्धनद्वो नित्यसत्त्वस्थः सर्वत्र समदर्शनः । तुरीयः परमो हंसः साक्षान्नारायणो यतिः ॥ १३ ॥ एकरात्रं वसेद्वामे नगरे पञ्चरात्रकम्। सर्वाभ्योऽन्यत्र वर्षास मासांश्च चतुरो वसेत् ॥ १४ ॥ द्विरात्रं न वसेद्वामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा । रागाद्यः प्रसञ्चेरंस्तेनासौ नारकी भवेत् ॥ १९ ॥ ग्रामान्ते निर्जने देशे नियतात्मानिकेतनः । पर्यटेत्कीटवद् भूमौ वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ १६ ॥ एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलपः । अदूषयन्सतां मार्गे ध्यानयुक्तो महीं चरेत् ॥ १७ ॥ शुचौ देशे सदा भिक्षः स्वधर्ममनुपालयन् । पर्यटेत सदा योगी वीक्षयन्वसुधातलम् ॥ १८॥ न रात्रों न च मध्याह्वे संध्ययोर्नेव पर्यटन् । न शून्ये न च दुर्गे वा प्राणिबाधाकरे न च ॥ १९ ॥ एकरात्रं वसेद्वामे पत्तने तु दिनत्रयम् । पुरे दिनद्वयं भिक्षर्नगरे पञ्चरात्रकम् । वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते .. २०॥ आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्भिक्ष्यशेनमहीम् । अन्धवज्जडवचेव बिधरोन्मत्तमूकवत् ॥ २१ ॥ स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तं बहुदकवनस्थयोः । हंसे तु सकुदेव स्यात्परहंसे न विद्यते ॥ २२ ॥

मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता । निःस्पृहत्वं समत्वं च सप्तैतान्येकद्ण्डिनाम् ॥ २३ ॥ परमहंसाश्रमस्थो हि स्नानादेरविधानतः। अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत् ॥ २४ ॥ त्वङ्गांसरुधिरस्नायुमज्जामेदोऽस्थिसंहतौ । विण्मूत्रपूर्य रमतां किमीणां कियदन्तरम् । २५ ॥ क शरीरमशेषाणां श्लेष्मादीनां महाचयः। क चाङ्गशोभासोभाग्यकमनीयादयो गुणाः ॥ २६ ॥ मांसास्कपूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ । देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥ २७ ॥ स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्रिन्ननाडीव्रणस्य च । अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥ २८ ॥ चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्वारधूपितम् । ये रमन्ति नमस्तेभ्यः साहसं किमतः परम् ॥ २९ ॥ न तस्य विद्यते कार्यं न लिङ्गं वा विपश्चितः । निर्ममो निर्भयः शान्तो निर्द्धन्द्वोऽवर्णभोजनः ॥ ३० ॥ मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नय्नो वा ध्यानतत्परः । एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३१ ॥ लिङ्गे सत्यपि खल्वस्मिन् ज्ञानमेव हि कारणम् । निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गग्रामो निरर्थक: ॥ ३२ ॥

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।

न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ॥ ३३ ॥

तस्मादिलङ्को धर्मज्ञो ब्रह्मव्रतमनुत्रतम् ।

गूदधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ॥ ३४ ॥

संदिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः ।

अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ॥ ३५ ॥

तं दृष्ट्वा शान्तमनसं स्पृह्यन्ति दिवोकसः ।

लिङ्काभावान्तु कैवल्यमिति ब्रह्मानुशासनम् ॥ इति ॥ ३६ ॥

ब्रह्मातिरिक्तास्तिताहेतुधर्मपूगत्यागपूर्वकं ब्रह्ममात्रसिद्धिताहेतुयतिधर्मान् तत्फलं चोपन्यस्यति—'' त्यक्तवा '' इत्यादिना '' इति ब्रह्मानुशासनम् '' इत्यन्तेन । कदाचित् केनचिदपि स्वस्य नामगोत्रादिवरणम् । स्वपतनहेतुरागतः स्त्रीसंभाषणस्मरणतत्कथालापचित्रस्थवनितादर्शनादिकं यतिना त्याज्यमित्याह— नेति । किं च इदं में स्यात् इदं मा भूत् इति तृष्णा । माया परवश्चना । अनात्मशास्त्रच्याच्यानयोगश्च । आरामालयादिकर्तव्यविया याचनवृत्तिः । गर-इाब्देन विषमुच्यते । यं कंचन स्वनिकटमागतं आगच्छेति । कदापि प्रतिप्रहं न गृह्वीयात् । यदि कदाचित् जायादीनां शुभाशुमं श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत । तद्विषयक्शोकमोहौ त्यजेचितः । यतेः स्वधर्ममाह - अहिंसेति । क्षान्तिः सहनम् । यदृच्छया छघ्वशनम् । एवं धर्मपूगसंस्कृतो योगी नारायणो भवतीत्याह—-निर्द्धेन्द्र इति । यदि श्रवणध्यानादिव्यापृत्युपरतस्तदा एकरात्रमिति । ग्रामैकरात्रस्थिताविप ग्रामान्त इति । परमहंसोऽवधूतो वा यथेच्छाचरणतः सन्मार्गदूषणं न कुर्यात् इत्याह—एकवासा इति । अलोलुपः सर्वत्र लौल्य-वर्जित: । प्राण्यहिंसार्थ • वीक्षयन्निति । संचारप्रतिषेधकालदेशावाह—नेति । शून्ये निर्मानुष्ये । ग्रामादौ वासकालमाह—एकरात्रमिति । चातुर्मास्यानन्तरं आत्मवदिति । यथा अन्धादिः रूपादिभेदं न पश्यति तथेसर्थः । वन्यादीनां

स्नानित्यममाह—स्नानिमित । परमहंससेवनीयधर्मः कः इत्यत्र—मौनिमित्यादि । वागादिकरणव्यापृतिराहित्यमेव मौनम् । योगानुकूलपद्मासनं सिद्धासनं वा योगासनमुच्यते । प्रत्यगमिन्नब्रह्मानुसंधानं योगः । परमहंसस्य मनोमलक्षालनमेव स्नानिम्याह—परमहंसेति । ''स्नानं मनोमलत्यागः'' इति श्रुतेः । देहरतेः कृमिसाम्यमाह—त्विगिति । देहहेयधियं प्रकटयति— केति । प्राम्यविषयं कुत्सयति— स्नीणामिति । लिङ्गाद्यपेक्षया ज्ञानस्य प्राधान्यं विदुषः कृतकृत्यतां चाह—न तस्येति । ब्रह्मात्रदृष्टेः ब्राह्मणादिवर्णाश्रमभेदानुपलम्भात् अभिशास्तपतितवर्जनपूर्वकं ''सर्ववर्णेषु मैक्षाचरणं कुर्यात्' इति च श्रुतेः । अलिङ्गस्य ब्राह्मणत्वमाच्छे— यमिति । कश्चिल्लोकः यं मुनि सत्त्वेनासत्त्वेन विदृत्त्वेनाविदृत्त्वेन सुवृत्तत्वेन दुर्वृत्तत्वेन वा न वेद । एवं वेदनलिङ्गदर्शनात् स्वाह्मणः । यद्वा यः कश्चित योगी यमात्मानं देहत्रयात्मना सन्तं प्रत्यपूर्णण न चासन्तं स्वाज्ञादिदृष्ट्या कदापि नाश्चतं न बहुश्चतं वृत्तप्रकटनहेत्वन्तः-करणाभावान्न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं तत्सर्वापह्वसिद्धनिष्प्रतियोगिकस्वमात्रधिया वेद स मुनिः वेदनसमकालं ब्राह्मणो ब्रह्मविदृरिष्ठो ब्रह्मेव भवतीत्यर्थः । तथाच श्रुतिः—

'' य एवं निर्वीजं वेद निर्वीज एव स भवति ।'' इति, '' दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवळरूपतः । य आस्ते कपिशार्दूळ ब्रह्म न ब्रह्मवित् स्वयम् ॥'' इति च ॥

यस्मात् अलिङ्गस्यावधूतस्वातिरिक्तप्रपञ्चदृष्टेः ब्राह्मणत्वमभिहितं तस्मात् ॥ तं दृष्ट्वा स्वातिरिक्तक्रलनाशान्तमनसं तथा कदा भविष्याम इति स्पृह्यिनत दिवोकसः । स्वातिरिक्तास्तित्विलङ्गं यदा न प्रतिभाति तदैव केवल्यिमिति ब्रह्मा नारदमनुशास्तीत्पर्थः ॥ १–३६॥

#### क्रमसन्यासविधिनिरूपणम्

अथ नारदः पितामहं संन्यासिविधिं नो ब्रूहीति पप्रच्छ । पितामहस्तथेत्यङ्गीकृत्यातुरे वा क्रमे वापि तुरीयाश्रमस्वीकारार्थ

क्रच्छ्रप्रायश्चित्तपूर्वकमष्टश्राद्धं कुर्यात् देवर्षिदिव्यमनुष्यभूतिपतृमात्रा-त्मेत्यष्टश्राद्धानि कुर्यात्। प्रथमं सत्यवसुसंज्ञकान्विश्वान्देवान्, देवश्राद्धे ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान् , ऋषिश्राद्धे देवर्षिक्षत्रियर्षिमनुष्यर्षीन् , दिन्य-श्राद्धे वसुरुद्रादित्यरूपान्, मनुष्यश्राद्धे सनकसनन्दनसनत्कुमार-सनत्सुजातान् , भूतश्राद्धे पृथिन्यादिपञ्चमहाभूतानि चक्षुरादिकरणानि चतुर्विधभूतग्रामान्, पितृश्राद्धे पितृपितामहप्रपितामहान्, मातुः श्राद्धे मातृपितामहीप्रपितामही:, आत्मश्राद्धे आत्मपितृपितामहान्, जीवत्पितृकश्चेत्पितरं त्यक्त्वा आत्मपितामहप्रपितामहानिति । सर्वत्र युग्मक्लप्त्या ब्राह्मणानर्चयेत्। एकाध्वरपक्षेऽष्टाध्वरपक्षे वा स्व-शाखानुगतमन्त्रैरष्टश्राद्धान्यष्टदिनेषु वा एकदिने वा पितृयागोक्त-विधानेन ब्राह्मणानभ्यच्यं भुक्त्यन्तं यथाविधि निर्वर्त्यं, पिण्डप्र-दानानि निर्वर्त्य, दक्षिणाताम्बूलैस्तोषयित्वा ब्राह्मणान्प्रेषयित्वा, रोषकर्मसिद्धचर्थं सप्तकेशान्विसुज्य रोषकर्मसिद्धचर्थं केशान्सप्ताष्ट वा द्विजः संक्षिप्य वापयेत्केशश्मश्रुनखानि चेति सप्तकेशान्संरक्ष्य कक्षोपस्थवर्जे क्षौरपूर्वकं स्नात्वा, सायंसंघ्यावन्दनं निर्वर्त्य, सहस्र-गायत्रीं जप्त्वा, ब्रह्मयज्ञं निर्वर्त्य, स्वाधीनाग्निमुपस्थाप्य, स्व-शास्त्रोपसंहरणं कृत्वा, तदुक्तप्रकारेणाज्याहुतिमाज्यभागान्तं हुत्वा-हुतिविधिं समाप्य, आत्मादिभिस्त्रिवारं सक्तुप्राशनं कृत्वा, आच-मनपूर्वकर्मान्ने संरक्ष्य, स्वयमश्लेरत्तरतः कृष्णाजिनोपरि स्थित्वा, पुराणश्रवणपूर्वकं जागरणं कृत्वा, चतुर्थयामान्ते स्नात्वां, तद्शौ चरुं श्रपयित्वा, पुरुषसूक्तेनात्रं षोडशाहुतीर्हुत्वा, विरजाहोमं

कृत्वा, अथाचम्य, सदक्षिणं वस्त्रं सुवर्णं पात्रं धेतुं दत्त्वा, समाप्य, ब्रह्मोद्वासनं कृत्वा,

> '' सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सिमन्द्रः सं बृहस्पितः । सं मायमिशः सिञ्चत्वायुषा च धनेन च बलेन चायुष्मन्तं करोतु मा ॥ '' इति ॥

"या ते अग्ने यज्ञिया तन्त्रस्तयेह्यारोहात्मात्मानम् । अच्छा मसूनि कृण्वन्नस्मे नयी पुरूणि ॥ यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद स्वां योनिम् । जातवेदो भुव आजायमानः सक्षय एहि ॥"

इत्यनेनाग्निमात्मन्यारोप्य, ध्यात्वाग्निं, प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकमुद्धा-स्य, प्रातः संध्यामुपास्य, सहस्रगायत्रीपूर्वकं सूर्योपस्थानं कृत्वा, नाभिद्द्योदकमुपविश्य, अष्टदिकपालकार्ध्यपूर्वकं गायञ्युद्धासनं कृत्वा, सावित्रीं व्याहृतिषु प्रवेशियत्वा,

" अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपिवत्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोऽक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥"

" यरछन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोम्योऽध्यमृतात्संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् ॥"

''शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधयापिहितः । श्रुतं मे गोपाय ॥'' "दोरेषणायाश्च धनेषणायाश्च छोकेषणायाश्च न्युत्थितोऽहम् " "ओं भूः संन्यस्तं मया" "ओं भुवः संन्यस्तं मया" "ओं भुवः संन्यस्तं मया" "ओं भूर्भुवःसुवः संन्यस्तं मया" इति मन्द्रमध्यतारध्वनिभिर्मनसा वाचोच्चार्य, "अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वे प्रवर्तते स्वाहा" इत्यनेन जलं प्राइय, प्राच्यां दिशि पूर्णाञ्जलिं प्रक्षिण्य "ओं स्वाहा" इति शिखामुत्पाट्य,

> " यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं प्ररस्तात् । आयुष्यमञ्यं प्रतिमुख्य शुभ्रं यज्ञोपवीतं बल्लमस्तु तेजः ॥ " " यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत् त्वमन्तः प्रविश्य मध्ये ह्यजस्त्रम् । परमं पवित्रं यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छ ॥ "

इति यज्ञोपनीतं छित्ना, उदकाञ्चिता सह "ओं मूः समुद्रं गच्छ स्वाहा" इत्यप्सु जुहुयात्। "ओं मूः संन्यस्तं मया" "ओं सुनः संन्यस्तं मया" "ओं सुनः संन्यस्तं मया" इति त्रिस्कत्ना, त्रिनारमिमन्त्र्य तज्जलं प्राज्ञ्याचम्य, "ओं मूः स्वाहा" इत्यप्सु वस्त्रं किटसूत्रमि विस्नुन्य, सर्वकर्मनिर्वतंकोऽह-मिति स्मृत्ना, जातरूपधरो भूत्ना, स्वरूपानुसंधानपूर्वकमूर्ध्वनाहु-रुदीनीं गच्छेत्॥ ३७॥

पूर्ववद्विद्वत्संन्यासी चेत् । गुरोः प्रणवमहावाक्योपदेशं प्राप्य, यथासुखं विहरन्मत्तः कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इति, फलपत्रोदकाहारः, पर्वतवनदेवतालयेषु संचरेत् । संन्यस्याथ

दिगम्बरः सकलसंचारकं सर्वदानन्दस्वानुभवैकपूर्णहृदयः कर्माति-दूरलाभः प्राणधारणपरायणः फलरसत्वकपत्त्रमूलोद्कैमीक्षार्थी गिरिकन्दरेषु विस्रजेद्देहं स्मरंस्तारकम् ॥ ३८॥

विविदिषासंन्यासी चेच्छतपथं गत्वाचार्यादिभिर्विप्रैः 'तिष्ठ तिष्ठ महाभाग, दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं गृहाण, प्रणवमहावाक्यग्रहणार्थं गुरुनिकटमागच्छेत् ' इत्याचार्येर्दण्डकटिसूत्रकोपीनं शाटीमेकां कमण्डलुम्, पादादिमस्तकप्रमाणमत्रणं समं सोम्यमकाकपृष्ठं सलक्षणं वैणवदण्डमेकमाचमनपूर्वकम्

" सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघः रार्म मे भव यत्पापं तन्निवारय ॥"

इति दण्डं परिग्रहेत्। 'नगज्जीवनं जीवनाधारभूतं माते मा मन्त्रयस्य सर्वदा सर्वसौम्य' इति प्रणवपूर्वकं कमण्डलुं परिगृद्ध, 'कौपीनाधारं कटिसूत्रमोम्' इति 'गुद्धाच्छादकं कौपीनमोम्' इति 'शीतवातोष्णत्राणकरं देहैकरक्षणं वस्त्रमोम्, इति कटिसूत्र-कौपीनवस्त्रम्, आचमनपूर्वकं योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा, कृतार्थोऽह-मिति मत्वा स्वाश्रमाचारपरो भवेत्। इत्युपनिषत्॥ ३९॥

ब्रह्मणेवमनुशासितो नारदः क्रमसंन्यासविधिबुभुत्सया पितामहं पृच्छती-त्याह—अथेति । पितामहस्तु नारदप्रश्लमङ्गीकृत्य प्रतिवचनमाह—तथेति । प्राजापत्यादिकुच्छ्रप्रायश्चित्तपूर्वकमष्टश्चाद्धं कुर्यात् ॥ अष्टश्राद्धानि कानि इत्यत्र—देवपीति । देवादिश्राद्धे विश्वेदेवादिवरणक्रममाह—प्रथममिति । सायं-सन्ध्यादिशेषकमसिद्धयर्थम् । वक्ष्यमाणमन्त्रद्वयेन प्रकृताग्निमात्मसमारोपणं कुर्यादिलाह—सं मा सिश्विन्तित्वलादिना । अहं वृक्षस्येलादिमन्त्रह्यं पठित्वा प्रेषोच्चारणं कुर्यादिलाह—अहमिति । अहं वृक्षस्येति मन्त्रह्यं पठित्वा अथ दारेषणायाश्चेति । यदि पूर्ववत् विद्वत्संन्यासी चेत् तदा गुरोरिति । अहमेव परमात्मा मत्तः कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्तः । ततः किम्—इल्पत्र यद्येवं विद्वत्संन्यासी स्वातिरिक्तप्रपञ्चवासनां संन्यस्याथ दिगम्बरः सकललोकसंचारकं तद्भममुत्सुच्य सर्वदानन्दस्वानुभवेकपूर्णहृद्यः विश्रान्ति पूर्णानन्दात्मस्वान्तः कर्मातिदूरलाभः सर्वकर्मलागळव्यहर्षः केवलप्राणधारण-परायणः । ततो विमुक्तो भवतीत्यत्र—-

"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥"

इति स्मृतेः । यद्ययं विविदिषासंन्यासीति । सखा मा गोपाय— इति मन्त्रेण दण्डं परिप्रहेत् । कटिसूत्रकौपीनवस्त्रं आचमनपूर्वकं स्वीकृत्य गुरुनिकटं गत्वा तन्मुखात् प्रणवमहावाक्योपदेशं प्राप्य स्वाश्रमोचिताचारं कुर्वन् संशयादिपञ्चदोषनिवृत्त्यन्तं सर्ववेदान्तश्रवणादि कृत्वा यदि कृतार्थस्तदा योगपद्टाभिषिक्तो भूत्वा। चतुर्थोपदेशसमास्यथोऽयमित्युपनिषच्छव्दः ॥३७–३९॥

इति चतुर्थोपदेश:

## कर्मसंन्यासस्वाश्रमाचरणयोरविरोधः

अथ हैनं पितामहं नारदः पप्रच्छ । भगवन् सर्वकर्मनिवर्तकः संन्यास इति त्वयैवोक्तः पुनः स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युच्यते । ततः पितामह उवाच । शरीरस्य देहिनो नाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्या-वस्थाः सन्ति । तदधीनाः कर्मज्ञानवैराग्यप्रवर्तकाः पुरुषा जन्तवस्त-दनुकूछाचाराः सन्ति । तथैव चेद्धगवन् संन्यासाः कतिमेदास्त-

दनुष्ठानभेदाः कीदृशास्तत्त्वतोऽस्माकं वक्तुमईसीति । तथेत्यङ्गीकृत्य तं पितामहेन ॥ १ ॥

कर्मस्यागकर्माचरणयोः विरोधं मन्यमानो नारदः पृच्छतीस्याह — अथेति । पितामहं नारदः पप्रच्छ । किमिति — भगविन्नित । नारदेनैवं पृष्टः सन् प्रश्लोत्तरं भगवानाह — नत् इति । ततः पितामह उवाच । किमित्यत्र — शरीरस्येति । देहत्रयाविच्छन्नजीवस्य जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्ठयवत्त्वेन कर्मभितिन्वेराग्यज्ञानसंभवात् । एवमवस्थाचतुष्टयाविच्छन्नप्राणिनः तदनुकूछाचारा भवन्तीति स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युत्तम् । स्वाश्रमाचारपंत्रत्ति ब्रतिगृहिविन्सेच्य-श्रोतस्मार्तकर्मसामान्यसंन्यासपूर्वकं प्राणधारणोपयोगिपरिग्रहश्रवणादिसाधनसंपत्तिरित्यर्थः । एकस्येव सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकं स्वाश्रमाचारपरत्वमुपपद्यते । नारदेन यत् पृष्टं तत् तथेत्यङ्गीकृत्य तं प्रति पितामहंनैवमुक्तम् ॥ १॥

# संन्यासचातुर्विध्यम्

संन्यासभेदैराचारभेदः कथमिति चेत्—तत्त्वतस्त्वेक एव संन्यासः, अज्ञानेनाशक्तिवशात्कर्मछोपतश्च त्रैविघ्यमेत्य, वैराग्य-संन्यासो ज्ञानसंन्यासो ज्ञानवैराग्यसंन्यासः कर्मसंन्यासश्चेति चातु-विघ्यमुपागतः ॥ २ ॥

किमिति — संन्यासभेदैः आचारभेदः कथमिति चेत् इत्येवं मन्यसे यदि तदा शृण्वेतत्। स केन भिद्यत इत्यत्र— अज्ञानेनेति। त्रैविध्यमेत्य वर्तते। विद्वद्विविद्वातुरभेदात् स पुनश्चातुर्विध्यमुपगत इत्याह—वैराग्येति॥२॥

#### वैराग्यसंन्यासः

तद्यथेति । दुष्टमद्नाभावाचेति विषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्य-कर्मवशात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥ ३ ॥ तथैव प्रतिपाद्यते सर्वानर्थहेतुदुष्टमदनाभावाचेति । चशब्दतस्तत्प्रतीत्य-भावो द्योत्यते । विषयसामान्यवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्मवशात् संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी । स्वातिरिक्तनश्वरहेयबुद्भ्या यः सर्वत्यागः स वैराग्यसंन्यास इत्यर्थः ॥ ३ ॥

#### ज्ञानसंन्यास:

शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतः क्रोधेर्ध्या-सूयाहङ्काराभिमानात्मकसर्वसंसारं निर्वर्त्य दारैपणाधनेषणालोकेष-णात्मकदेहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां च त्यक्तवा वमनान्नमिव प्राकृतिर्यं सर्वमिदं हेयं मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसंन्यासी ॥ ४ ॥

ज्ञानसंन्यासस्वरूपमाह—शास्त्रेति ॥ ४ ॥

## ज्ञानवैराग्यसंन्यासः

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानु-संघानेन जातरूपघरो भवति सोऽयं ज्ञानवैराग्यसंन्यासी ॥ ९ ॥

विशिष्टज्ञानवैराग्यसंन्यासमाह — क्रमेणेति । क्रमेण वेदान्तजातं सर्व-मभ्यस्य सर्वमनुभूय सर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति ज्ञानं ब्रह्मातिरिक्तसर्वस्यासंभवाळोचनं वैराग्यं ताभ्यां ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानु-सन्धानेन सर्वं विस्मृत्य यो जातरूपधरो भवति सोऽयं ज्ञानवैराग्यसंन्यासी इत्यर्थः ॥ ९॥

#### कर्मसंन्यासः

ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्या-भावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्येण संन्यस्य संन्यासाज्ञातरूपघरो वैराग्यसंन्यासी । विद्वत्संन्यासी ज्ञानसंन्यासी । विविदिषासंन्यासी कर्मसंन्यासी ॥७॥

कर्मसंन्यासस्वरूपं विश्वादयति -- ब्रह्मचर्यमिति । विधिवत् ब्रह्मचर्ये समाप्येति । विषयानभिज्ञतया ब्रह्मचर्यसंन्यस्तं स्तौति -- ब्रह्मचर्येणेति । तस्य सर्वोत्मभावारूदतया पश्यद्दृष्टिवैचित्रयात् सर्वरूपत्वमुपपद्यत इत्यर्थः ॥६, ७॥

# निमित्तानिमित्तभेदेन कर्मसंन्यासस्य द्वैविध्यम्

कर्मसंन्यासोऽपि द्विविधः निमित्तसंन्यासोऽनिमित्तसंन्यास-श्चेति । निमित्तस्त्वातुरः अनिमित्तः क्रमसंन्यासः । आतुरः सर्वकर्मछोपः प्राणस्योत्क्रमणकाल्रसंन्यासः स निमित्तसंन्यासः । दृढाङ्गो भूत्वा सर्व कृतकं नश्चरमिति देहादिकं सर्व हेयं प्राप्य ॥८॥ हँसः शुचिषद्रसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदितिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदतसद्वचोमसद्ब्जा गोजा ऋतजा अद्गिजा ऋतं बृहत् ॥९॥ ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्व नश्चरमिति निश्चित्य क्रमेण यः संन्यस्यित स संन्यासोऽनिमित्तसंन्यासः ॥ १०॥

निमित्तानिमित्तभेदेन कर्मसंन्यासस्य द्वैविध्यमाह—कर्मेति । निमित्ता-निमित्तराब्दार्थमाह—निमित्तस्त्वातुरः, अनिमित्तः क्रमसंन्यास इति । निमित्तसंन्यासार्थ विशदयति—आतुर इति । अनिमित्तस्यरूपमाह—दृढाङ्ग इति । ऋतं खृहत् इति मन्त्रानुरोधेन ब्रह्मेवर्त ब्रह्मञ्यतिरिक्तं सर्व नश्वरम् ॥ ८–१०॥

कुटीचकादिभेदेन संन्यास: षड्विय:

संन्यासः षड्विधो भवति, कुटीचको बहूदको हंसः परम-हंसस्तुरीयातीतोऽवधूतश्चेति ॥ ११ ॥ कतिविधः संन्यासः इत्यत्र कुटीचकादिभेदेन षड्विधः इत्याह—संन्यास इति । तत् कथं कुटीचक इति ॥ ११ ॥

# कुटीचकलक्षणम्

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्था-धरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोध्र्वपुण्ड्धारी त्रिदण्डः ॥ १२ ॥

#### बहृदकलक्षणम्

बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकबलाशी ॥ १३ ॥

#### हंसलक्षणम्

हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोध्वेपुण्ड्रधारी असंक्ळप्तमाधूकरा-न्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी ॥ १४ ॥

#### प्रमहंसलक्षणम्

परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पश्चगृहेष्वेकरात्रान्नाद्नपरः करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा मस्मोद्भूलनपरः सर्वत्यागी ॥ १९ ॥

तेषां लक्षणं क्रमेण स्पष्टयति—कुटीचक इति । त्रिपुण्ड्रोध्वंपुण्ड्रधारी त्रिपुण्ड्रं ऊर्ध्वपुण्ड्रं वा यथासंभवं धरति नोभयमित्यर्थः । असंक्लप्तमाधू-करात्राशी अस्य गृहेऽद्य माधूकरं मे स्यादिति संकल्परहितः ॥ १२–१५॥

## तुरीयातीतलक्षणम्

तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी, अन्नाहारी चेद्गृहत्रये, देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥ १६ ॥

## अवधूतलक्षणम्

अवधूतस्त्वनियमोऽभिशस्तपतितवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगर-वृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः ॥ १७ ॥

गोमुखः गोवत् यदृच्छालब्धान्नमुखप्रसनात् । तथा च वक्ष्यति— ''आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः'' इति । कुणपवच्छरीरवृत्तिकः यथा कुणपो निश्चेष्टः तथा निर्विकलपकसमाधिकबळितव्यापृतित्वात् ॥ १६, १७॥

जीवतः आतुरस्य क्रम्संन्यारः

आतुरो जीवति चेत्ऋमसंन्यासः कर्तव्यः ॥ १८ ॥

यद्यातुरो जीवित तेन किं कर्तव्यमित्यत आह—आतुर इति । गुरुमुखतः ्रणवमहावाक्यादिस्वीकार एव क्रमसंन्यासः न त्वष्टश्राद्धादिः तस्य प्रेषोच्चारण-समकाळमिक्रयत्वात् ॥ १८॥

## कुटीचकादीनां संन्यासिविधः

कुटीचकबहूदकहंसानां ब्रह्मचर्याश्रमादितुरीयाश्रमवत्कुटीच-कानां संन्यासविधिः ॥ १९ ॥

कुटीचकादीनां संन्यासविधिः क्यं इत्यत आह—कुटीचकेति । कुटीच-कानां संन्यासविधिः समानः ॥ १९॥

## परमहंसादित्रयाणां संन्यासविधिः

परमहंसादित्रयाणां न किट्सूत्रं न कीपीनं न वस्त्रं न कम-ण्डलुर्न दण्डः सर्ववणेंकभैक्षाटनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधिः। संन्यास-कालेऽप्यलंबुद्धिपर्यन्तमधीत्य तदनन्तरं किटिसूत्रं कीपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं सर्वमण्सु विस्रज्याथ जातरूपधरश्चेत्र कन्थालेशः नाध्येतव्यो न वक्तव्यो न श्रोतव्यमन्यितंकचित्। प्रणवादन्यं न तर्क पठेन्न शब्दमपि। बहूञ्चञ्दान्नाध्यापयेन्न महद्वाचो विग्लापनं गिरा, पाण्यादिना संभाषणं, नान्यभाषाविशेषेण, न शूद्रस्त्रीपतितो-दक्यासंभाषणम्, न यतेदेंवपूजानुत्सवदर्शनं तीर्थयात्रावृक्तिः॥२०॥

परमहंसादित्रयाणां परमहंसतुर्यातीतावधूतानाम् । यदि परमहंसश्रवणार्थी तदा दण्डादिकं स्वीकृत्य संश्यादिपञ्चदोषशान्तिपूर्वकं यावद्रह्मापरोक्षो जायते तावत्सर्वकर्मसंन्यासकालेऽपि संन्यासदशायामपि ।

''शृण्यन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम् ''

इति श्रुत्यनुरोधेन अळंबुद्धिपर्यन्तमधीत्य श्रवणादिजन्यज्ञाने सिद्धे । तद-नन्तरमिति । अवधूताश्रमेऽपि कन्थादिकं ग्राह्यमेवेत्यत आह—नेति । यितक-चिदिपि नाध्येतव्यः । गिरा वृथाकत्थनम् । पाण्यादिना संभाषणं हस्तादि-संज्ञया व्यापृतिपरो न भवेदित्यर्थः । स्वभिन्निधिया न यतेर्देवपूजानुत्सवदर्शनम् । यितना तत्रापि स्वात्मदर्शनमेव कार्यमित्यर्थः । तथा तीर्थयात्रावृत्तिः ॥ २०॥

# कुटीचकादीनां भिक्षाविशेष:

पुनर्यतिविशेषः । कुटीचकस्यैकत्र भिक्षा, बहूदकस्यासं-क्लप्तमाधूकरम्, हंसस्याष्टगृहेष्वष्टकबल्लम् , परमहंसस्य पञ्चगृहेषु करपात्रम्, फलाहारो गोमुखं तुरीयातीतस्य, अवधूतस्याजगरवृत्तिः सार्वविणिकेषु । यतिर्नेकरात्रं वसेत् । नैकस्यापि नमेत् । तुरीयातीतावधूतयोर्न ज्येष्ठः । यो न स्वरूपज्ञः स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठः । हस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षमारोहेन्न यानाधिरूढो न क्रयविक्रयपरो न किंचिद्विनिमयपरो न दाम्भिको नानृतवादी । न यतेः किंचित्कर्तव्यमस्ति । अस्ति चेत्सांकर्यम् । तस्मान्मननादौ संन्यासिनामधिकारः ॥ २१ ॥

पुनर्यतिविशेषः । कुटीचकादीनां मिक्षाविशेष उच्यते — कुटीचकस्येति । यत्र कुत्रापि यतिः नैकरात्रं वसंत्र कस्यापि नमेत् गुरुज्येष्टादिवन्दनं कार्य-मिति चेत्तत्र — तुरीयातीतेति । तुरीयातीतादेः ज्ञानज्येष्टत्वात् तस्य प्रवृत्ति-निवृत्तपराङ्मुखत्वेन किचिदपि कर्तव्याभावमाह — हस्ताभ्यामिति । कदापि न यतेः किंचित् कर्तव्यमस्ति । अस्ति चेत् तदा भवति साङ्कर्यम् । यस्मात् एवमुक्ताचरणतो बत्यादिसाङ्कर्यं भवति तस्मात् । आदिशब्देन ब्रह्मभावापत्त्या प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रासत्र्र्णीमवस्यानं द्यात्यते ॥ २१ ॥

#### तेषां प्राप्यस्थानानि

आतुरकुटीचकयोर्भूलीकमुवर्लीको, बहृदकस्य स्वर्गलोको, हंसस्य तपोलोकः, परमहंसस्य सत्यलोकः, तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ॥ २२ ॥ यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम् ॥ २३ ॥

ज्ञानाविकलकुटीचकादीनां प्राप्यमुच्यते — आतुरेति । यदि सविशेषज्ञानी तदा तस्य परमहंसस्य सत्यलोकः । यदि निर्विशेषब्रह्मज्ञानिनौ तुर्यातीतावधूतौ

भवतः तदा तयोः तुर्यातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव केवल्यम् । यत एवं स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ब्रह्मभावापित्तर्भवति अत एव स्वस्व-रूपानुसंधानं सदा कार्यमित्यर्थः । किमर्थं सदा स्वरूपानुसंधानं कर्तव्यमित्याकां-क्षायां निर्विशेषज्ञानिनो ज्ञानसमकाल्येय मुक्तत्वेऽपि सविशेषज्ञानिनस्तदभावात् सदा स्वरूपानुसंधानं कर्तव्यमित्याह— यमिति । चरमदशायां यं यं वापीति। तथाच स्मृतिरिप—

''अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्तवा कलेबरम्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥'' इति॥ २२, २३॥

# त्रह्मानुसन्धानमेत्र कर्तव्यम्, नान्यत्

तदैवं ज्ञात्वा स्वरूपानुसंघानं विनान्यथाचारपरो न भवेत्। तदाचारवशात्तत्त्छोकप्राप्तिर्ज्ञानवैराग्यसंपन्नस्य स्वस्मिन्नेव मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसक्तिस्तदाचारः । नाग्रतस्वप्रसुषुप्तिष्वेकशरीरस्य नाग्रत्काले विश्वः स्वप्नकाले तैनसः सुषुप्तिकाले प्राज्ञः । अवस्था-भेदाद्वस्थेश्वरभेदः । कार्यभेदात्कारणभेदः । तासु चतुर्दशकरणानां बाह्यवृत्तयोऽन्तर्वृत्तयस्तेषामुपादानकारणम् । वृत्तयश्चत्वारः मनोबुद्धि-रहंकारश्चित्तं चेति । तत्तद्वृत्तिव्यापारभेदेन पृथगाचारभेदः ॥ २४ ॥

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्तं समाविशेत् ।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्घ्वि संस्थितम् ॥ २५ ॥
तुरीयमक्षरिमिति ज्ञात्वा जागरिते सुषुप्त्यवस्थापन्न इव
यद्यच्छूतं यद्यदृष्टं तत्तत्सर्वमविज्ञातिमव यो वसेत्तस्य स्वप्नावस्थाया-

मिष ताद्दगबस्था भवति । स जीवनमुक्त इति वद्नित । सर्वश्रुत्यर्थ-प्रतिपादनमिष तस्यैव मुक्तिरिति । भिश्चुनैहिकामुिमकापेक्षः । यद्यपेक्षास्ति चेत् तद्वुरूपो भवति । स्वरूपानुसन्धानव्यतिरिक्तान्य-शास्त्राभ्यासेः उष्ट्रकुङ्कुमभारवद्वचर्यः । न योगशास्त्रप्रवृक्तिर्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्रव्यापारः । इतरशास्त्रप्रवृक्तिर्यतेरस्ति चेच्छवाछंकारवत् । चर्मकारवद्तिविदूरकर्माचारविद्यादूरः । न प्रणव-कीर्तनपरः । यद्यत्कर्म करोति तक्तत्फलमन्त्रभवति । एरण्डतेलफेनवदतः सर्वे परित्यज्य तत्प्रसक्तं मनोदण्डं करपात्रं दिगम्बरं दृष्ट्वा परित्रजे-द्विश्चः । बालोन्मक्तपिशाचवन्मरणं जीवितं वा न काङ्क्षेत, कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशभृतकन्यायेन परित्राडिति ॥ २६ ॥

यदेवं श्रुतिस्मृतिष्वाम्नातं तदैवं ज्ञात्वा सिवशेषज्ञानी स्वरूपानुसंधानं विनान्यथाचारपरो न भवेत् ब्रह्माहमस्मीति सदानुसंधानं कुर्यादित्यर्थः । अन्यधाचारपरत्वे बाधकमाह—तदाचारवशात्तत्त्रहोकप्राप्तिरिति । निर्विशेषज्ञानिनोऽपि तथा स्यादिति चेन्न तस्य निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रभावापन्नत्वेन स्वातिरिक्तप्रवृत्तिनिवृत्तिकलपनासंभवात् । सिवशेषज्ञानिनोऽपि तथा स्यादिति चेन्न सिवशेषज्ञानिनः खातिरिक्तजाप्रदादिप्रपञ्चप्रतीतिसंभवात् । ब्रह्मानुसंधानं विनान्यथाचारपरो न भवेदित्याह—ज्ञानेति । अपरब्रह्मगोचरज्ञानवेराग्यसंपन्नस्य स्विस्मन्नेव मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसिक्तः यदि सर्वत्राचारप्रसिक्तः तदाचारोऽनर्थाय भवेदित्यर्थः । तत् कथं इत्यत्र स्वातिरिक्तजाप्रदादिविभ्रमावृतदृष्ट्या जाप्रतस्वप्रमुष्ठिति न सर्वत्राचारप्रसिक्तः यदि सर्वत्राचारप्रसिक्तः तदाचारोऽनर्थाय भवेदित्यर्थः । तत् कथं इत्यत्र स्वातिरिक्तजाप्रदादिविभ्रमावृतदृष्ट्या जाप्रतस्वप्रमुष्ठिति न सर्वत्राच्या तदविच्छन्नजीवस्यावस्थामेदेन नामव्यापारादिकं भिद्यते तद्यथा जाप्रतकाछ इति । तासु जाप्रदाद्यवस्थासु वागादिचतुर्दशकरणानां बाह्यवृत्तयोऽन्तर्वृत्तयः सन्ति । चत्वारः चतस्रः । कास्ताः इत्यत्र—मन इति । तासां पृथगाचारभेदः । तत् कथं नेत्रस्थिमित । विश्वादिक्तपेण नेत्रादिप्रविभक्तन

जाप्रदाद्यवस्थात्रयं भासयन् योऽहं मूर्झि तुर्यरूपेणावस्थितोऽस्मि सोऽहमात्मानं तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा तज्ज्ञानमहिम्ना कृतकृत्यो भवामि । किंच — जागरित इति । यथा सुषुत्यवस्थापन्नो विषयजातं न हि विजानाति तथा जागरितेऽपि श्लोत्रादिकरणेन यद्यत् श्रुतं यद्यत् दृष्टं तत् सर्वमविज्ञातमिव यो वर्तते तस्य स्वमावस्थायामपि सुषुप्तविद्वषयभेदं न हि गृह्णाति स जीवन्मुक्त इति वदन्ति । तथा च वक्ष्यति —

''स्वप्नेऽपि यो हि युक्तस्य जाप्रतीव विशेषतः। ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम्॥''

इति । तथाविधस्यापि यदि स्वातिरिक्तिविषयाकांक्षा स्यात् तदा तस्मिन् काले विदेहो देहस्मरणवर्जितः—''ईषन्मात्रं स्मृतं चेद्यस्तदा सर्वसमन्वितः'' इति श्रुत्यनुरोधेन स्वरूपतः च्युतिः स्यादियाह—भिक्षुरिति । यद्यपेक्षास्ति चेत्तद्गुरूपो भवति । अन्यशास्त्राभ्यासेः अन्यशास्त्राभ्यासः । यत एवं स्वातिरिक्तास्तित्वप्रवृत्तितो महाननर्थो जायते । निर्विकलपक्रब्रह्मानुसंधानं स्वात्मानं करपात्रं दिगम्बरं अवधूतप्रवृत्तिनिवृत्तिं दृष्ट्वा परित्रजेत् भिक्षः कदापि । बालोन्मत्तेति निर्देशनिर्वेशभृतकन्यायेन परित्राखिति ॥ २४–२६ ॥

अननुसन्धाने पातित्यम्

तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ।

भिक्षामात्रेण जीवी स्यात्स यतिर्यतिवृत्तिहा ॥ २७ ॥

न दण्डधारणेन न मुण्डनेन

न वेषेण न दम्भाचारेण मुक्तिः ॥ २८ ॥

ज्ञानदण्डो घृतो येन एकदण्डी स उच्यते ।

काष्ठदण्डो घृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः ।

स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञिकान् ॥ २९ ॥

# प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठासमा गीता महर्षिभिः । तस्मादेनां परित्यज्य कीटवत्पर्यटेद्यतिः ॥ ३०॥

सिवशेषज्ञानी निर्विशेषज्ञानसाधनमननुष्टाय केवळवेषमात्रतः साधुवृत्तिकर्शको भूत्वा स्वयमिप नश्यतीत्याह — तितिक्षेति । निर्विशेषज्ञानमुख्यसाधनितिक्षा- ज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः । "न च संन्यसनादेव सिद्धि समिधगच्छिति" इति स्मृतेः ॥ परमदयावती श्रुतिरियं परिव्राजकधर्मपूर्गं बहुप्रकारेण प्रतिपाद्यापि पुनः पुनः जामितां त्यक्त्वा प्रकटयतीत्याह — ज्ञानेत्यादिना । तिष्कपर्यये काष्ठदण्ड इति । अयं सर्वोत्तम इति ॥ २७–३० ॥

तुर्यातीतानां भोजनादिकं अन्यदीयेच्छयैव
अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत्।
परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात्परेच्छया ॥ ३१॥

तुर्यातीतादे: स्नानादिकं परेच्छ्या स्यादित्याह—आयाचितमिति ॥ ३१॥

## ब्रह्मविद्वरिष्ट:

स्वप्नेऽिष यो हि युक्तः स्याज्ञाग्रतीव विशेषतः । ईद्दक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो विरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥ ३२ ॥ अलाभे न विषादी स्याङ्काभे चैव न हर्षयेत् । प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गविवर्जितः ॥ ३३ ॥ अभिपूजितलाभाश्च जुगुप्सेतैव सर्वशः । अभिपूजितलाभैस्को यतिर्मुक्तोऽिष वध्यते ॥ ३४ ॥ कोऽयं ब्रह्मनिष्टः इत्यत्र—स्वप्नेऽपीति ॥ लाभादौ हर्षादिदृष्टः ब्रह्मनिष्ठता कुतः इत्यत्र—अलाभे इति । मात्रासङ्गविवर्जितः शब्दादितन्मात्रासङ्गो भूत्वा प्राणधारणातिरिक्तव्यापृतिर्न भवेदित्यर्थः । भक्तजनप्रेमविषयाणामसङ्गता कुतः इत्यत्र—अभिपूजितेति । लाभैस्को लाभस्कः लाभवानित्यर्थः ॥ ३२–३४ ॥

#### यतीनां भोजनादिनियमाः

प्राणयात्रनिमित्तं च व्यङ्गारे भुक्तवज्ञने ।
काले प्रशस्तवर्णानां भिक्षार्थं पर्यटेद्गृहान् ॥ ३५ ॥
पाणिपात्रं चरन्योगी नासकृद्धैक्षमाचरेत् ।
तिष्ठनभुज्याचरनभुज्यानमध्ये नाचमनं तथा ॥ ३६ ॥
अब्धीव घृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः ।
नियति न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥ ३७ ॥
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ३८ ॥
अनिन्दं वै वजनगेहं निन्दं गेहं तु वर्जयेत् ।
अनावृते विशेद्द्वारि गेहे नैवावृते व्रजेत् ॥ ३९ ॥
पांसुना च प्रतिच्छन्तशून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥ ४० ॥

परमहंसादीनां माधूकरकरपात्रास्याहारप्रकारमाह— प्राणेति । प्रामाद्गहिर्नृक्ष-. मूले स्थित्वा यथोक्तकाले प्राणयात्रानिमित्तिभिक्षार्थे प्रामं प्रविश्य यथाविधि भिक्षामटेदित्यर्थः ॥ ततः करपात्रनियममाह—-पाणिपात्रमिति ॥ कृतार्थानामेवं नियतिः का इत्यत्र—अब्धीवेति ॥ माधूकरादिवृत्तित्रयेऽपि अनिन्धमिति ॥ तद्वसतिमाह—पांसुनेति ॥ ३९-४० ॥

## यतेः जितेन्द्रियत्त्रम्

यत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः। यथालब्धोपजीवी स्यानमुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ ४१ ॥ निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयज्ञो जितेन्द्रियः । कालकाङ्क्षी चरन्नेव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४२ ॥ अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः। न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमृत्पद्यते कचित् ॥ ४३ ॥ निर्मानश्चानहङ्कारो निर्द्धनद्विश्वन्नसंशयः। नैव कुघ्यति न द्वेष्टि नानृतं भाषते गिरा ॥ ४४ ॥ पुण्यायतनचारी च भृतानामविहिंसकः । काले प्राप्ते भवेद्भेक्षं कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ ४५ ॥ वानप्रस्थगहस्थाभ्यां न संसुज्येत कर्हिचित । अज्ञातचर्यो लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत । अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवद्विचरेन्महीम् ॥ ४६ ॥

मनुष्यावासपुरप्रामात् **निष्क्रम्य** । प्रारब्धक्षय**कालकाङ्क्ष्ती** ॥ प्राणिमात्र-मात्मिधयाहिंसन् । किं च स्वान्यत्र— निर्मानश्चेति । **ब्रह्मभूयसे** ब्रह्मभावाय समर्थ्यत इत्यर्थः ॥ ४१–४६ ॥

यतेः सर्वकर्मपरित्यागः

आशीर्युक्तानि कर्माणि हिंसायुक्तानि यानि च । लोकसंग्रहयुक्तानि नैव कुर्यात्र कारयेत् ॥ ४० ॥

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविंकाम् । अतिवादांस्त्यजेत्तर्कान्पक्षं कंचन नाश्रयेत् ॥ ४८ ॥ न शिष्याननुबधीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्वहृत्। न व्याख्यामुपयुङ्जीत नारम्भानारभेतकचित् ॥ ४९ ॥ अन्यक्तलिङ्गोऽन्यक्तार्थो मुनिरुन्मत्तवालवत् । कविर्मूकवदात्मानं तदृष्ट्या दर्शयेत्रणाम् ॥ ५० ॥ न कुर्यात्र वदेतिंकचित्र ध्यायेत्साध्वसाधु वा । आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मृनिः ॥ ५१॥ एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रयः । आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्समदर्शनः ॥ ५२ ॥ बुधो बालकवत्क्रीडः कुशलो जडवचरेत्। वदेदुन्मत्तवद्विद्वानगोचर्यो नैगमश्चरेत् ॥ ५३ ॥ क्षिप्तोऽनमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽपि वा । ताडित: संनिरुद्धो वा वृत्त्या वा परितापित: ॥ ५४ ॥ विष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः । श्रेयस्कामः कुच्छ्गत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥ ५५ ॥ ं संमाननं परां हानिं योगद्धें: कुरुते यत: । जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥ ५६ ॥ तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममद्रषयन् । जना यथावमन्येरन्गच्छेयुर्नेव संगतिम् ॥ ५७ ॥

जरायुजाण्डजादीनां वाङ्मनःकायकर्मभिः । युक्तः कुर्वीत न द्रोहं सर्वसङ्कांश्च वर्जयेत् ॥ ९८ ॥ कामकोधौ तथा दर्पलोभमोहादयश्च ये । तांस्तु दोषान्परित्यन्य परित्राड् भयवर्जितः ॥ ९९ ॥

तेनापि छोकसंग्रहार्थं कर्म कर्तव्यमित्यत आह—आशीरित । परैर्वापि न कारयेत् ॥ यदि श्रेयोऽथीं मुनिस्तदा नासच्छास्त्रेष्वित । स्वयं अतिवादांस्त्य-जेत्तर्कान् वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये पक्षं कंचन नाश्रयेत् ॥ स्वयशोनिमित्तं न शिष्याननुबन्धीत । अनात्मशास्त्रोदेशेन न व्याख्यामुपयुश्जीत । नारम्भानार-भेत् कचित् निस्संकल्पो भवेदित्यर्थः ॥ सर्वज्ञोऽपि कविः ॥ मुनिः ससहायः संचरेदित्यत आह—एक इति ॥ ब्रह्मातिरिक्तयोर्याथात्म्यं बुधो वाळकवत्क्रीडः सर्वार्थकुशको जडवचरेत् वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् निगमार्थतत्त्वज्ञोऽपि गोचर्या इदमस्तु इदं मास्त्वित न प्रकटयन्तीं नेगमश्चरेत् ॥ काळकर्मयोगतः परैः श्चिप्त इति । ब्रह्मयाथात्म्यानुसंघानयोगेन ऋद्विस्तन्मात्रस्थितः तस्य सोऽयं योगद्विस्तस्य सन्मानं परां हानि वा यः कुरुते स स्वकृत्यानुरूपं फळमनुभवित यत एवमतः परकृतपूजनताडनादिसहनात् योगी योगफळमईतीत्याह—जनेनेति । यथा सहनात् योगसिद्धिः तथा चरेत् । स्वयं स्वधर्माननुष्ठानं सद्धर्मदूषणिमत्यर्थः । सन्तः जनाः इति ॥ स्वयमसाध्वयमतोऽपि प्राणी सामान्यद्रोही न भवेदित्याह—जनाः इति ॥ स्वयमसाध्वयस्यविषये कामक्रोधाविति ॥ ४७–९९ ॥

यते: असाधारणधर्मा:

मैक्षाशनं च मौनित्वं तपो घ्यानं विशेषतः।
सम्यग्ज्ञानं च वैराग्यं धर्मीऽयं भिक्षुके मतः॥ ६०॥
काषायवासाः सततं घ्यानयोगपरायणः।
ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वसेद्देवालयेऽपि वा।
भैक्षेण वर्तते नित्यं नैकान्नाशी भवेत्कचित्॥ ६१॥

चित्तशुद्धिर्भवेद्यावत्तावित्तत्यं चरेत्सुधीः ।
तत्र प्रव्रज्य शुद्धात्मा संचरेद्यत्र कुत्रचित् ॥ ६२ ॥
बिहरन्तश्च सर्वत्र संपश्यिन्ह जनार्दनम् ।
सर्वत्र विचरन्मौनी वायुवद्वीतकल्मषः ॥ ६३ ॥
समदुःखसुखः क्षान्तो हस्तप्राप्तं च भक्षयन् ।
निर्वेरिण समं पश्यिन्द्वजगोऽश्वमृगादिषु ॥ ६४ ॥
भावयन्मनसा विष्णुं परमात्मानमीश्वरम् ।
चिन्तयन्परमानन्दं ब्रह्मैवाहमिति स्मरन् ॥ ६९ ॥
ज्ञात्वैवं मनोदण्डं घृत्वा आशानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरघरो
भूत्वा सर्वदा मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वसंसारमृत्सुज्य प्रपञ्चावाङ्मुखः
स्वरूपानुसंधानेन श्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवति इत्युपनिषत् ॥ ६६ ॥

यतेरसाधारणधर्मस्तु भेक्षाशनिम्यादि ॥ याविचत्रशुद्धिस्तावद्वत्यादि स्वाश्रमोचितधर्मानुष्टानपूर्वकं वेदान्तश्रवणादि कृत्वा ततः संन्यस्य सर्वत्र चरन् एकत्र तिष्टन् वा ब्रह्मानुसंधानं कुर्यादित्याह—चित्तेति ॥ एकत्र स्थिरासनो भृत्वा भावयन्निति । स्मरन् काळं नयेदित्यर्थः ॥ एतावता प्रन्थेन योऽथोंऽभिहितः तज्ज्ञानतः अवधूतो भृत्वा स्वातिरिक्तास्तित्वश्रममुक्तो भवतीत्याह—ज्ञात्वेति । ज्ञात्वेवं मनोदण्डं धृत्वा पराङ्मनो येन दण्डयते तत्प्रत्यगमिन्त्रब्रह्मज्ञानं मनोदण्डमित्युक्तम् । तज्ज्ञानस्य मनःप्रविळापनाधिकरणगोचरत्वात् स्वातिरेकेणाभासतोऽपि किंचिदस्तीति मिथ्याशानिवृत्तो भृत्वा आशाम्बरधरोऽवधूतो भृत्वा । स्वातिरिक्तप्रपञ्चावाङ्मुखः प्रपञ्चोऽस्ति नास्तीति विश्रमिवर्छो भृत्वा स्वरूपानु-संधानेन श्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवतीति । "कीटको श्रमरं ध्यायन् श्रमरत्वाय कल्पते" इति भगवत्पादोक्त्यनुरोधेन सर्वापह्वसिद्धं ब्रह्म निष्प्रिति-

योगिकस्वमात्रमिति प्रबोधसमकालं स्वातिरिक्तभ्रममुक्तो भवतीत्यर्थः । **इत्युप**-निषच्छन्दः पञ्चमोपदेशसमात्यर्थः ॥ ६०–६६ ॥

इति पश्चमोपदेशः

# मोक्षप्राप्त्युपायजिज्ञासा

अथ नारदः पितामहमुवाच । भगवन् तद्भ्यासाद्धमरकीट-न्यायवत् । तद्भ्यासः कथमिति । तमाह पितामहः । सत्यवाग्ज्ञान-वैराग्याभ्यां विशिष्टदेहावशिष्टो वसेत् ॥ १ ॥

स्वरूपानुसंधानतो मुक्तो भवतीत्युक्तम् । तदुपायबुभुत्सया पितामहं नारदः पृच्छतीत्याह—अथेति । नारदेनैवं पृष्टो भगवान् तत्प्रश्नमङ्गीकृत्य प्रतिवचनमा-चष्टे—तमाह पितामह इति । सर्वावस्थास्विप सर्वप्राणिप्रियहितसत्यवाग्ज्ञान-वैराग्याभ्याम् ॥ १ ॥

# विद्रदेहरारीरवर्णनादिकम्

ज्ञानं शरीरं, वैराग्यं जीवनं विद्धि, शान्तिदान्ती नेत्रे, मनो मुखम्, बुद्धिः कला, पञ्चविंशतितत्त्वान्यवयवानि, अवस्था पञ्चमहा- भूतानि, कर्मभक्तिज्ञानवैराग्यं शाखा जाग्रत्स्वप्तसुषुप्तितुरीयाः, चतुर्दशकरणानि पङ्कस्तम्भाकाराणीत्येवमपि नावमपि पङ्कं कर्णधार इव, यन्तेव गजम्, स्वबुद्धचा स्ववशीकृत्य, अस्मद्धचितिरक्तं सर्वं कृतकं नश्चरमिति मत्वा, विरक्तः पुरुषः सर्वदा ब्रह्माहमिति व्याहरेन्नान्यित्विचिद्वेदितव्यं स्वव्यतिरेकेण जीवन्मुक्तो भूत्वा

वसेत्कृतकृत्यो भवति । न नाहं ब्रह्मोति व्यवहरेिकतु ब्रह्माह-मस्मीत्यनस्त्रं नाग्रत्स्वप्तसुषुप्तिषु तुरीयावस्थां प्राप्य तुर्योतीतत्वं ब्रनेत् ॥ २ ॥

विद्वदेहः कीदशः इत्याकाङ्क्षायां तच्छरीरं वर्णयति — ज्ञानमिति । अपर-ब्रह्मज्ञानं शरीरं तदितरेकेणाब्रह्मप्रपञ्चे वैराग्यं जीवनं प्राणस्वरूपं विद्धि शान्तिदान्ती नेत्रे मनो मुखं मनस्तत्त्वं प्रत्यक्चैतन्यं मुखमित्यर्थः। बुद्धिः कला प्राणादिनामान्तषोडशकलाधीरेव कलानां बुद्धिविकल्पितत्वात् वाक्श्रोत्र-कर्मज्ञानाक्षदशकं शब्दादिपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं अन्तःकरणचतुष्टयमव्यक्तं चेति पंचविंशतितत्त्वान्यवयवानि समष्टिजाप्रतस्वप्रसुषुप्तितुरीयातीतानां पृथिव्यादिपश्चमहाभूतानि कर्मभक्तिज्ञानवैराग्यं शाखा शाखास्थानीयवाहवः। पुनः जाप्रतस्वप्रसुषुप्तितुरीयाश्चतुर्दशकरणानि । कर्मज्ञानाक्षदशकमन्तः करण-चतुष्टयं चेति चतुर्दशकरणानि अदृदपङ्कस्तम्भाकाराणीति एवमपि एवं स्थितेऽपि नावमपि पङ्क पङ्कं स्पृष्टनावमपि। कर्णधार इव यथा कर्णधारो नौकाचालकः सत्पर्थं नयति । स्वव्यतिरेकेण न किंचिदस्ति स्वयमेव ब्रह्म इत्यपरोक्षज्ञानात् जीवन्मुको भूत्वा वसेत् ऋतऋत्यो भवति । व्यवहारदशायामपि न नाहं ब्रह्मेति व्यवहरेत् किंतु ब्रह्माहमस्मीत्यजस्त्रं भावयेदित्यर्थः । ततः किं इत्यत्र स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तजाय्रत्स्वप्रसुषुप्तिष्विति । अहं ब्रह्मास्मीति सदानुसन्धाता जाप्रदाद्यवस्थात्रये सत्यसति जीवन्मुक्तिनिर्वर्त्यतुरीयावस्थामेत्य ततस्तुर्यातीतत्वं विदेहमुक्तत्वं भजेदिलर्थः ॥ २ ॥

# तुर्यातीतत्वप्रास्युपाय:

दिवं जाग्रन्नक्तं स्वप्नं सुषुप्तमर्घरात्रं गतिमिति । एकावस्थायां चतस्रोऽवस्थाः । एकैककरणाधीनानां चतुर्दशकरणानां व्यापाराश्च-धुरादीनाम् । चक्षुषो रूपग्रहणम् , श्रोत्रयोः शब्दग्रहणम् , जिह्वाया रसास्वादनम्, व्राणस्य गन्धग्रहणम्, वचसो वाग्व्यापारः, पाणेरादानम्, पादयोः संचारः, पायोरुत्सर्गः, उपस्थस्यानन्दग्रहणम्, त्वचः स्पर्शग्रहणम्। तदधीना च विषयग्रहणा बुद्धिः। बुद्धचा बुध्यति। चित्तेन चेतयति। अहंकारेणाहंकरोति। विस्वज्य जीव एतान्देहाभिमानेन जीवो भवति। गृहाभिमानेन गृहस्थ इव शरीरे जीवः संचरति। प्राग्दछे प्रण्यावृत्तिराग्नेय्यां निद्रालस्यौ दक्षिणायां कौर्यबुद्धिनैंर्ऋत्यां पापबुद्धिः पश्चिमे क्रीडारतिर्वायव्यां गमने बुद्धि-रुत्तरे शान्तिः ईशान्ये ज्ञानं कर्णिकायां वैराग्यं केसरेष्वात्मचिन्ता इत्येवं वक्तं ज्ञात्वा।। ३॥

तुरीयातीतं किम्, तदास्युपायः कः, इत्यत आह—दिवमित्यादि । तुर्यातीते ब्रह्मणि स्वाङ्गेगुणसाम्यात्मिका तुर्यावस्था विकल्पिता तत्र तुर्यातीतमेव तदसङ्गत्यंवत् भासते तत्र तुरीये दिवानक्तं विकल्पितम् । तत्र दिवं दिवा जाप्रत् स्वप्नं स्वप्नः नक्तं अर्धरात्रमेव सुषुप्तभावंगतं इत्येवमवस्थात्रयं निष्पन्नम् । तत्रैकैनकावस्थायां चतस्रोऽवस्थाः पश्चात् प्रतिपाद्यन्ते । तदनुरोधेन मन आद्येकैककरणाधीनानां वागादिचतुर्वशकरणानां चक्षुरादीनां व्यापारा उच्यन्ते । चक्षुषो रूपप्रहणं इत्याद्यहंकारेणाहंकरोतीत्यन्तम् । एतान् जीवो विसृज्य विशेषेण सृष्ट्वा तत्संवातदेहाभिमानेन तुर्यचैतन्यमेव जीवभावमापन्नवत् भवति । शरीरे तदवच्छित्राष्टदलाञ्चितहदयकमेले तत्रत्यदलेषु प्रागादिक्रमेण गृहाभिमानेन गृहस्थ इव जीवः संचरति । तत्र प्रागाद्यष्टलेषु प्रण्यादिवृत्तिविशिष्टो भूत्वा ईशान्यदलं प्रविशतो वस्तुज्ञानं कर्णिकासंचारतः स्वातिरिक्तप्रपञ्चवैराग्यमेत्य तत्केसरसंचारतः अनात्मापह्वतिसद्ध आत्मा स्वमात्रमिति चिन्तोदेति । इत्येवं वक्तं चैतन्यवक्तं स्वरूपं ज्ञात्वा विद्वान् ज्ञानसमकालं तुर्यातीतब्रह्ममात्रमविश्वयते ॥ ३ ॥

## तुर्यातीतस्वरूपम्

जीवद्वस्था प्रथमं जाप्रद्द्वितीयं स्वप्नं तृतीयं सुषुप्तं चतुर्थं तुरीयं चतुर्भिर्विरहितं तुरीयातीतम् । विश्वतैजसप्राज्ञतटस्थभेदैरेक एव । एको देवः साक्षी निर्गुणश्च तद्बह्माहमिति व्याहरेत् । नो चेजाप्रदवस्थायां जाप्रदादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्ते सुषुप्त्यादिचतस्रोऽनस्थाः तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽनस्थाः । न त्वेवं तुर्यातीतस्य निर्गुणस्य । स्थूलसूक्ष्मकारणरूपैर्विश्वतैजसप्राज्ञे-श्वरैः सर्वावस्थास् साक्षी त्वेक एवावतिष्ठते । उत तटस्थो द्रष्टा । तटस्थो न द्रष्टा । द्रष्टृत्वान्न द्रष्टैव । कर्तृत्वभोक्तृत्वाहंकारादिभिः स्पृष्टो जीवः । जीवेतरो न स्पृष्टः । जीवोऽपि न स्पृष्ट इति चेन्न । जीवाभिमानेन क्षेत्राभिमानः, शरीराभिमानेन जीवत्वम् । जीवत्वं घटाकारामहाकारावद्यवधानोऽस्ति । व्यवधानवशादेव हंसः सोऽहमिति मन्त्रेणोच्छासनिःश्वासन्यपदेशेनानुसंधानं करोति । एवं विज्ञाय शरी-राभिमानं त्यजेन्न शरीराभिमानी भवति स एव ब्रह्मेत्युच्यते ॥ ४॥

कथं पुनस्तुर्यातीतस्वरूपं इत्यत आह—जीववद्वस्थेति । जीववद्वस्थासु जीवाधिष्ठतावस्थाचतुष्टयं प्रथमावस्था जाप्रत् द्वितीयं स्वप्रावस्था तृतीयं सुषुप्त्यवस्था चतुर्थं तृर्यावस्था भवति । यज्जाप्रदादिचतुरवस्थाविरहितं तु तुर्यातीतं तत्तुर्यातीतिसद्धेः जाप्रदाद्यवस्थाचतुष्ट्यापह्वयपूर्वकत्वात् स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसित तुर्यातीतं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमविश्चयत इत्यर्थः । एकस्यैवात्मनो जाप्रदाद्यवस्थायोगात् विश्वादिमेदविशिष्टो भवति न स्वतः स्वतस्त्वेक एव तज्ज्ञानात्तद्भावापितः स्यादित्याह—विश्वेति । जाप्रदाद्यवस्थायोगप्रभवविश्वतेजस-प्राज्ञतटस्थमेदैः व्यवहत आत्मा एक एव । एको देवः साक्षी निर्गुणश्च

एक एव स्वप्रकाशचिद्धातुः देवः स्वसाक्ष्यगुणत्रयसद्भावे साक्षी तदभावे निर्गुणः। चशब्दो निष्प्रतियोगिकनिर्गुणत्वख्यापनार्थः । यदेवं निष्प्रतियोगिकनिर्गुणं तद्भहाहिमिति व्याहरेत् । तत् स्वमात्रमियनुसंधानं कुर्यात् । ततस्तद्भावापितः स्यादित्यर्थः । पक्षान्तरमाह—नोचेदिति । जाप्रदाद्यवस्थाचतुष्टयकलनाविरलं तुर्या-तीतमिति मन्तन्यम् । नोचेत् यत्रावस्थाचतुष्टयप्रविभक्तजाप्रज्जामदादितुर्यस्वा-पान्तपश्चदश्चविभागकलना न विद्यते तदेव तुर्यतुर्योशविभातं तुर्यतुर्यं तुर्यातीतं ब्रह्म नेतरत्। तुर्यातीतस्य निर्गुणस्य निष्प्रतियोगिकतुर्यतुर्यस्य विभागकलनावैरल्यात् तस्यैव स्थुलादियोगतो विश्वादित्वं सर्वसाक्षित्वं सर्वकलनास्पृष्टत्वं चाह— स्थूलेति । साक्षी द्रष्टा । उत यद्वा तटस्थ ईश्वरः इति चेत् तटस्थो न द्रष्टा साक्षी भवितुमहित । तटस्थस्य बीजोपाधिकेश्वरतया दष्टत्वात् । अतोऽयं न द्रष्टैव तयाऽप्ययं कर्तृत्वाद्यभिमतिविरल इत्यर्थः । नोचेत् जीव एव द्रष्टा भवितुमर्हति इत्यत आह—कर्नृत्वेति । कर्तृत्वादिकलनया स्पृष्टो जीवः । साक्षी तु तदस्पृष्टः तस्य सर्वत्र आत्मात्मीयाभिमतिवैग्ल्यात् तयोर्महदस्यन्तरं इत्याह-- जीवत्विमिति । घटाकाशमहाकाशबद्भवधानोऽस्तीति । जीवसाक्षिणोरित्यर्थः । जीवो जीवामि-मतिमुत्सुज्य सर्वसाक्ष्यस्मीति ज्ञानात् ब्रह्मैव भवतीत्याह—व्यवधानेति । जीवसाक्षिणोर्च्यवधानवशात् जीवः उच्छासनिःश्वासच्छलेन योऽहं स्वाइदशायां जीवभावं गतः स्वज्ञानेन स्वाज्ञानापाये सोऽहं सर्वसाक्षी स्यां वस्तुतस्तु परमार्थदृष्ट्या जीवत्वसाक्षित्वादिकलनाविरलं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्त्रमात्रमित्यन-संधानं करोति तदायं तन्मात्रेणाविशाष्यते इत्येवं जीवो ज्ञात्वा ब्रह्मैव भवतीत्याह—एवमिति । यावदेहादावात्मात्मीयाभिमतिस्तावजीवत्वं यदायं देहादावात्मात्मीयाभिमतिं निःशेषं त्यजित तदा स एव ब्रह्मेत्यत्र न विवाद इत्यर्थः ॥ ४ ॥

असचर्यात्यागः सचर्यानुष्ठानं च

त्यक्तसङ्गो जितकोघो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः । पिषाय बुद्धचा द्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत् ॥ ९ ॥

शून्येष्वेवावकाशेषु गुहासु च वनेषु च। नित्ययक्तः सदा योगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत् ॥ ६ ॥ आतिथ्यश्राद्धयज्ञेषु देवयात्रोत्सवेषु च । महाजनेषु सिद्धचर्थी न गच्छेद्योगवित्कचित् ॥ ७ ॥ यथैनमवमन्यन्ते जनाः परिभवन्ति च । तथा युक्तश्चरेचोगी सतां वर्त्म न दूषयेत् ॥ ८ ॥ वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः। यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः ॥ ९ ॥ विधूमे च प्रशान्तायौ यस्तु माधूकरं चरेत्। गृहे च विप्रमुख्यानां यतिः सर्वोत्तमः स्पृतः ॥ १० ॥ दण्डभिक्षां च यः कुर्यातस्वधर्मे व्यसनं विना । यस्तिष्ठति न वैराग्यं याति नीचयतिर्हि सः ॥ ११ ॥ यस्मिनगृहे विशेषेण लभेद्भिक्षां च वासनात् । तत्र नो याति यो भूयः स यतिर्नेतरः स्मृतः ॥ १२ ॥ यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम् । पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम् । १३ ॥ परतत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत । वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥ १४ ॥ नात्मनो बोधरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा । इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥ १५ ॥

यस्य वर्णाश्रमाचारो गिलतः स्वात्मदर्शनात् ।
स वर्णानाश्रमान्सर्वानतीत्य स्वात्मिन स्थितः ॥ १६ ॥
योऽतीत्य स्वाश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः प्रमान् ।
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदार्थवेदिभिः ॥ १७ ॥
तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि नारद ।
आत्मन्यारोपिताः सर्वे भ्रान्त्या ते नात्मवेदिना ॥ १८ ॥
न विधिन निषेधश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना ।
ब्रह्मविज्ञानिनामस्ति तथा वान्यच्च नारदः ॥ १९ ॥

जीवन्मुक्तयतीनामसचर्यात्यागपूर्वकं सचर्यासर्वस्वमनुक्रामित — त्यक्तेत्यादिना । पिधाय बुद्धवा द्वाराणि विषयोपलिब्धद्वाराणि धिया पिधाय ब्रह्मध्याने मनो निवेशयेत् इत्यर्थः ॥ ध्यानस्थलं निगमयति — शून्येष्वित ॥ तस्यागम्यप्रदेश-माह — आतिथ्येति ॥ तस्य त्रिदण्डमाह — वागिति । मौनानशनप्राणायामैः वाग्दण्ड इत्यादि । यतेर्भिक्षाविधि तद्विपर्यये बाधकमुच्यते — विधूम इति ॥ मुख्यगौणावधूतलक्षणमाह — य इति । स्वयंप्रमं स्वयंप्रकाशचिद्धातुम् ॥ ५ — १९॥

विविदिषो: श्रत्रणादिविधि:

विरज्य सर्वभूतेभ्य आविरिश्चिपदादिष । घृणां विपाटच सर्विस्मिन्पुत्रवित्तादिकेष्विष ॥ २०॥ श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया । उपायनकरो भ्त्वा गुरुं ब्रह्मविदं ब्रजेत् ॥ २१॥ सेवाभिः परितोष्येनं चिरकालं समाहितः । सदा वेदान्तवाक्चार्थं शृणुयात्सुसमाहितः ॥ २२॥

निर्ममो निरहंकारः सर्वसङ्गविवर्जितः । सदा शान्त्यादियुक्तः सन्नात्मन्यात्मानमीक्षते ॥ २३ ॥ संसारदोषदृष्टचैव विरक्तिर्जायते सदा । विरक्तस्य त संसारात्संन्यासः स्यान संशयः ॥ २४ ॥ मुमुक्षः परहंसाल्यः साक्षान्मोक्षेकसाधनम् । अभ्यसेद्वह्मविज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना ॥ २५ ॥ ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहंससमाह्नयः। शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत् ॥ २६ ॥ वेदान्ताभ्यामनिरतः ज्ञान्तो दान्तो जितेन्द्रियः। निर्भयो निर्ममो नित्यं निर्द्धन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ २७ ॥ जीर्णकौपीनवासाः स्यान्मण्डी नस्रोऽथवा भवेत् । प्राज्ञो वेदान्तविद्योगी निर्ममो निरहंकृतिः ॥ २८ ॥ मित्रादिष समो मैत्रः समस्तेष्वेव जन्तष । एको ज्ञानी प्रशान्तात्मा स संतरति नेतरः ॥ २९ ॥ गरूणां च हिते युक्तस्तत्र संवत्सरं वसेत्। नियमेष्वप्रमत्तस्तु यमेषु च सदा भवेत् ॥ ३० ॥ प्राप्य चान्ते ततश्चैव ज्ञानयोगमनुत्तमम् । अविरोधेन धर्मस्य संचरेत्पृथिवीमिमाम् ॥ ३१ ॥ ततः संवत्सरस्यान्ते ज्ञानयोगमञ्जमम् । आश्रमत्रयमुत्सुच्य प्राप्तश्च परमाश्रमम् ॥ ३२ ॥

अनुज्ञाप्य गुरूं श्चैव चरेद्धि पृथिवीमिमाम्। त्यक्तमङ्को जितकोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥ ३३ ॥ द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा। निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव मिक्क्षकः ॥ ३४ ॥ माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति । तसादृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ३५ ॥ संभाषणं सह स्त्रीभिरालापप्रेषणं तथा । नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत् ॥ ३६ ॥ न स्नानं न जपः पूजा न होमो नैव साधनम् । नाशिकार्यादिकार्यं च नैतस्यास्तीह नारद् ॥ ३७ ॥ नार्चनं पितृकार्यं च तीर्थयात्रा व्रतानि च। धर्माधर्मादिकं नास्ति न विधिल्लींकिकी किया ॥ ३८ ॥ संत्यजेत्मर्वकर्माणि लोकाचारं च सर्वशः। कृमिकीटपतङ्गांश्च तथा योगीन् वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥ न नारायेद्भुधो जीवान्परमार्थमतिर्यतिः। नित्यमन्तर्भुखः स्वच्छः प्रशान्तात्मा स्वपूर्णधीः ॥ ४० ॥ अन्तःसङ्गपरित्यागी लोके विहर नारद्। नाराजके जनपदे चरत्येकचरो मुनिः ॥ ४१ ॥ निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च। चलाचलनिकेतश्च यतिर्याद्दच्छिको भवेत् ॥ ४२ ॥ इत्युपनिषत् ॥

विविदिषोः श्रवणविधिमाह—विरज्येति । सार्वभौमाद्याविरिश्चित्वप्रद-कर्मफलात् सर्वभूतेभ्यो निर्वर्त्य प्रयोजनादिप विरज्य विरितमेत्य संन्यसेदित्यर्थः । "संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्" इति स्मृतेः । स्वाभिमतगुरुनिकटे संशयादिपञ्चदोष-निवृत्त्यन्तं समाहितकरणग्रामो भूत्वा सर्ववेदान्तश्रवणमेव कुर्यादित्यर्थः । "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इति वैयासिकसूत्रानुरोधेन ॥

> ''अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोघो यावद्रही भवेत् । शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्वणादिकम् ॥''

इति भगवत्पादाचार्योक्तेः । ततः किं इत्यत्र—दारादिस्वदेहान्तकलनासु निर्मम हित ॥ यतः श्रवणादिजन्यज्ञानं केवल्यप्रापकं अत एव श्रवणादिप्रतिवन्धककार्यं संन्यस्य शान्त्यादिसहितो भूत्वा ज्ञानफलिद्धिपर्यन्तं श्रवणमेव कुर्यादित्याह—संसारेति । कुटीचकाद्याश्रमत्रयमुत्सृज्य । परमाश्रमं परमहंसाश्रमित्यर्थः ॥ ततः अनुज्ञाप्येति ॥ कीदशो भूत्वेत्यत्र-- त्यक्तसङ्ग इति ॥ निस्संकल्पसंकलपाभ्यां गृही भिक्षुः हीयेत इत्याह—द्वाविति । यदि श्रेयोऽधी भिक्षुः तदासुरातोऽपि विश्रमकरस्त्रीसल्लापादिविमुखो भवेदित्याह— माद्यतीति । यस्मादेवं तस्मात् ॥ परमार्थदृष्टेः स्नानजपादिकर्तव्यता नास्तीत्याह— नेति ॥ लोकसंग्रहार्थं कर्म कर्तव्यमित्याह—संत्यजेदिति ॥ चरस्थिरहिसां न कुर्यादित्याह—कृमीति ॥ चलं श्रून्यागारादिक्षयिष्णुत्वात् अचलं पर्वतादिः तस्य स्थिरत्वात् यादृच्छिको भवेत् यहच्छालाभसंतुष्टो भवेत् निह यथेच्छाचरणं भवितुमर्हति प्रवृत्तिनिवृत्ति-संकल्पासंभवात् । इत्युपनिषच्छब्दः षष्टोपदेशसमाप्त्यर्थः ॥ २०-४२ ॥

इति षष्टोपदेश:

यतिनियमाः

अथ यतेर्नियमः कथिमिति पृष्टं नारदं पितामहः पुरस्कृत्य । विरक्तः सन् यो वर्षासु ध्रवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरेन्नैकत्र निवसे-

द्धिश्चर्भयात्सारङ्गवदेकत्र न तिष्ठेत्स्वगमनविरोधग्रहणं न कुर्यात्, हस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यात्, न वृक्षारोहणमपि, न देवोत्सवदर्शनं कुर्यात् । नैकत्राशी न बाह्यदेवार्चनं कुर्यात् । स्वव्यतिरिक्तं सर्वे त्यक्तवा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन् , कृशो भूत्वा, मेदोवृद्धिमकुर्वन् , आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्र । अत्रं पललमिव, गन्धलेपन-मञ्जूद्धलेपनिमव, क्षारमन्त्यजमिव, वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिव, अभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव, मित्राह्णादकं मूत्रमिव, स्पृहा गोमांसमिव, ज्ञात-चरदेशं चण्डालवाटिकामिव, स्त्रियमहिमिव, सुवर्ण कालकूटमिव, समास्थलं इमशानस्थलमिव, राजधानीं कुम्भीपाकमिव, शवपिण्ड-वदेकत्रात्रम् । देहान्तरदर्शनं प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य, स्वदेशमृतसृज्य, ज्ञातचरदेशं विहाय, विस्मृतपदार्थपुनःप्राप्तिहर्ष इव स्वमानन्दम-नुसारनस्वरारीराभिमानदेशविसारणं मत्वा, स्वरारीरं शवमिव हेयमुप-गम्य, कारागृहविनिर्भुक्तचोरवत्पुत्राप्तबन्धुभवस्थलं विहाय दूरतो वसेत् । अयत्नेन प्राप्तमाहरन्, ब्रह्मप्रणवध्यानानुसंधानपरो भूत्वा, सर्वकर्मविनिर्मुक्तकः, कामकोधलोभमोहमद्मात्सर्यादिकं द्ग्ध्वा, त्रिगुणातीतः, षडूर्मिरहितः, षड्भावविकारशून्यः, सत्यवाक्, शुचिः, अद्रोही, ग्रामैकरात्रम्, पत्तने पञ्चरात्रम्, क्षेत्रे पञ्चरात्रम्, तीर्थे पञ्चरात्रम्, अनिकेतः स्थिरमतिनीनृतवादी गिरिकन्दरेषु वसेदेक एव वा द्वौ वा चरेत् यामं लिभिः नगरं 1 चतुर्भिर्नगरमित्येकः चरेद्भिष्ठुः चतुर्दशकरणानां न तत्रावकाशं दद्यात् । अविच्छिन्न-

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> उ. उ १. 'चतुः ग्रासम्'।

ज्ञानाद्वेराग्यसंपत्तिमनुभूय, मत्तो न कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इत्यात्मन्यालोच्य, सर्वतः स्वरूपमेव पश्यञ्जीवन्मुक्तिमवाप्य, प्रारब्धप्रतिभासनाशपर्यन्तं चतुर्विषं स्वरूपं ज्ञात्वा, देहपतनपर्यन्तं स्वरूपानुसंधानेन वसेत् ॥ १ ॥

कुटीचकादिचर्या बहुधा श्रुतापि पुनर्विशेषबुभुत्सया नारदेन पृष्टः पितामहः प्रसक्तानुप्रसक्त्या पुरोक्तमनुक्तं च सर्वभुपदिष्टवानित्याह—अथेति । नारदं पितामहः पुरस्कृत्य सर्व कथयामास । कि तत् इत्यत्र विरक्त इति । यदि कृतश्रवणादिसाधनस्तदनधिकारी वा अष्टो मास्येकाकी ग्रामेकरात्रं इत्युक्तरीत्या संचरेचातुर्मास्ये तु एकत्र निवसेत् भिश्चः भयात् प्राणिवाधा स्यादिति भिया वर्षास्वेकत्र निवसेत् इत्यर्थः । चातुर्मास्यानन्तरं सारङ्गवदेकत्र न तिष्टेत् कदापि स्वगमनविरोधग्रहणं अत्रैव कतिचिदहानि वसत्विति प्रार्थनाङ्गीकारं न कुर्यात् । यदि दृद्धाङ्गः गन्धलेपनिमिति । ब्रह्मातिरिक्तिधिया न देहान्तरदर्शनिमिति । यत्र स्वशरीराभिमानिनो वर्तन्ते तत्रस्वशरीराभिमानदेशविस्मरणम् । षोडशमात्रा-प्रणवतदर्थतुर्यत्यस्वमात्रमित्यनुसंधानं कृत्वा स्वातिरिक्तसर्वकर्मनिर्मुक्तकः । यत्र कुत्राप्यनिकेतः । संचारकाले एक एव चरेत् । चातुर्मास्यादिप्रसक्तौ श्रामं द्वौ वा चरेत् त्रिभः चतुर्भिर्वा नगरं चरेत् विश्वरूपयात्राच्छलेन यतिरेक एव चरेदित्यर्थः । भिश्चः वागादिचतुर्दशकरणानां स्वातिरिक्तास्तित्वश्रममुत्स्रज्य । सर्वत इति । विश्वविराडोत्रादिद्वितुर्याविकल्पान्तं तद्गतहेयांशापायसिद्धमोत्रादिभेदेन चतुर्विधमिति ॥ १ ॥

कुटीचकादीनां स्नानादिनियमेषु विशेष:

त्रिषवणस्नानं कुटीचकस्य, बहुदकस्य द्विवारम्, हंसस्यै-कवारम्, परमहंसस्य मानसस्नानम्, तुर्यातीतस्य भसस्नानम्, अवधृतस्य वायव्यस्नानम्॥ २॥ ऊर्ध्वपुण्डूं कुटीचकस्य, त्रिपुण्डूं बहूदकस्य, ऊर्ध्वपुण्डू त्रिपुण्डूं हंसस्य, भस्मोद्भूलनं परमहंसस्य, तुरीयातीतस्य तिलकपुण्डूम्, अवधूतस्य न किंचित् तुरीयातीतावधूतयोः ॥ ३ ॥

ऋतुक्षीरं कुटीचकस्य, ऋतुद्रयक्षीरं बहूदकस्य, न क्षीरं हंसस्य, परमहंसस्य न च $^1$  क्षीरम् , अस्ति चेदयनक्षीरं, तुरीया-तीतावधूतयोर्न क्षीरम् ॥ ४ ॥

कुटीचकस्यैकान्नम्, माधूकरं बहूदकस्य, हंसपरमहंसयोः करपात्रम्, तुरीयातीतस्य गोमुखम्, अवधूतस्याजगरवृत्तिः॥ ९॥

शाटीद्रयं कुटीचकस्य, बहूदकस्यैकशाटी, हंसस्य खण्डम्, दिगम्बरं परमहंसस्यैककौपीनं वा, तुरीयातीतावधूतयोर्जात- रूपधरत्वम् । हंसपरमहंसयोरजिनं न त्वन्येषाम् ॥ ६ ॥

कुटीचकबहृदकयोदेंवार्चनम् , हंसपरमहंसयोर्मीनसार्चनम् , तुरीयातीतावधूतयोः सोऽहंभावना ॥ ७ ॥

कुटीचकबहृद्कयोर्मन्त्रजपाधिकारः, हंसपरमहंसयोध्यानाधि-कारः, तुरीयातीतावधूतयोर्न त्वन्याधिकारः, तुरीयातीतावधूतयोर्म-हावाक्योपदेशाधिकारः परमहंसस्यापि । कुटीचकबहृदकहंसानां नान्यस्योपदेशाधिकारः ॥ ८॥

कुटीचकबहूद्कयोर्मानुषप्रणवः, हंसपरमहंसयोरान्तरप्रणवः, तुर्यातीतावधूतयोर्बह्मप्रणवः ॥ ९ ॥

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> उ१. च न.

कुटीचकबहूदकयोः श्रवणम् , हंसपरमहंसयोर्भननम् , तुरीयातीतावधूतयोर्निदिध्यासः । सर्वेषामात्मानुसंधानं विधिरिति ॥१०॥ एवं मुमुक्षुः सर्वदा संसारतारकं तारकमनुस्सरञ्जीवन्मुक्तो वसेदिधकारविशेषेण कैवल्यप्राप्त्युपायमन्विष्येद्यतिः इत्युपनिषत् ॥ ११॥

तुरीचकादेः स्नानपुण्ड्रक्षौराज्ञानवस्त्रदेवार्चनमन्त्रप्रणवादिवैचित्र्यमाह — त्रिषवणिमत्यादि । यद्वा तुरीयातीतावधृतयोः न किंचित् पुण्ड्मिस्त, तयोः परेच्छाचरणत्वात् । परमहंसस्य न च क्षौरम् । वक्ष्यमाणसमष्टिबाह्यप्रणवस्य चतुर्मात्रतया मानुषप्रणवत्वात् हंसपरमहंसयोरान्तरप्रणवः वक्ष्यमाणाष्ट-मात्रात्मकोऽन्तःप्रणव इत्यर्थः । तुरीयातीतावधृतयोः ब्रह्मप्रणवः षोडज्ञामात्रात्मकतया तुर्यतुर्यगोचरत्वात् । संसारतारकं ब्रह्मप्रणवाभिधानं तारकमनुस्मरन् । कुटीचकादिस्वधर्मानुष्ठानपूर्वकं मोक्षोपायमन्विष्येत्र हि तैः परमहंसादिधर्मोऽनुष्टेयः इत्यत्र स्मृतिः—''श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् '' इति । इत्युपनिषच्छ्ब्दः सप्तमोपदेज्ञसमाप्त्यर्थः ॥ २-११ ॥

इति सप्तमोपदेशः

## तारकस्वरूपजिज्ञासाः

अथ हैनं भगवन्तं परमेष्ठिनं नारदः पप्रच्छ । संसारतारकं प्रपन्नो बूहीति । तथेति परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे । ओमिति ब्रह्मेति व्यष्टिसमष्टिप्रकारेण । का व्यष्टिः का समष्टिः । संहारप्रणवः सृष्टि-प्रणवश्चान्तर्बहिश्चोभयात्मकत्वात्त्रिविधः । ब्रह्मप्रणवोऽन्तःप्रणवो

व्यावहारिकप्रणवः । बाह्यप्रणव आर्षप्रणव उभयात्मको विराट्प्रणवः । संहारप्रणवो ब्रह्मप्रणवोऽर्धमात्राप्रणवः ॥ १ ॥

एवं पितामहात् परिमममुपदेशं टब्ब्ध्वा अथ तारकयाथात्म्यबुभुत्सया नारदेन यत् पृष्टं तदङ्गीकृत्य परमेष्ठी प्रश्नोत्तरमाहेत्याह—अथेति । परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे । किं तत् ओमिति ब्रह्मोति व्यष्टिसमष्टिभावंगतप्रणवावयवाकार-स्थूळांशादिप्रकारेण सह तद्व्यष्ट्याद्यध्यविश्वविश्वाद्यविकल्पानुक्षेक्तरसान्तकळनाळम्बनं ओं इत्येकाक्षरं ब्रह्मप्रणवार्थं ब्रह्मोति विद्वीति शेषः । तत्र का व्यष्टिः, का समष्टिः इत्यत्र व्यष्टिसमध्यात्मको हि ब्रह्मप्रणवः स्वाज्ञदृष्ट्या त्रिधा भिद्यते । तत् कथं इत्यत्र संसारसृष्ट्यन्तवाह्यादिभेदात् । कोऽयं सृष्टिप्रणवादिः इत्यत्र अर्धमात्राकारोकारोपसर्जनमकारमात्राप्रधानोऽयं संहारप्रणवः रुद्धाधिष्ठितो ब्रह्म-विष्णुरुद्धाधिष्ठितो वा भवतीत्यत्र—

''त्रिमात्राकलनोपेतसंहारप्रणवासनाः । ब्रह्मविष्ण्वीश्वरा विश्वसर्गस्थित्यन्तहेतवः । भवेयुर्यत एवायं संहारप्रणवो भवेत् ॥''

इति संहारप्रणवोक्तेः । उकाराद्युपसर्जनाकारप्रधानोऽयं सृष्टिप्रणवः । तद्धिष्ठाता चतुरानन इत्यत्र—

> ''एकमात्रात्मकं तारमुपादाय चतुर्मुखः । यतः ससर्ज सकलं सृष्टितार अतो भवेत् ॥''

इति सृष्टिप्रणवोक्तेः । अन्तर्बाह्यप्रणवस्त्ररूपं पश्चाद्विवक्ष्यते । संहारसृष्टि-प्रणवाभ्यां सहान्तर्बाह्योभयात्मकत्वात् ब्रह्मप्रणवस्य त्रैविध्यमुपपद्यते । तत् कथं मात्रात्रयप्रधानोऽयं संहारप्रणवः, एकमात्राप्रधानोऽयं सृष्टिप्रणवः, अष्टमात्रात्म-कोऽन्तःप्रणवः, चतुर्मात्रात्मको बाह्यप्रणवश्च मिळित्वा षोडशमात्रात्मको ब्रह्म-प्रणवो भवतीत्यर्थः । एतावानेव ब्रह्मप्रणविभागः नातः प्रमस्तीत्याकांक्षायां स्वाज्ञदृष्टो सत्यां अनेकथा भिद्यत इत्यत्र को विवादः इत्याह--अन्तरिति । एक

एव ब्रह्मप्रणवो बहुधा भिद्यत इत्यत्र—पञ्चाश्रद्धर्णगर्भिताकारमात्राप्रधानोऽयं व्यावहारिकप्रणव: ''अकारो वै सर्वा वाक् सेषा स्पर्शोष्मभिः व्यज्यमाना बह्बी नानारूपा भवति'' इति श्रुते: । दुर्गोदिपञ्चब्रह्मान्ताधिष्ठितो वैखरीप्रपञ्चकलना- हेतुर्व्यावहारिकप्रणव उच्यते इत्यत्र—

"एकमात्रात्मकस्तारः पञ्चाशद्वर्णभूषितः । वैखरीकळनाहेतुर्व्यावहारिक ईरितः ॥ दुर्गादिशक्तित्रितयं तमेच्छादित्रिशक्तिकम् । वस्वादित्यरुद्रजातं नवब्रह्माधिदैवतम् । तथा पञ्चब्रह्मदैवं तद्वाच्यार्थ इतीरितः ॥"

इति व्यावहारिकप्रणवोक्तेः । समष्टिबाह्यो व्यष्टिप्रणवश्चतुर्मात्रात्मको **बाह्यप्रणव** उच्यते । स विश्वाधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

> ''व्यष्टेः समष्टिबाह्यत्वात्तूलातुर्योशयोगतः । बाह्यप्रणव आम्नातो विश्वाद्या वाच्यतां गताः ॥''

इति बाह्यप्रणवोक्तेः । अकारोकारमकारिबन्दुनादकलाकलातीतत्वेन ऋषिमण्डलो-पास्योऽयं **आर्षप्रणवः** । स पञ्चब्रह्मविराडन्तर्यामिभिरिघष्ठितो भवतीत्यत्र—

> '' सप्तमात्रात्मकः पञ्चब्रह्मान्तर्याम्यधिष्ठितः । ऋषिमण्डलसेव्यत्वादार्षप्रणव उच्यते ॥ ''

इत्यार्षप्रणवोक्तः । अकारोकारोभयात्मकस्थितिप्रणवो ब्रह्मविष्णविष्ठितो भवतीत्यत्र—

" यतो विष्णुर्द्विमात्राख्यतारोपादानतोऽन्वहम् । ररक्ष विश्वमखिलं स्थितितार अतो भवेत् ॥ ''

इति स्थितिप्रणवोक्तेः । समष्टयकारादिमात्राचतुष्टयात्मको विराट्प्रणवः विरा-डादिभिरधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

> " चतुस्समष्टिमात्रायुग्विराट्प्रणव उच्यते । विराडादिभवेद्वाच्यं तह्यक्ष्यं परमाक्षरम् ॥ "

इति विराट्प्रणवोक्तेः । पूर्वस्मिन् पर्याये संहारप्रणवो व्याख्यातः । ब्रह्मप्रणवस्तु पश्चाद्विवक्ष्यते । स्थूलादिमात्राचतुष्टयात्मकोऽर्धमात्राप्रणवः ओत्रनुज्ञात्रनुज्ञैकर-साविकल्पाधिष्ठितो भवतीत्यत्र—-

''ओंकार एव चत्र्रूपो ह्ययमोंकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरोतानुज्ञात्रनु-ज्ञाविकल्पैरविकल्पो ह्ययमात्मा ''।

इति श्रुतेः ॥ १ ॥

## अन्त:प्रणवादीनां स्दरूपकथनम्

ओमिति ब्रह्म ओमित्येकाक्षरमन्तःप्रणवं विद्धि । स चाष्ट्रधा भिद्यते । अकारोकारो मकारअर्धमात्रा नाद्विन्दुकला शक्तिश्चेति । तन्न चत्वारः, अकारश्चायुतावयवान्वित उकारः सहस्रावयवान्वितो मकारः शतावयवोपेतोऽर्धमात्राप्रणवोऽनन्तावयवाकारः । सगुणो विराट्प्रणवः संहारो निर्गुणप्रणव उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवः । यथा प्रुतो विराट्प्रुतप्रुतः संहारः ॥ २ ॥

ततः अन्तःप्रणवार्थमाह—ओमिति । ओमिति ब्रह्मोति व्याख्यातम् । अष्टमात्रात्मकोऽन्तःप्रणवः पञ्चब्रह्मविराट्सूत्रेश्वराधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

''अकाराद्यष्टमात्रायुगन्तःप्रणव उच्यते । पञ्चब्रह्मविराट्सूत्रबीजेड्डाच्यार्थ उच्यते ॥ ''

इत्यन्तः प्रणवोक्तेः । केवलं प्रधानतः चतुर्मात्रात्मकोऽयं प्रणव इति यदुक्तं तन्न चत्वारः केवलचतुर्मात्रात्मक एव न भवति किं तु तदवयवाकारादेः व्यष्टिसमष्टितदु भयैक्यजाग्रजाग्रदादितुर्यस्वापान्तारोपापवादाधिकरणविश्वविश्वाद्यवि - कल्पानुज्ञैकरसान्तप्रपञ्चानुवृत्त्य। नन्तभेदवैशिष्ट्यमाह—अकार इति । अर्थमात्रा-

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> ड. ड १. डभयात्मको विराट्प्रणव: ।

प्रणवस्य सृष्ट्यादिप्रणववदन्तावयवाभावतो निरवयवत्वादनन्तावयवस्वरूपमुपपद्यते इत्यर्थः । आरोपापवादाधिकरणयोः सगुणनिर्गुणत्वं वस्तुतः निष्प्रतियोगिक-निर्गुणत्वं चाह — सगुण इति । सगुणो विराट्प्रणवः सर्वारोपाधिकरण-ब्रह्मप्रतीकत्वात् संहारो निर्गुणप्रणवः स्वातिरिक्तसर्वापवादाधिकरणब्रह्मालम्ब-नत्वात् । किं च उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवः सगुणनिर्गुणविराट्साक्षियोगतः उभया-त्मकोऽयं उत्पत्तिप्रणवः सगुणनिर्गुणप्रणवद्दयाधिष्ठितेश्वरस्य स्वाज्ञस्वज्ञदृष्टिभ्यां सविशेषनिर्विशेषस्वरूपत्वेन स्वातिरिक्तप्रपञ्चोत्पत्त्यादिहेतुत्व।त्तद्वाचकस्योत्पत्ति-प्रणवत्वं युज्यत इत्यर्थः । सप्रतियोगिकनिर्गुणप्रणवं दृष्टान्तीकृत्य दार्ष्टान्तिकतया निष्प्रतियोगिकनिर्गुणतदुपायषोडशमात्राप्रपञ्चनपूर्वकब्रह्मप्रणवस्वरूपमाह – यथेति । प्छतप्छत्तराब्देन चतुर्थमात्रार्धमात्रोच्यते तदसङ्गचिद्धातुरकारादिमात्रात्रयतदध्यक्ष-विश्वविराडोत्र। चपेक्षया यथा निर्गुण: सप्रतियोगिकनिर्गुणरूपेण। विराजत इति विराट् । व्यष्टिसमष्टितुर्यैक्योतेत्यर्थः । तथा प्लुतप्लुतः अर्धमात्रार्धमात्रात्मकः स्वयं षोडशसंख्यापूरकामात्राख्यपरा मात्राभेदेन स्थित्वा स्वातिरिक्तस्थूळाकारादिपञ्च-दशमात्रात्र व्यष्टिसमष्टितदु भयेक्यतदारोपापवादाधिकरणविश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञेकर -सान्तप्रविभक्ततमआदिगुणसाम्यान्तविशेषजातं संहरत्युपसंहरत्यपह्नवं करोतीति संहारः ॥ २ ॥

# विराट्प्रणवस्य षोडशमात्रात्मकत्वम्

विराट्प्रणवः षोडशमात्रात्मकः षट्त्रिंशतत्त्वातीतः। षोडश-मात्रात्मकत्वं कथमित्युच्यते । अकारः प्रथमः, ह्युकारो द्वितीयः, मकारस्तृतीयः, अर्घमात्रः चतुर्थः, बिन्दुः पश्चमी, नादः षष्ठी, कला सप्तमी, कलातीताष्टमी, शान्तिर्नवमी, शान्त्यतीता दशमी, उन्मन्येकादशी, मनोन्मनी द्वादशी, पुरी त्रयोदशी, मध्यमा चतुर्दशी, पश्यन्ती पश्चदशी, परा षोडशी । पुनश्चतुःषष्टिमात्रः ऽ 16 प्रकृतिपुरुषद्वैविध्यमासाद्याष्टाविंदात्युत्तरदातभेदमात्रास्वरूपमासाद्य स-गुणनिर्गुणत्वमुपैत्येकोऽपि ब्रह्मप्रणवः ॥ ३ ॥

स्वातिरिक्ताकारस्यूळाद्यंशप्रभवजाप्रजाप्रदादिचतुष्पञ्चदशकळनापह्नवसिद्ध -निष्प्रतियोगिकनिर्गुणतुर्यतुर्यरूपेण विराजत इति विराट् । स यत्रोपलभ्यते सोऽयं विराट्प्रणवो ब्रह्मप्रणव इत्यर्थः । कथं पुनस्तस्य विराट्प्रणवस्य ब्रह्मप्रणवत्वम् घोडशमात्रात्मकत्वात् । काः ताः मात्राः इत्यत आह—**षोडश**-मात्रात्मक इति । वराहोपनिषदुक्तज्ञानकर्मप्राणशब्दादिपञ्चकान्तःकरणचतुष्टय-पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतपञ्चकपञ्चतन्मात्रमहत्तत्त्वाव्यक्ताख्यानि षट्त्रिंशत्तत्त्वान्यतीत्या-पह्नवीकृत्य निष्प्रतियोगिकतया वर्तते अवशिष्यत इति षट्त्रिंशत्तत्वातीत इत्यर्थः । शिष्टमुक्तार्थम् । षोडशमात्रास्वरूपं विशदीकरोति—अकार इति । षोडश-मात्रात्मको ब्रह्मप्रणवः तत्र पञ्चदशमात्रातदध्यक्षविश्वविश्वाद्यविकरूपानुङ्गैकरसान्त-चैतन्याधिष्ठितो भवतीत्यत्र ब्रह्मप्रणवतदीपिकादिकृत्स्नं प्रमाणं न केवल्रमिदं मानं किं तु नृसिंहतापिनीपरमहंसपरित्राजकाद्युपनिषदोऽपीत्पर्थः । एकस्यैव ब्रह्मप्रणवस्य प्रकृतिपुरुषावयवयोगतो बहुत्वं स्वेन रूपेणैकत्वं चाह—पुनिरिति । पुरा ब्रह्मप्रणवावयवाकारादेः अयुताद्यवयववैशिष्ट्यमुक्तं पुनरिप स्वातिरिक्तत्वेन । प्रकृत-त्वात् प्रकृतिः । तस्याश्चतुष्पष्टिमात्रावैशिष्टयं कथं इस्पत्र व्यष्टयकारस्थ्रलाकारादि-पञ्चदञ्ञ, तथा समष्टिस्थ्रलाकारादिपञ्चदशिविशिष्टं त्रिंशत्, तथा व्यष्टिसमष्टि-जाप्रजाप्रदादित्रिंशत् , क्रियाज्ञानेच्छाशक्तित्रयं, माया चेत्याहत्य प्राकृतविभागश्च-तुष्षष्टिः । तथा स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यजातं नवप्रजापत्याद्यविकलपानुज्ञैकर-सान्तचैतन्यात्मना । पूरयतीति पुरुषः । तस्य चतुष्पष्टिपादमात्रत्वं कथं इत्यत्र प्रजापतयो नव पञ्चीकुत्यनिर्वाहकपञ्चब्रह्मणः वसुरुद्रादित्या अन्तर्यामिकूटस्थाः पञ्च, विश्वविश्वादयः पञ्चदरा, विराड्विराडादिः पञ्चदरा, ओत्रोत्रादिः पञ्चदरा, आहत्य चतुष्षष्टिः एवं निर्विशेषचिद्धातुरेव चतुष्षष्टिमात्रापादवत् प्र**कृति**-पुरुषद्वैविध्यमासाद्य स्वयं वस्तुमात्रदृष्ट्या प्राकृतपौरुषयोगप्रभवाष्टाविंशत्युत्तर-शतमात्रास्वरूपमासाचेवासाच सगुणत्वमुपैति । स्वज्ञदृष्ट्या प्राकृतपौरुषभेद-

कलनापवादाधिकरणतया निर्गुणत्वं चोपैति । यत एकोऽपि ब्रह्मप्रणवः स्वाज्ञादि-दृष्ट्या सगुणत्वं निर्गुणत्वं चावाप ॥ ३ ॥

#### परब्रह्मानुसन्धानम्

सर्वाधारः परं ज्योतिरेष सर्वेश्वरो विमुः ।
सर्वदेवमयः सर्वप्रपञ्चाधारगर्भितः ॥ ४ ॥
सर्वाक्षरमयः कालः सर्वागममयः शिवः ।
सर्वश्रुत्युत्तमो मृग्यः सकलोपनिषन्मयः ॥ ५ ॥
भूतभव्यभविष्यद्यत्विलोकादितमव्ययम् ।
तद्व्योंकारमेवार्य विद्धि मोक्षप्रदायकम् ॥ ६ ॥
तदेवात्मानमित्येतद्वद्धश्चाब्देन वर्णितम् ।
तदेकमजरममृतमनुभूय तथोमिति ॥ ७ ॥
सश्चरीरं समारोप्य तन्मयत्वं तथोमिति ।
त्रिशरीरं स्वमात्मानं परं ब्रह्म विनिश्चिन् ॥ ८ ॥
परं ब्रह्मानुसंद्ध्याद्विश्वादीनां क्रमः क्रमात् ।

अत एवायं सर्वारोपापवादाधिकरणतया सर्वाधारः जडाधारतया जडत्वं स्यात् इत्यत आह—परं ज्योतिरिति। स्वस्य जडप्रपञ्चातिरिक्तत्वेनाजडस्व-रूपत्वात् वस्तुतोऽयमेष सर्वेश्वरः स्वातिरिक्तसर्वापह्वविसद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्म मात्रतयाऽवस्थातुमीश्वरत्वादिति तमात्मानं परमार्थदृष्टयः स्वावशेषिधया विदुः जानन्तीत्यर्थः। ब्राह्मणेन योऽथोऽभिहितः तन्मन्त्रप्रामोऽप्यनुवदिति—सर्वेत्यादि। सर्वदेवमयः सर्वदेवतास्वरूपत्वात्। सर्वप्रपञ्चारोपाधार ईश्वरो यतो निष्पनः सोऽयं प्रपञ्चाधारगर्भितः॥ सर्वाद्यरमयः पञ्चाश्वरूणीर्थरूपत्वात्। कालः कल्यितृत्वात् सर्वस्य काल्यितृत्वाद्वा। सर्वागममयः आगमशास्त्रार्थरूपत्वात्।

शिवः स्वातिरिक्ताशिवप्रासत्वात् । किं च — सर्वेति । "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्ददन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संप्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् " इति श्रुत्यनुरोधेन सर्वश्रुतिभिरोमिति यदुक्तं तद्वह्मप्रणवार्थ- तुर्यतुर्यस्वमात्रमित्येवायमात्मा मृग्य अन्वेष्टच्यः इत्ररथा मृगयितुमशक्यत्वात् ईशादिसकलोपनिषन्मयः सर्वोपनिषन्मुख्यार्थत्वात् यः कालत्र्त्रयाविच्छनः तदती- तोऽपि तमेव मोक्षसाधनं विद्वीत्याह — भूतेति ॥ श्रीनृतिहोत्तरतापिन्यां "ओमित्ये- तदक्षरिमदं सर्वम् " इत्यादि "स आत्मा स विज्ञेयः" इत्यन्तं यथाव्याख्यात- मत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ अयमात्मा ब्रह्मत्यंशं विवृणोति — तदेवेति । "तदेकमजरम- मृतमोमित्यनुभूय तस्मिन्निदं सर्वं त्रिशरीरमारोप्य तन्मयं हि तदेवेति तं वा एतमात्मानं त्रिशरीरं परं ब्रह्मानुसंदध्यात्" इति श्रुत्यंशमनुकरोतीत्याह — तदेकिमिते ॥ ४ – ८ ॥

### विश्वादीनां चातुर्विध्यम्

स्थूलत्वात्स्थूलभुक्तवाच्च सूक्ष्मित्वात्सूक्ष्मभुक्परम् ॥ ९ ॥ ऐक्चित्वानन्द्भोगाच्च सोऽयमात्मा चतुर्विधः । चतुष्पाज्ञागरितस्थानस्थूलप्रज्ञो हि विश्वभुक् ॥ १० ॥ एकोनविंशतिमुखः साष्टाङ्गः सर्वगः प्रभुः । स्थूलभुक्चतुरात्माथ विश्वो वैश्वानरः प्रमान् ॥ ११ ॥ विश्वजित्प्रथमः पादः स्वप्रस्थानगतः प्रभुः । सूक्ष्मप्रज्ञः स्वतोऽष्टाङ्ग एको नान्यः परन्तप ॥ १२ ॥ सूक्ष्मभुक्चतुरात्माथ तैजसो भूतराज्यम् । हिरण्यगर्भः स्थूलोऽन्तर्द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १३ ॥ कामं कामयते यावचत्र सुप्तो न कंचन । स्वप्तं परयति नैवात्र तत्सुषुप्तमपि स्फुटम् ॥ १४ ॥

एकीभृतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनवान्सुखी ।
नित्यानन्द्मयोऽप्यात्मा सर्वजीवान्तरस्थितः ॥ १९ ॥
तथाप्यानन्द्भुक्चेतोमुखः सर्वगतोऽञ्ययः ।
चतुरात्मेश्वरः प्राज्ञस्तृतीयः पाद्संज्ञितः ॥ १६ ॥
एष सर्वेश्वरश्चेष सर्वज्ञः सूक्ष्मभावनः ।
एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ ॥ १७ ॥
भूतानां त्रयमप्येतत्सर्वोपरमबाधकम् ।
तत्सुषुप्तं हि तत्स्वग्नं मायामात्रं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

तत् कथं विश्वादीनां चातुर्विध्यं इस्यत्र—स्थूळत्वादिति ॥ "त्रयमप्येतत् सुषुप्तम्" इति समानश्चितिः जाप्रदाद्यवस्थात्रयस्यापि सुषुप्तत्वं सर्वोपरमणाधि-करणज्ञानवाधकं जाप्रदाद्यवस्थात्रयेऽपि तत्त्वाप्रहणळक्षणस्वापस्य तुल्यत्वादित्यर्थः ॥ स्वप्नं मायामात्रं इस्यत्र जाप्रतस्वप्नावन्यथाप्रहणळक्षणावित्यर्थः ॥ ९–१८॥

तुर्यावस्थायाः चातुर्विध्यम्

चतुर्थश्चतुरात्मापि सिचिदेकरसो ह्ययम् । तुरीयावसितत्वाच एकैकत्वानुसारतः ॥ १९ ॥ ओतानुज्ञात्रनुज्ञातृविकल्पज्ञानसाधनम् । विकल्पत्रयमत्रापि सुषुप्तं स्वप्नमान्तरम् । मायामात्रं विदित्वैवं सिचिदेकरसो ह्यथ ॥ २० ॥

जाम्रदाद्यवस्थात्रयस्य चातुर्विध्यमुक्तवा तुर्यावस्थाया अपि चातुर्विध्य-मुच्यते—चतुर्थ इति । कथं तुर्यपर्यवसितत्वं इत्यत्र—एकैकत्वानुसारत इति ॥ सर्वत्र तुर्यानुस्यूतिसाधनं कि इत्यत्र—ओतेत्यादि । अत्रापि ओत्रादित्रयमपि सुषुत्तमेव विश्वविश्वाद्यनुज्ञैकरसाविकल्पवदात्मावरणभेदप्रतीत्यवास्तवत्वसाम्यात् । तुर्यतुर्यातिरिक्तं सर्वं माथामात्रं इति विदित्वाथ वेदनोत्तरक्षणं स्वयमेव सिच्चदेकरसो ह्यविशय्त इत्यर्थः ॥ १९, २०॥

### तुर्यतुरीयो ब्रह्मप्रणवः

विभक्तो ह्ययमादेशो न स्थूलप्रज्ञमन्वहम् ।

न सूक्ष्मप्रज्ञमत्यन्तं न प्रज्ञं न किचिन्मुने ॥ २१ ॥

नैवाप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञमान्तरम् ।

नाप्रज्ञमपि न प्रज्ञाघनं चादृष्टमेव च ॥ २२ ॥

तद्लक्षणमग्राह्यं यद्व्यवहार्यमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते । स ब्रह्मप्रणवः

स विज्ञेयो नापरस्तुरीयः सर्वत्र भानुवन्मुमुक्षूणामाधारः स्वयंज्योति
ब्रह्माकाशः सर्वदा विराजते परब्रह्मत्वात् । इत्युपनिषत् ॥ २३ ॥

युगपत्तुर्यतुर्ययाथात्म्याज्ञविकल्पिततुर्यतुर्यप्रविभक्तस्थूलाकारादिमात्रापञ्चदश - परिणतव्यष्टिसमष्टिकलमान्वितजाग्रजाग्रदादितुर्यस्वापावस्थान्तारोपापवादाधिकरण - विश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञेकरसान्तचेतन्यविभातविशेषजातापह्विसद्धनिष्प्रतियोगिक - तुर्यतुर्यमात्रं प्रपञ्चयति — विभक्त इत्यादिना । "स आत्मा स विज्ञेयः" इत्यन्तं गृसिहोत्तरतापिनीविवरणेन व्याख्यातं भवतीति मन्तव्यम् । प्रकृतब्रह्मप्रणंवमुपसं हरित —स इति । अस्मिन्नुपदेशे यस्तुर्यतुरीयोऽभिहितः स ब्रह्मप्रणवः स एव स्वमात्रमिति विज्ञेयः तुर्यतुर्यापेक्षया नापरस्तुरीयः तुर्यतुर्याधिगमादर्शनात् तुर्यतुर्य एव स्वज्ञदृष्या मुमुक्षूणामाधारः तत्प्राप्यत्वात् सर्वप्रकाशकभानुवत्

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> उ. उ १. ब्रह्माकार:

स्वयंज्योतिः सूर्यादिज्योतिषामपि ज्योतिष्ट्वात् । वस्तुतो भास्यभासककळनापह्नव-सिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया काशत इति ब्रह्माकाशः । सर्वदा स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसित स्वमात्रतया विराजते । कुतः परंब्रह्मत्वात् । स्वावशेषतया स्थितिर्युज्यत इत्यर्थः । अष्टमोपदेशसमाप्त्यर्थोऽयमित्युपनिषच्छब्दः ॥ २१–२३ ॥

इत्यष्टमोपदेश:

#### ब्रह्मस्वरूपवर्णनम्

अथ ब्रह्मस्वरूपं कथिमति नारदः पप्रच्छ । तं होवाच पितामहः किं ब्रह्मस्वरूपिमिति । अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति ये विदुस्ते पश्चो न स्वभावपश्चवस्तमेवं ज्ञात्वा विद्वान्मृत्युमुखात्प्रमु-च्यते । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १ ॥

कालः स्वभावो नियतिर्यद्दच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्मा ह्यनीद्राः सुखदुःखहेतोः ॥२॥
ते घ्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगृहाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥
तमेकस्मिन् त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यरामिः।
अष्टकेः षड्भिर्विश्ररूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥४॥
पश्चस्रोतोऽम्बुं पश्चयोन्युय्यवक्त्रां पश्चप्राणोर्मि पश्चबुद्धचादिमूलाम्।
पश्चावर्तो पश्चदुःखौघवेगां पश्चाशद्भेदां पश्चपर्वामधीमः॥ ९॥
सर्वाजीव सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो श्चान्यते ब्रह्मके।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥ ६॥

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तिःमिश्चियं स्वप्रतिष्ठाक्षरं च। अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीनाः परे ब्रह्मणि तत्परायणः ॥७॥ संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः । अनीशश्चात्मा बुध्यते भोक्तभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपारीः ॥ ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तभोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो द्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत ॥९॥ क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावी शते देव एकः । तद्भिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः क्षीणैः क्षेशैर्जनममृत्यप्रहाणिः । तस्याभिध्यानानृतीयं देहभेदे विश्वेश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥११॥ एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् । भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्व प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥ आत्मविद्यातपोमूलं तद्वद्योपनिषत्परम् ॥ १३ ॥

पितामहेन ब्रह्मयाथात्म्यमुक्तमिप पुनर्नेमिशारण्यवासिमुनिमण्डलबुद्धि-वेशद्यार्थं ब्रह्मस्वरूपं सप्रकारं पृच्छतीत्याह—अथेति। यदि त्वं परोक्षं मन्यसे तदा अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति स्वमेदेन ये विदुस्ते पश्चः स्वस्वामिबद्धयमानपश्चव इव स्वाज्ञानदृद्धपाश्चद्धत्वात् ते स्वभावत एव पश्चवः इत्यत आह—न स्वभावपश्चव इति। तेषां स्वभावस्य निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्र त्वात् यः सदा निष्प्रतियोगिकमविशिष्यते तमेवं स्वमात्रमिति ज्ञात्वा विद्वान् मृत्युमुखात् प्रमुच्यते। स विद्वान् वेदनसमकालं स्वातिरिक्तास्तित्वमेव मृत्युः तन्मुखतः स्वाज्ञानात् मुच्यते स्वयं स्वमात्रमविशिष्यते इत्यर्थः। स्वाज्ञानप्रभवस्वातिरिक्तवन्थस्य स्वज्ञानादते विनाशो न विद्यत इत्याह—नान्यः पन्था

विद्यतेऽयनायेति । एवं नारदेन साकं विधिमुखतः श्रुतवेदान्ता नैमिशारण्यवासिनो मुनयो मिलित्वा कालादिसांख्यान्तमतान्युपन्यस्याथ पूर्वपक्षत्वेन निरस्य यत् परमार्थतत्त्वं तदेव स्वमात्रं नातोऽतिरिक्तमस्तीति ध्यात्वा तन्मात्रमविशिष्यते इत्याह—काल इति । श्वेताश्वतरमन्त्रोपनिषदि "कालस्वभावः" इत्यारभ्य "तद्वद्वोपनिषत् परम्" इत्यन्तं पदशो व्याख्यातमित्यत्रोपरतिमिति मन्तव्यम् । एवं नैमिशारण्यवासिनः परमेष्टीमुखतः "नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्" इति स्वातिरिक्तसर्वापह्वसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति विदित्वा वेदनसम्वालं कृतकृत्याः सन्तः तन्मात्रमविशिष्यन्त इत्यर्थः ॥ १-१३॥

#### शास्त्रवेदनफलम्

य एवं विदित्वा स्वरूपमेवानुचिन्तयन् 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपदयतः'। तस्माद्विराड् भूतं भव्यं भविष्यद्भवत्यन-श्वरस्वरूपम् ॥ १४॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमकतुं पश्यित वीतशोको घातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥१५॥
अपाणिपादो जवनो प्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरप्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचिति ॥ १७ ॥
सर्वस्य धातारमचिन्त्यशक्तिं सर्वागमान्तार्थविशेषवेद्यम् ।
परात्परं परमं वेदितव्यं सर्वावसानेऽन्तकृद्धेदितव्यम् ॥ १८ ॥
कविं पुराणं पुरुषोत्तमोत्तमं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम् ।
अनादिमध्यान्तमनन्तमव्ययं शिवाच्युताम्भोरुह्गर्भभूधरम् ॥

स्वेनावृतं सर्विमिदं प्रपञ्चं पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानम् । पञ्चीकृतानन्तभवप्रपञ्चं पञ्चीकृतस्वावयवैरसंवृतम् । परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम् ॥२०॥

यः कोऽप्येतच्छास्त्रं यथावद्वेद सोऽपि कृतकृत्यो भवतीत्याह---य एवमिति । य एवं मौनिपटळवत् गुरुमुखात् ससंन्यासज्ञानैकगम्यं ब्रह्म स्वमात्र-मिति विदित्वा ततस्तत्स्वरूपमेव स्वात्मेत्यभेदं पश्यतः तत्र स्वरूपे स्वातिरिक्त-मस्ति नास्तीति को मोहः तदपाये कः शोकः ब्रह्ममात्रावगतेः शोकमोहापह्नव-पूर्वकत्वात् । यस्मादेवं स्वातिरिक्तापह्नवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतया विराजते तस्मात् विराद् । परमात्मैव स्वाज्ञदृष्ट्या यद्भूतादिकालपरिच्छेदां तत् स्वज्ञदृष्ट्या स्वरूपमेव भवतीत्याह—**भूतं भव्यमि**ति । वस्तुतः सन्मात्राति-रिक्तासदभावात् ''पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्यत् '' इति श्रुते: । एवमात्मानं पश्यतो वीतज्ञोकत्वमात्मनः करणग्रामाभावेऽपि करणग्रामप्रवृत्तिनिमित्तत्वं चाह— अणोरिति ॥ मन्त्रद्वयमपि श्वेताश्वतरे व्याख्यातम् । कथं पुनः आत्मज्ञानात् शोकात्ययः देहावच्छित्रात्मनः शोकदर्शनात् इत्यत आह—अ**शरीरमि**ति॥ शोकनिमित्तशरीरत्रयंवैरल्यात् शरीरत्रयापह्वतिसद्भवह्मवेदनोपायमाह सर्वस्येति । स्वाज्ञदृष्टिविकालिपतस्य सर्वस्य जगतः विष्णवात्मना धातारं पोषकम्। ईश्वरात्मना अचिन्त्या अघटितघटनापटीयसी शक्तिर्यस्य त**मचिन्त्यशक्ति** प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मना सर्वागमान्तार्थः । ''ब्रह्मव्यतिरिक्तं न किंचिदस्ति,'' "ब्रह्ममात्रमसन्न हि" इति परमसिद्धान्त एव विशेषार्थ:। तन्मात्रतया वेद्यं स्वात्मानं ये जानन्ति तैर्बहाविद्धिः यत् पराद्वअरादिप परं तदेव परमं ब्रह्म सर्वावसाने स्वातिरिक्तसर्वापहृवे सित स्वमात्रमिति सकृदेव वेदितव्यम् । वेदनवृत्तेरप्युपरमात् यद्येवं वेदितुमशक्तस्तदा कविं इत्यादिविशेषणविशिष्टमीश्वरं वा चिरमुपास्य तत्प्रसादलब्धबहाज्ञानेन निर्विशेषं ब्रह्मेंवेतीत्याह—कविमिति। कविं सर्वज्ञत्वात् । पुराणं चिरन्तनत्वात् । आदिमध्यान्तं स्वस्य जन्म-स्थितिलयाभावात् । शिवाच्युताम्भोरुह्गर्भा हरहरिविरिश्चितरवः तेषां प्ररोह-

गिरित्वात् ॥ किं च—स्वेनेति । स्वेनान्तर्याम्यादिभावमापनेनायं प्रपञ्चो व्याप्त इति वक्तव्ये इदं प्रपञ्चं इति विभक्तिलिङ्गव्यत्ययः । पञ्चात्मकं इत्यादिप्रपञ्च-विशेषणम् । तत्र्यास्या तत्संवृतत्वं स्यात् इति शङ्कायां असंवृतं इति विशेषणं असंवृतत्वे हेतुः । परात् परं इति महद्व्यक्तादेरिप व्यापकत्वेन महत्वात् । वस्तुतः शिवं स्वातिरिक्ताशिवापह्नवात् । सिद्धं ब्रह्मास्मीत्यात्मानं जानीयात् इत्यर्थः ॥ १४–२०॥

#### ब्रह्मप्राप्तिः तद्वेतुश्च

नाविरतो दुश्चरितात्राशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्तुयात् ॥ २१ ॥
नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं न स्थूलं नास्थूलं न ज्ञानं नाज्ञानं
नोभयतःप्रज्ञमग्राह्यमञ्यवहार्यं स्वान्तःस्थितः स्वयमेवेति य एवं
वेद स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्याह भगवान्पितामहः ॥ २२ ॥

एवं ज्ञानी दुश्वरितादिवृत्तिमानिप ब्रह्माप्रुयादित्यत आह—नेति । दुश्वरितादिवृत्तिमतो ज्ञानानुदयात् यदि स्यात् प्रमादतस्तदाभासज्ञानं भवेत्रह्या-भासज्ञानं ब्रह्मसक्षात्कारहेतुर्भवति । यस्मादेवं तस्मात् दुश्वरितादिवृत्त्यसंभव-निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रप्रज्ञानेन तद्भावापन्नो भवतीत्यर्थः ॥ स्वान्तर्बाद्यविजृम्भित-स्यूलसूक्ष्मप्रपञ्चासंभवब्रह्ममात्रज्ञानतो मुक्तो भवतीत्याह—नान्तःप्रज्ञमिति ॥ आवृत्तिरवधारणार्था ॥ २१, २२ ॥

#### परिवाजकस्थितिः

स्वस्वरूपज्ञः परित्राट् परित्राडेकाकी चरति, भयत्रस्त-सारङ्गवत्तिष्ठति, गमनविरोधं न करोति । स्वरारीरव्यतिरिक्तं सर्व त्यक्तवा षट्पदवृत्त्या स्थित्वा स्वरूपान्तसंघानं कुर्वन्सर्वमनन्य-बुद्धचा स्वस्मिन्नेव मुक्तो भवति । स परित्राट् सर्विक्रयाकारकिनवर्त-को गुरुशिष्यशास्त्रादिविनिर्मुक्तः सर्वसंसारं विस्रुज्य मामोहितः । परित्राट् कथं निर्धनिकः सुखी । धनवान् ज्ञानाज्ञानोभयातीतः सुखदुःखातीतः स्वयंज्योतिःप्रकाशः सर्ववेद्यः सर्वज्ञः सर्वसिद्धिदः सर्वेश्वरः सोऽहमिति । तद्धिष्णोः परमं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः । सूर्यो न तत्र भाति न शशाङ्कोऽपि । न स प्रनरावर्तते न स प्रनरावर्तते । तत्कैवल्यम् । इत्युपनिषत् ॥ २३ ॥

एवं मुक्तिभाजनपरिब्राजकस्थितिमाह—स्वस्वरूपः इति । स्वस्वरूपं स्वमात्रमिति जानातीति स्वस्वरूपः । स्वाज्ञानतत्कार्यं परिव्यज्यापह्वं कृत्वा स्वभावं ब्रजति भजतीति परिब्राट् । स्वातिरिक्तद्वयाभावात् स्वाज्ञदृष्ट्या जनसंबाधेऽपि स्वदृष्ट्या परिब्राडेकाकी चरति । स्वाज्ञदृष्ट्या भयत्रस्तसारङ्गवत् तिष्ठति इव तिष्ठति । तथा स्वगमनिवरोधं न करोतीव । स्वज्ञदृष्ट्या शरीराभावेऽपि परारोपितप्रातिभासिकस्वशरीरव्यतिरक्तं सर्व त्यक्त्वां पद्पदृश्च्या माधूकरास्यपात्रवृत्त्या स्थित्वाहोरात्रं स्वरूपानुसंधानमेव कुर्वन् सर्वमनन्यबुद्ध्या स्वरिमन्नेव मुक्तो भवति । कियाकारकद्वैतर्शून्यः गुरुशिष्य-शास्त्रादिभिदागन्धविकलः नित्यानन्दस्वान्ततया न कदापि संसारदुःखमोहितः । परिब्राद् कथं पुनः निर्धनिकः सुखी भवति ब्रह्ममात्रधनवतो नित्यसुखितोपपद्यते कानाज्ञानोभयातीतः चिदाभासताया मृग्यत्वेन ज्ञानाज्ञानातीतत्वं "ज्ञानिताज्ञानिते चात्माभासस्येव न चात्मनः" इति स्मृतेः । स्वयंज्योतिः प्रकाशमात्रत्वात् । यः सर्वापह्वतिसद्भव्रह्ममात्रतया अवस्थातुमीश्वरो भवति सोऽहं सर्वेश्वरः । योगिनो यत्पदं प्राप्याद्यापि न निवर्तन्ते तद्विष्णोः परिव्राजकस्य परमं पदम् । न हि तत्र सूर्यश्वशांकौ भासेते । यत्पदमपुनरावर्तकं

तदेव हि कैवल्यम् । इतिशब्दो नवमोपदेशसमात्यर्थः । उपनिषच्छब्दः नारद-परिबाजकोपनिषत्समात्यर्थः ॥ २३ ॥

इति नवमोपदेशः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना । नारदीयविवरणं लिखितं स्यात् स्फुटं लघु । परिव्राजकोपनिषद्भाख्याग्रन्थः सहस्रयुक् ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे त्रिचत्वारिंशत्संख्यापूरकं नारदपरित्राजकोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

# निर्वाणोपनिषत्

## वाङ्मे मनसि-इति शान्तिः॥

#### मुख्यावधूतलक्षणम्

अथ निर्वाणोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ परमहंसः सोऽहम् ॥ २ ॥ परित्राजकाः पश्चिमछिङ्गाः ॥ ३ ॥ मन्मथ-क्षेत्रपालाः ॥ ४ ॥ गगनसिद्धान्तः ॥ ५ ॥ अमृतकछोलनदी ॥ ६ ॥ अक्षयं निरञ्जनम् ॥ ७ ॥ निःसंशय ऋषिः ॥ ८ ॥ निर्वाणो देवता ॥ ९ ॥ निष्कुलप्रवृत्तिः ॥ १० ॥ निष्केवलज्ञानम् ॥ ११ ॥ उर्ध्वाम्नायः ॥ १२ ॥ निरालम्बपीठः ॥ १३ ॥ संयोगदीक्षा ॥ १४ ॥ वियोगोपदेशः ॥ १५ ॥ दीक्षासंतोषपावनं च ॥ १६ ॥ द्वादशा-दित्यावलोकनम् ॥ १७ ॥ विवेकरक्षा ॥ १८ ॥ करुणैव केलिः ॥ १९ ॥ आनन्दमाला ॥ २० ॥ एकासनगुहायां मुक्तासनसुखगोष्ठी ॥ २१ ॥ अकल्पितमिक्षाशी ॥ २२ ॥ हंसाचारः ॥ २३ ॥ सर्वभूतान्तर्वर्ती हंस इति प्रतिपादनम् ॥ २४ ॥ वैर्यकन्था । उदासीनकौपीनम् । विचारदण्डः । ब्रह्मावलोकयोगपट्टः । श्रियां पादुका । परेच्छाचरणम् ।

कुण्डलिनीबन्धः । परापवादमुक्तो जीवनमुक्तः । शिवयोगनिद्रा च खेचरीमुद्रा च परमानन्दी ॥ २५ ॥ निर्गुणगुणत्रयम् ॥ २६ ॥ विवेकलभ्यं मनोवागगोचरम् ॥ २७ ॥ अनित्यं नगद्यज्जनितं स्वप्तनगद्भगनादित्रल्यम् , तथा देहादिसंघातं मोहगणनालकलितं तद्रज्जुसर्पवत्कल्पितम् ॥ २८ ॥ विष्णुविध्यादिशताभिधानल-क्ष्यम् ॥ २९ ॥ अङ्कुशो मार्गः ॥ ३० ॥ शून्यं न संकेतः ॥ ३१ ॥ परमेश्वरसत्ता ॥ ३२ ॥ सत्यसिद्धयोगो मठः ॥ ३३ ॥ अमरपदं न तत्स्वरूपम् ॥ ३४ ॥ आदिब्रह्म स्वसंवित् ॥ ३५ ॥ अजपा गायत्रीविकारदण्डो ध्येय: ॥ ३६ ॥ मनोनिरोधिनी कन्था ॥ ३७ ॥ योगेन सदानन्दस्वरूपदर्शनम् ॥ ३८ ॥ आनन्दमिक्षाशी ॥ ३९ ॥ महाइमशानेऽप्यानन्दवने वासः ॥ ४० ॥ एकान्तस्थान-मठम् ॥ ४१ ॥ उन्मन्यवस्था शारदा चेष्टा ॥ ४२ ॥ उन्मनी गतिः ॥ ४३ ॥ निर्मलगात्रं निरालम्बपीठम् ॥ ४४ ॥ अमृत-क्छोलानन्दिकया ॥ ४५ ॥ पाण्डरगगनमहासिद्धान्तः ॥ ४६ ॥ शमदमादिदिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्रपात्रपट्रता परावरसंयोगः तारको-पदेशः ॥ ४७ ॥ अद्वैतसदानन्दो देवता ॥ ४८ ॥ नियमः स्वान्त-रिन्द्रियनिग्रहः ॥ ४९ ॥ भयमोहशोककोधत्यागस्त्यागः ॥ ५० ॥ परावरैक्चरसास्वादनम् ॥ ५१ ॥ अनियामकत्वनिर्मलशक्तिः ॥ ५२ ॥ स्वप्रकाशब्रह्मतत्त्वे शिवशक्तिसंपुटितप्रपञ्चच्छेदनम् , तथा पत्रा-क्षाक्षिकमण्डलभावाभावदहनम् ॥ ५३ ॥ बिभ्रत्याकाशाधारम् ॥ ५४ ॥ शिवं तुरीयं यज्ञोपवीतम्, तन्मया शिखा ॥ ५५ ॥ चिन्मयं

चोत्सृष्टिरण्डं संततोक्षिकमण्डलम् ॥ ५६ ॥ कर्मनिर्मूलनं कथा । मायाममताहङ्कारदहनं रमशाने ॥ ५७ ॥ अनाहताङ्गी ॥ ५८ ॥

> निर्वाणोपनिषद्वेदं निर्वाणानन्दतुन्दिलम् । त्रेपदानन्दसाम्राज्यं स्वमात्रमिति चिन्तये ॥

इह खलु ऋग्वेदप्रविभक्तेयं निर्वाणोपनिषत् पारिब्राज्यधर्मपूराप्रकटनपूर्वकं परमार्थतत्त्वप्रकाशिका विज्ञम्भते । अस्याः स्वल्पप्रन्थतो विवरणमारभ्यते । इयं श्रुतिः उत्तमाधिकारिणः परित्राजकानुपल्लभ्य स्वनाम्नोपनिषद्मुपदिशति— अथेत्यादिना । अथराब्दः आश्रमत्रयानन्तर्यार्थः । विदेहकैवल्यमेव निर्वाणं तद्बोधिनी सुपनिषदं विद्यां श्रुतयो वयं व्याख्यास्यामः विवरणं कुर्मः इत्पर्थः ॥ वक्ष्यमाणविद्याप्रतिपाद्यं किं इत्यत आह—परमहंसः सोऽहमिति । स्वातिरिक्ता-पह्नवसिद्धः परमः परमात्मा चासौ पुनः स्वाज्ञविकल्पितस्वातिरिक्तभ्रमं हन्तीति हंसश्चेति प्रसक्तप्रत्यगभिन्नपरमात्मा योऽयं प्रकटित: सोऽहमिति सम्यग्ज्ञानसिद्धं प्रत्यगाद्याख्यासहं निष्प्रतियोगिक ब्रह्ममात्रं प्रतिपाद्यमित्यर्थः ॥ के अत्राधिकारिणः इस्पत्राह—परित्राजकाः पश्चिमिळिङ्गा इति । बाह्यसंसारं परित्यज्य दण्डादि-धारणलक्षणं व्यक्तविष्णुलिङ्गमवलम्ब्य परितो व्रजन्तीति परिवाजकाश्च ते पश्चिममन्तःसंन्यासरुक्षणमन्यक्तविष्णुर्लिङ्गनश्चेति स्वबाह्यान्तर्विरुसितविक्षेपग्रास-व्यक्ताव्यक्तविष्णुलिङ्गधारिण इसर्थः । "सर्व एते विष्णुलिङ्गं दधाना व्यक्ता-व्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम् '' इति श्रुतेः ॥ तेषामेवं विष्णुलिङ्गसत्वेऽपि विष्णुत्वं कुत: इति तत्राह—**मन्मथक्षेत्रपाला** इति । मदित्यस्मत्प्रत्ययालम्बनप्रत्यगादि-विभागासहब्रह्ममात्राज्ञानविजुंभितसर्वशास्त्रमथनाविभूतमाविद्यकं पदं मन्मथक्षेत्रम् अनन्तकोटिब्रह्माण्डबीजप्ररोहभूमित्वात् क्षेत्रत्वं युज्यते । तत्स्वातिरिक्तं नास्तीत्य-पोह्य अहमेवेदं सर्व इति स्वात्ममात्रिधया पाळनाद्विष्णुत्वं निरङ्कुशमित्पर्थः ॥ विष्णोः साकल्यप्रसिद्धेः तद्भावापत्या तेषां सिद्धान्तोऽपि तथेत्यत आह— गगनसिद्धान्त इति । विष्णोः साकल्यं स्वाज्ञानसापेक्षं तदपाये "स एषोऽकलोऽमृतः '' इति श्रुतिसिद्धनिष्कलविष्णुभावारूदानां गगनविश्वस्वयवं निष्कलब्बह्मगोचरोऽयं सिद्धान्तः इत्यर्थः॥ तथापि पारिब्राज्योपाधियोगतः कथं तदन्तःकरणं निष्कलगोचरं भवतीत्यत आह—अमृतकछोळनदीति। निष्कलब्बह्मभावापन्नान्तःकरणं स्वमात्रभावामृततरङ्गविद्वरज्ञानदीविच्चदेकरसगोचरं तदन्तःकरणमित्यर्थः॥ तेषां क्षयिष्णवादिगुणकान्तःकरणयोगतः तत्स्वरूपमपि तथेत्यत आह—अक्षयं निरञ्जनमिति। कामादिवृत्तिमदन्तःकरणं क्षयिष्णवञ्जनाई च भवेत् परिब्राजकान्तःकरणस्य तद्वेपरीत्येन निर्विकलपब्रह्ममात्रपर्यवसन्नत्वात् तदृपमक्षयं सर्वत्र निरञ्जनं चेत्यर्थः॥ तेषामेवं बोधप्रदाता कीदशः इत्यत आह—निःसंशय ऋषिरित। श्रुत्याचार्यप्रसादमहिम्ना निःसंशयं यथा भवति तथा निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रभावमृषययगच्छित शिष्यान् ग्राहयति वेति निःसंशय ऋषिराचार्य इत्यर्थः। "सर्वशर्तरस्यचैतन्यब्रह्मप्रपक्षे गुरुः" इति श्रुतेः। तथाविधदेशिकानुशिष्टपरिब्राद्पटलसेव्यदेवता केत्यत आह—निर्वाणो देवतेति। निर्वाणमिति वक्तव्ये निर्वाण इति लिङ्गव्यत्ययः। ब्रह्ममात्रावस्थानलक्षणनिर्वाणं केवल्यं तद्र्पतया देदीप्यमाना वासुदेवरूपिणी देवतेत्यर्थः।

''सर्वभूताधिवासं यद्भूतेषु च वसत्यपि । सर्वानुप्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेव: ॥ ''

इति श्रुतेः ॥ एवं निर्वाणदेवताभावमापन्नानामि स्वकुळानुरूपा प्रवृत्तिः स्यादित्यत आह—निष्कुळप्रवृत्तिरिति । स्वातिरिक्तकुळगोत्रादेः मायिकत्वेन कारणतुल्यत्वात् न हि ब्रह्ममात्रज्ञानसमकाळं स्वान्यकुळानुरूपा प्रवृत्तिनिवृत्तिर्वा अस्तीत्यत्र—" उत्पन्नतत्त्वबोधस्य यथापूर्व न संसृतिः" इति भगवत्पादोक्तेः । प्रवृत्तिसामान्याभावे देहधारणा कथमिति चेन्न । स्वदृष्ट्या देहतद्भारणाविश्रमविरुत्यात् । यदि प्रातिभासिकदृष्ट्या स्फुरेत्तदा देहधारणामात्रप्रवृत्तिनिवृत्त्योरिप तथात्वात् । न हि प्रातिभासिकप्रवृत्त्यादिः कार्यकारी भवति । "प्रतिभासत एवेदं न जगत् परमार्थतः" इति श्रुतेः ॥ कि तादशज्ञानं केवळज्ञास्त्रजन्यं नेत्याह—निष्केवळज्ञानिमिति । शास्त्रीयज्ञानस्य स्वातिरिक्तसत्ताबाधकत्वेऽिप कार्यकारी प्रवृत्तेरवाधकत्वात् नेदं शास्त्रजं भवितुमहंति कि तु तदुपेयतत्त्वज्ञानमेवेत्यर्थः ।

एवं ज्ञानिभिः पठनपाठनादिकं न कार्यं ततो ब्रह्मविद्यासंप्रदायविच्छेदः स्यादित्यत आह—ऊर्ध्वाम्नाय इति । तैः कर्तव्याकर्तव्यतया न किंचिदिप कार्यान्तरं विद्यते यदि प्राण्यदृष्टतः स्यात् तदा अधोभावंगतकर्मोपासनाकाण्डद्वयगोचरा-म्नायजातपठनपाठनाभावेऽपि ऊर्ध्व ब्रह्म यत्र उपनिषत्कदम्बे आम्नायते सोऽयं ऊर्ध्वाम्नायः ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषत्पूगः गुरुतः स्वयं वा पठेच्छिष्यान् वा पाठयेत् । एवंकृते ब्रह्मविद्यासंप्रदायाविच्छेदोऽपि स्यादिति यत् तत् सहजं इत्यत्र—

"सर्वेषु वेदेषूपनिषद्मावर्तयेत्।" "सदोपनिषदं विद्यामभ्यसेन्मुक्तिहेतुकीम्। कायः करोतु कर्माणि वृथा वागुच्यतामिह। तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम्॥" "विष्णुं ध्यायति धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विळीयताम्। साक्ष्यहं किंचिदण्यत्र न कुर्वे नापि कारये॥"

इत्यादिश्वतेः ॥ एवं ब्रह्मविद्यासंप्रदायप्रवर्तकानामवस्थानं सालम्बं स्यादित्यत् आह—निरालम्बपीठ इति । स्वातिरिक्तालम्बनशून्यब्रह्ममात्रतया पीठ आसनं स्थितिरिति यावत् । "निर्विशेषज्ञानिनः स्यात् स्वे महिम्नि सदा स्थितिः" इति स्मृतेः ॥ तेषां काभिनिवेशः इत्यत्र—संयोगदीक्षेति । सिन्छ्ष्यपटल्ब्रह्ममात्रज्ञानयोगवितरणे दीक्षा अभिनिवेश इवेत्यर्थः । एवमभिनिवेशामासोऽपि शिष्याद्यनिमित्तो न स्वत इति भावः ॥ तदुपदेशः कीदृशः इत्यत्र—वियोगोपदेश इति । प्रसक्तस्वातिरिक्तास्तित्वभ्रमवियोगः न हि निष्प्रतियोगिनकस्वमात्रे स्वातिरिक्तमस्ति नास्तीति विभ्रमावकाशोऽस्तीत्युपदेशः "अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति" इति श्रुतेः ॥ एवं शिष्योपदेशव्यप्रतया दुःखादिकं स्यादित्यत आह—दीक्षासन्तोषपावनं चेति । कुत्राप्यनभिनिवेशतः स्वाभिनिवेशामासोऽपि शिष्यपटल्सन्तोषकरः पावनकरश्चेत्यर्थः ॥ तद्दर्शनमि तथेत्याह—द्वाद्शादिन्त्यावलोकनिमिति । पावनहेतुद्वादशादित्यावलोकनवत् ब्रह्मवित्परिव्राजकावन्लोकनभिति । तथा च श्रुतिः ।

" खेचरा भूचराः सर्वे ब्रह्मविदृष्टिगोचराः । सद्य एव विमुच्यन्ते कोटिजन्मार्जितैरवैः ॥ " इति ॥

निरभिमानिनां रक्षा का इत्यत्राह—विवेकरक्षेति । ब्रह्ममात्रविवेको ज्ञानमेव रक्षा ।

> " श्रुत्याचार्यप्रसादात्ततत्त्वज्ञानास्तसंशयम् । ब्रह्मविष्णवादिविबुधाः पालयन्ति त्यजां कुलम् ॥ "

इति स्मृते: ॥ तत्केिलः कुत्रेति तत्राह — करुणैव केिलिशित । स्वाइपटलं स्वपद प्रापणीयमिति या करुणोदेति सैव केिलः ॥ तन्माला का इत्यत आह— आनन्दमालेित । स्वानन्दालंकृतत्वात् ॥ तद्गोष्ठी केित तत्राह— एकासन-गुहायामिति । सर्वत्रैकमेव आसनमवस्थानमटनं चलनं वा येषां ते एकासनाः । तेषां विहरणभूमिः गृहा तस्यां मुक्तः परित्यक्तः सिद्धासनादिपरिग्रहिनयमो येस्ते मुक्तासनाः तैः स्वरूपसुखं यल्लभ्यते तदेव गोष्ठी न हि जनसंबिन्धनी ॥ तद्र्थं कि परैः भिक्षा कल्पनीयेति तत्राह— अकिल्पतिभक्षाशीति । स्वार्थं गृहिणः पक्त्वा मुक्त्वा स्वस्थास्तिष्टन्ति ग्रामेकरात्रादिनियमतो गोदोहनमात्रकाला-काङ्क्षिषु भिक्षुषु भिक्षार्थमागतेषु पुनस्तद्र्थं पाकानवसरात् मुक्तशेषमेव दास्यन्तीति स्वार्थमविकिल्पतां भिक्षामक्षातीत्यविकिल्पतिभक्षाशी । तथा च स्मृतिः—-

"प्रामैकरात्रमटनं प्रवेशं चापराह्नके । गोदोहमात्रमाकांक्षित्रिष्क्रान्तो न पुनर्वजेत् ॥"

इत्यादि ॥ तदाचारः कीदृशः इत्यत्र—हंसाचार इति । हंसशब्देन तत्त्वंपदार्था-वुच्येते तल्रुक्ष्यैक्यानुसंधानमाचारः शील्लिस्यर्थः ॥ ते शिष्येषु कि प्रति-पादयन्ति इत्यत्र—सर्वभूतान्तर्वर्तीति । स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तसर्वभूतेषु स्वज्ञदृष्ट्यान्त-वर्ती हंसः प्रत्यगभिन्नपरमात्मा परमार्थदृष्ट्या सर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रति-योगिकस्वमात्रमिति प्रतिपादनं कुर्वन्ति ॥ तेषां कन्थाकौपीनदण्डयोगपृदृपादुका-चरणबन्धमोक्षनिद्रामुद्राः कीदृशाः इत्यत आह—धैर्येत्यादिना । ब्रह्मातिरिक्तं न किंचिदस्तीति मनोधेर्यमेव कन्था । स्वातिरिक्तोदासीनधीरेव कौपीनम् । सर्ववेदान्तार्थविचारो दण्डः । प्रयगभेदेन ब्रह्मावलेकनमेव योगपट्टः । स्वातिरिक्तबाह्यसंपच्छी्ररुच्यते तदस्पर्शनाय तस्यां पादुका । परेच्छयेव देहधारणमात्रचेष्टाचरणम् । तथा च श्रुतिः—''परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात् परेच्छया " इति । सुषुम्नायां कुण्डलिनीप्रवेशो भवितव्य इति संकल्प एव बन्धः स्वातिरेकेण नाडीकुण्डलिनीचिन्तायाः ब्रह्मावरणहेतुतया बन्धत्वं युज्यत इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—

" नाडीपुञ्जं सदासारं नरभावं महामुने । विमुच्येवात्मनात्मानमहमित्यवधारय ॥"

इति । स्वातिरिक्तात् परः परमात्मा स्वातिरिक्तास्तित्वविभ्रम एव **परापवादः** परमात्मावरणं तस्माजीवन्नपि यो मुच्यते स जीवन्मुक्तो भवेत् । तथा च स्मृतिः—

"स्वातिरिक्तास्तिताम्नान्तिः स्वमात्रावृतिरीरिता । स्वमात्रज्ञानखड्गेन तान् छित्वां विचरेचतिः" ॥ इति ॥

रिवाभेदेनावस्थानं शिवयोगः स एव निद्रा निर्विकलपकसमाधिरित्यर्थः । चशब्दतः पुनर्व्युत्थानाभावो द्योत्यते खे चिदाकाशे स्वाज्ञदृष्ट्या स्वाविद्यापद-कलपनायाश्चरितत्वात् खेचरी स्वाविद्यापादः तत्स्वातिरेकेणास्तीति धीः मुच्छब्देनोच्यते सर्वापह्वतिसद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रधिया खेचरीमुदं द्रावयतीति खेचरीमुद्द्रा तत्त्वज्ञानम् । चशब्दात् बाह्यखेचरीमुद्द्रापि गृह्यते ॥ मुद्द्रावकतया दुःखरूपता स्यादित्यत आह—परमानन्दीति । परमानन्दीति छिद्रच्ययः । परमानन्दीति खेचरीमुद्देत्यर्थः । भजतामानन्दातिहेतुत्वात् तथाविधानन्दब्रह्म ॥ किं सगुणं तत्राह—निर्गुणगुणत्रयामिति ॥ ब्रह्ममात्रसिद्धेः गुणत्रयतत्कार्यापह्वव्यूर्वकत्वात् निष्प्रतियोगिकनिर्गुणं ब्रह्म केन छभ्यमित्यत आह—विवेकछभ्यमिति । ब्रह्मातिरिक्तं नेति तत्त्वज्ञानं विवेकस्तेनैव छभ्य-मित्यर्थः । "नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" इति श्रुतेः ॥ छभ्यमित्युक्तितः

तत् किं सातिशयं तत्राह—मनोवागगोचरमिति । यत् स्वावशेषतया लभ्यं तत्करणग्रामापह्नवसिद्धं निरतिशयमित्यर्थः । ब्रह्मणः करणग्रामागोचरत्वेन ब्रह्मभावप्रसक्तौ स्वाज्ञानुभूतिसिद्धकार्यप्रपञ्चस्य कारणसापेक्षत्वान्त हि ब्रह्म विना तथाविधकारणं किंचिदस्ति ॥ अतो जगत्कारणत्वहेतुना ब्रह्मणो निष्प्रति-योगिकभावरूपत्वं सदृष्टान्तमाह—अनित्यमित्यादिना । यतो जगज्जनितं तद्रह्म नित्यमित्यवगन्तव्यम् ॥ जगतो नित्यब्रह्मजत्वेन नित्यत्वं स्यादित्यत आह—अनित्यमिति ॥ किमिवानित्यमित्यत्र—स्वप्नेति । स्वप्नोपलक्षिता-वस्थात्रयतत्कार्यात्मकं जगत् अभ्रपरिदृश्यमानमोहगजादिमिथ्यावस्तुतुल्यं तथा समिधदेहादिसंघातं तन्मोहगणजालकलितं जगत् रञ्जुसर्पवत् कल्पितम्॥ तत्कलपनाधिष्ठानं किं विष्णवादि तत्राह—विष्णुविध्यादिशताभिधानलक्य-मिति । विष्णवादिशब्दवाच्यविष्णवादयस्तल्रक्ष्यं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ विष्णवादिमार्ग-प्रापकहेतुः कः इत्यत्र—अ**ङ्कुशो मार्ग** इति । यथा रजःस्वामिनोऽ**ङ्कुशः** स्वेफ्सितदेशगमनहेतुः तथार्चिरादिमार्गो विष्णवादिप्रापकहेतुरित्यर्थः॥ किं अर्चिरादि विष्णवादिव्यतिरिक्ततया शून्यमित्यत्राह—शून्यं न संकेत इति । अर्चिरादेः विष्णवाद्यव्यतिरेकात् न शून्यत्वं तद्रपत्वेन सत्यमित्यर्थः। तथाच स्मृति:-

> ''स्वारोपिताखिलाण्डाले स्वाभेदश्रुतिमानतः । प्राप्यप्रापकभेदेऽपि सर्वे विष्णवात्मकं जगत् ॥'' इति ॥

तथा चेद्विष्णुरिसाख्या किं न स्यादिस्यत्र तस्य विष्णुत्वेऽिप मार्ग इति व्यवहारतो व्यावहारिकोऽयं संकेतः व्यावहारिकदृष्ट्या वा भूवेकुण्ठयोर- धोध्वंपातित्वं मार्गस्य निरालम्बान्तिरिक्षपातित्वं च प्रसिद्धम् ॥ तत्र गन्तृ- पटलगमनयोग्यतासंपादकशक्तिः का इत्यत आह—परमेश्वरसक्तेति । परेषां जीवानां ईश्वरो विष्णुः तत्सत्तासामर्थ्यं गन्तृनिरालम्बमार्गगमनशक्तिप्रदत्या पट्वीत्यर्थः ॥ साङ्कुशार्विरायुक्तवा ब्रह्ममात्रप्रापकोपायमाह— सत्यसिद्धयोगो मठ इति । "सन्मात्रमसदन्यत्" इति श्रुतिसिद्धसन्मात्रोऽहिमिति भावनैव योगः तद्योगविश्रान्तिस्थानं विदेहकैवल्यमेव मठः तदेव निर्विशेषब्रह्मप्रापक-

मार्ग इत्यर्थः ॥ कि तन्मार्गद्वयप्राप्यममरपदम् । तत्राह—अमरपदं न तत्स्व-रूपमिति । न हि मार्गद्वयगम्यममरपदं स्वर्गो भवितुमईतीत्यर्थः ॥ तथा चेत्तत् किं इत्यत आह — आदित्रहा स्वसंविदिति । सर्वीदित्वादादिकारणं ब्रह्म कार्यसा-पेक्षकारणतापि नास्तीति या संविदुदेति सैवादिब्रह्म। स्वसंवित् स्वमात्र-ज्ञानस्वरूपिम्सर्थः । ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' इति श्रुतेः ॥ मुमुक्षुभिः केन रूपेणात्मा ध्येय: इत्यत्राह**—अजपागायत्रीविकारदण्डो ध्येय** इति । मूळाघारप्रभवोच्छ्रासनिःश्वासात्मिका हंसस्सोऽहमिति भावनामयी **अजपे**त्युच्यते। गायन्तं त्रायत इति गायत्री । स्वाविद्याद्रयतुर्योशरूपा स्वाविद्याद्वयस्थूलादि-चतुरंशोऽपि तद्विकारेः तत्सर्वापह्नवसिद्धपरमात्मैवाजपागायत्रीविकारदण्डः निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतया ध्येय इत्यर्थः ॥ परमहंसपटलस्य शीतादिद्रन्द्वत्राणनकरकन्था का इत्यत आह -- मनो-निरोधिनीकन्थेति । मनः स्वाविद्यातत्कार्यं तिन्नरोधिनी ब्रह्मविद्या सैव कन्था विद्यायाः स्वाविद्याविकल्पितशीतादिग्रासत्वात् ॥ विद्यया किं दर्शनीयं इत्यत आह—योगेन सदानन्दस्वरूपद्रशनिमति । प्रत्यक्परचितारैक्यं योगः। तेन संजात**सदानन्दस्वरूपदर्शनं** विद्यानिष्पन्नमित्यर्थः ॥ एवं दर्शनसंपन्नः किमश्रातीस्रत आह**्यानन्द्रिश्वाशी**ति ॥ निर्विकल्पकावस्थायां स्वा-नन्दातिरिक्तभाम्यभिक्षासंभवात् तन्त्रिवासभूमिः केत्यत आह—महाइम-शानेऽप्यानन्दवने वास इति । महाइमशाने काश्यां तत्राप्यानन्दवने ब्रह्मनालादिप्रदेशे वासो वसतिः कर्तन्येत्यर्थः। यद्वा—महदादिपञ्चभूत-भौतिकजातभस्मीकरणहेतुत्वान्महाइमशानं प्रत्यक्चैतन्यम् । गाढभूमानन्दः आनन्दवनम् । तस्मिन् महाइमशानेऽप्यानन्दवने प्रसगमिने प्रमात्मिन स्वे मिहिम्नि स्वावशेषतया वासो वसितभेवेदिसर्थः ॥ तत्सदनं कुत्रेति तत्राह — एकान्तस्थानमठामिति । स्वेतरजनसंबाधशून्यमेकान्तस्थानं तदेव मठं सदनमित्यर्थः ॥ तस्य चेष्टा का इत्यत आह— उन्मन्यवस्था शारदा चेष्टेति । समाहितदशायामुन्मनी निर्विकलपकावस्था ततो व्युत्थानदशायां सर्ववेदान्तार्थ-प्रकाशिनी शारदा ब्रह्मविद्या चेष्टेसर्थः॥ तद्गतिः कुत्र इस्प्रताह—

उन्मनीगतिरिति । पदे पदे निर्विकलपकरूपायामुन्मन्यां गतिर्धावनम् ॥ तत्पीठं कि इत्यत्राह—निर्मेलगात्रं निरालम्बपीठिमिति । उन्मन्यवस्थारूढस्य यतेः निर्मलगात्रं निर्विशेषज्ञानं ब्रह्ममात्रगोचरत्वं निरालम्बत्वं तत्र पीठमा-सनमित्यर्थः ॥ तित्रया कीदशी इत्यत्र — अमृतकङ्कोलानन्दिकयेति । अमृतकल्लोलवदानन्दसागर इव महागम्भीरतैव क्रिया परमार्थतो निष्कि यत्वात् ॥ तित्सद्धान्तः कः इत्यत्र-पाण्डरगगनमहासिद्धान्त इति । पाण्डरशब्देन चिदुच्यते । सेव गगनं चिदाकाशम् । तत् स्वमात्रमिति निश्चयो महासिद्धान्तः ॥ एवं सिद्धान्तोपदेशः स्वाराज्यप्रापक इत्याह — शमद्मादीति । यथोक्ताधिकारी शिष्योद्देशेन देशिकोपदिष्टो मनुः प्रणवादिः तस्य स्वाति-रिक्तास्तित्वभ्रमतः संतारणात् तारकत्वम्। एवं तारकोपदेशः शिष्याणां शमादिसाधनसंपत्तिपुरस्सरं प्रत्यकपरचिदैक्यहेतुः। तद्यथा स्वान्तरिन्द्रिय-निप्रहः शमः । बाह्येन्द्रियनिप्रहो दमः । आदिशब्देन उपरत्यादिसाधनजातं गृह्यते । एवं साधनजातस्यासुरसंपद्प्रासदेवीसंपत्प्रापकत्वात् दिव्यशक्तित्वं तदाचरणं तद्नुष्टानम् । तन्त्रिर्वर्त्यशरीरं क्षेत्रं सर्वसाधनप्ररोहभूमित्वात् । तत्र शब्दादिविषयमदिरपातारं जीवं तन्मदिरवासनातो विमुखीकृत्य पालनात् त्राणनात् पात्रं अन्तः करणं तयोः क्षेत्रपात्रयोः श्रवणादिसाधनानुष्टानकरणसामध्यं पदता तद्वेतः आचार्योपदिष्टतारक इत्यर्थः ॥ तारकप्रतिपाद्यदेवता का इत्यत्राह—अद्वैतसदानन्दो देवतेति । शिष्याचार्यजप्तृजपादिकलनाग्रासमद्वैतं ब्रह्म तत्स्वरूपभूतो योऽयं आनन्दः तस्य देदीप्यमानरूपत्वात् देवतेति संज्ञा न हि सातिशया देवतास्तीत्यर्थः ॥ तदाह्युपायनियमः कः इत्यत्र — नियमः स्वान्तरि-न्द्रियनिमह इति । स्वस्यान्तरिन्द्रियमन्तः करणम् । तद्यथा कामादिवृत्त्या-कारेण न परिणम्यते तथा 'ब्रह्माहम् ' 'अहमेव ब्रह्म' इति निप्रहो ब्रह्माकार-परिणितः, सैव नियमः । तथा च स्मृतिः—

> "विषयेभ्यः परावृत्य करणग्राममञ्जसा । ब्रह्माकारेण युज्यस्व तद्धिते नियमो भवेत् "॥ इति ॥

एवं नियमवता त्यक्तव्यं कि इत्यत्राह—भयमोहशोककोधत्यागस्त्याग इति। जीवेशभिदा समुद्भतं भयं देहादावात्मबुद्धिर्भोहः स्वाभिलिषतवस्तवपाय-जः शोकः कामापूरणसंजातः क्रोधः तेषां त्यागः संन्यास एव त्यागः तेनैव ज्ञानपरिपन्थि सर्वे त्यक्तमित्यर्थः ॥ एवं त्यागतः कि स्यात् इत्यत आह—परावरैक्यरसास्वादनिमिति । अतत्त्यागतो जीवेश्वरैक्यरसास्वादनं भवेदिसर्थः ॥ एवं रसास्वादनतः किं भवेत इस्यत आह— अनियामकत्व-निर्मलशाक्तिरिति । ईश्वरेण स्वस्वकार्ये नियम्यत इति नियम्यं जीवजातम् । तदन्तर्यामिनियामकः ईश्वरः । तयोः मायिकत्वेन तदतीतत्वं अनियामकत्वं सर्वसाक्षित्वम् । तस्य नियम्यनियामकभिदा प्रासत्वात् तदेव निर्मलशक्तिः सर्वावभासकत्वसामर्थ्यमित्यर्थः ॥ एवं शक्तितः कि भवेत् इत्यत आह— स्वप्रकाशब्रह्मतत्त्व इति । स्वाविद्याद्वयतत्कार्यापह्नवसिद्धे स्वप्रकाशमात्रे वहातत्त्वे तदज्ञैः शिवशक्तिसंपुटितप्रपञ्चः समारोपितः । तत्रत्यसिचत्सुखं शिवांशः नामरूपे सचित्सुखावृती शक्त्यंशः तयोश्विदचितोस्तेजस्तिमरवत् परस्परिवरुद्वयोः योगो मायया संपुटितः यो घटपटादिप्रपञ्चः तस्योच्छेदनं "अहं ब्रह्मास्मि" इति ज्ञानासिना यथा भवेत् तथा ब्रह्मसम्यग्ज्ञानाप्निना पत्राक्षाक्षिकमण्डलभावाभावदहनं भवेदित्यर्थः । स्वकार्यजातं परितः आवृत्य त्रायते गोपयतीति जीवेशभान्तिजतादातम्यास्पदं व्यष्टिसमष्टिकारण-. शरीरं **पत्र**मित्युच्यते । तत्कार्यं विशस्यवयवशोभिजीवेशसहजतादात्म्यास्पदं व्यष्टिसमष्टिलिङ्गशारीरमञ्जूमित्युच्यते । तत्कार्यतया जीवेशकर्मजतादातम्यास्पदं व्यष्टिसमष्टिपिण्डब्रह्माण्डाख्यस्थूलश्रारीरमञ्जीत्युच्यते । एवं पत्राक्षाक्ष्यभिध-शरीरत्रयं येषां ते पत्राक्षाक्षिकाः प्राज्ञतैजसविश्वाभिनेश्वरसूत्रविराजः । तेषां मण्डलं पटलं स्वदृष्ट्या । एतत्सर्वे साक्ष्यजातं साक्षिभास्यं साक्ष्यसापेक्ष-साक्षिताया अपि दहनं विलापनं भवेदित्यर्थः ॥ ततो ब्रह्म किं रूपं विभ-तींत्यत आह—विभ्रत्याकाशाधारमिति । स्वाधेयाकाशादिपञ्चमहाभूततत्कार्या-धारत्वेन आधेयसापेक्षाधारतापह्नवसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया यदविशिष्यते स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसित तदेवंरूपं परमार्थदृष्ट्या बिभ्रति । य एवंवित सोऽयं ब्राह्मणो ब्रह्मविद्वरीयान् मुख्यावधूतो भवतीति भावः ॥ शिखायज्ञोप-

वीतविरलानां कथं ब्राह्मणता इत्यत आह — शिवं तुरीयं यह्नोपवीतं तन्मया शिखेति । स्वातिरिक्ताशिवग्रासं शिवं तुरीयं तुरीयातीतं वा ब्रह्मैव यह्नोपवीतं शिखा च शिवमया शिवमयीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः —

''शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् । ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥'' इति ॥

इत्यंभूतब्राह्मणदृग्गोचरं जगदिप चिन्मयं इत्याह—चिन्मयिमिति । उत्सृष्टिः पर्वतवृक्षळतागुजादिसमिष्टः । तज्ञातिरण्डं स्थावरम् । सम्यक्ततः सन्ततः विविधरूपत्वात् अक्षी स्थूळशरीरादिर्येषां ते सन्ततोक्षिकाः जीवाः जङ्गमात्मकाः । तेषां मण्डळं पटळं चिन्मयमेव भवेदित्यर्थः । ''जीविश्वन्मात्रविग्रहः'' इति श्रुतेः ।

''यथा मृत्पिण्डसंभूतो घटादिः किन्न मृन्मयः । तथा स्थिरचरं विश्वं चिन्मयं चित्समुद्भवात् ॥ ''

इति स्मृतेश्च ॥ तद्दृष्ट्या विश्वं चिन्मयमस्तु तस्यापि इारीरत्रययोगतः सांसारिकी प्रवृत्तिः स्यात् इत्यत आह — कमेनिर्मू छनिमित । स्वाविद्या द्वयतत्कार्यशवपुगद्दहनयोग्ये इमशाने प्रत्यगिभन्नब्रह्मणि मुख्यावधूतत्वप्राप्तिहेतु तत्त्वज्ञानसूर्योदयसमकाछं स्वाविद्याद्वयतत्कार्यक्रमेत्रयतत्कार्यशरित्रयतज्ञाहंकारः ममकारतिन्वर्त्वर्यसंसारध्वान्तस्य दहनमपह्वंगत्वात् न पुनः तस्य संसारप्रवृत्ति-निवृत्तिध्वान्तोऽस्ति नास्तीति का कथा किमार्श्वर्य इत्यर्थः । तथाप्यादेहपातं संसारानुवृत्तिः स्यादिति चेन्न तस्य परदृष्टिनिमित्ततया किचित्करत्वात् । देहधारणमात्रसंसारे वा स्यादिति चेन्न देहधारणमात्रसंसारस्य देहादा-वात्मात्मीयाभिमानाभावात् असंसारत्वात् ।

''देहश्चिरं तिष्ठतु वा तत्काले लयमेतु वा। स्वज्ञानकालमुक्तस्य पुनःसंसारिता कथम्॥''

इति स्मृतेः ॥ परमार्थदृष्ट्या देहत्रयामावे स कथं तिष्ठेत् इत्यत आह— अनाहताङ्गीति । निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रज्ञानेन आसमन्ताद्धतमाहतं अविद्या-

पदतत्कार्यजातं अपह्नवरूपं तस्याप्यपह्नवसिद्धं अनाहताङ्गं तद्व्पेण स्थितत्वात् अयमनाहताङ्गी । ब्रह्ममात्रज्ञानसमकाल्मेव स्वशरीरत्रयमस्ति नास्तीति विभ्रन्मस्यापह्नवंगतत्वात् मुख्यावधूतो विदेहमुक्तो विचरेदित्यर्थः ॥ १–९८ ॥

## गौणावधूत:, तचर्या, तत्फलं च

निस्त्रेगुण्यस्वरूपानुसंवानं समयं भ्रान्तिहननम् । कामादि-वृत्तिदहनम् । काठिन्यदृढकौपीनम् । चिराजिनवासः । अनाहत-मन्त्रं अकिययैव जुष्टम् । स्वेच्छाचारस्वस्वभावो मोक्षः ॥ ५९ ॥

मुख्यावधूतळक्षणमेवमुक्त्वा गौणावधूतं तच्चयं तत्फळं च व्यक्तीकरोति
— निक्केगुण्येत्यादिना । सत्त्वादिगुणानां समाहारस्त्रेगुण्यम् । स्वाविद्यापदतत्कार्यजातं तदपवादाधिकरणं निक्केगुण्यं 'ब्रह्माहम्', 'अहं ब्रह्म', इति भावन-मनुसंधानम् । तदिप समयं सभायमित्यर्थः । एवमनुसंधानस्य विद्यावृत्तित्वेन ब्रह्ममात्रावृतिरूपत्वात् भानितत्वं तद्धननं नाशनं कुर्यादित्यर्थः । तथा कामसंकल्पादिवृत्तिद्दनं विद्यापनं च । द्विविधब्रह्मचर्यहेतुमृदुकार्पास-कोपीनविद्यक्षणतया काठिन्यहदकोपीनान्तिरतशेफगतोध्वरेतस्त्वं च । शीतवातोष्णत्राणनपटुवासोविद्यक्षणिन्तिन्वासोदिगम्बरत्वं च वा । अनाह्तमन्त्रं तुरीयोङ्कारं च । तुरीयोङ्कारस्य तुर्यतुर्यत्वेन केनाप्यनाहतत्वात् "तुरीयोङ्कारप्रविद्यति तुर्यतुर्यं" इति श्रुतेः । अनाह्तमन्त्रं तुर्यतुर्यं ब्रह्म । अकियया सर्वविक्रियापह्वतिद्वया चिन्मात्रिधया जुष्टं सेवितम । यद्वा गौणावधूतं ब्रह्मात्मेति मन्तारं त्रायत इति मन्त्रं सम्यग्ज्ञानं च स्वरूपानुसंधानतो भवेदित्यर्थः । गौणावधूतोऽप्येवं साधनसंपन्नश्चेत् मुख्यावधूतो भवति तदा तस्य विधिनिषेधप्रवृत्तिनिवृत्त्यतीतत्वेन शिष्टशिक्षणरूपोऽयं स्वेच्छाचारो भवेत् न तदुन्मार्गप्रापको भवितुम्हित । सोऽपि स्वस्वभावः

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> ड. ड १. 'भ्रान्तिहरणम्'.

क्रियाकारकवन्ध्रप्रासत्वात् । स एव **मोक्षः** स्वेतरकलनापह्नवसिद्धपरमात्म-रूपत्वात् ।

> "ब्रह्मवास्मीति या वृत्तिः सेव योग इतीरिता । योगेन गतकामानां भावना ब्रह्म चक्षते ॥"

इति स्मृतेः ॥ ५९ ॥

#### **मु**ख्यावधूतोपायसंपत्तिः

परंब्रह्मप्रववदाचरणम् । ब्रह्मचर्यशान्तिसंग्रहणम् । ब्रह्मचर्या-श्रमेऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वविन्नचासं संन्यासम् । अन्ते ब्रह्माखण्डाकारं नित्यं सर्वसंदेहनाशनम् ॥ ६०॥

मुख्यावधूतत्वं यदुपायकं तदुपायसंपत्ति तत्फलमपि प्रकटयति — परं ब्रह्मेत्यादिना । आदौ तावत् गृहस्थेतरो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा खाश्रमाचार-संपन्नः सन् अपारगम्भीरिवस्तारसंसारसागरोत्तारणार्थं सर्वस्मात् यत् परं तद्रक्ष तद्गोचरज्ञानं परं ब्रह्म प्रवं तद्वान् मुख्यावधूतः तदाचरणं तत्सेवनं कृत्वाथ तिन्नकटे स्वचित्तशुद्धिपर्यन्तं द्विविधब्रह्मचर्यपुरस्सरं गुरुकुलवासं कृत्वाथ शान्तिदान्त्यादिप्रहणं साधनचतुष्टयोपलक्षणार्थं तद्म्यस्याथ बाह्यान्तर्विक्षेपक-विलिश्रवणाचनुष्ठानानर्हकाम्याश्रममप्राप्येव खाविद्याद्वयत्त्कार्यग्राससववेदान्त-शास्त्र स्वाचःर्यमुखतो ब्रह्मचर्यश्रमे वानप्रस्थाश्रमे तुर्याश्रमे वा अधीत्याध्ययनं श्रवणं कृत्वाथ मननं निदिध्यासनं च मुख्यावधूतताहेतुपूर्वाम्यस्तसाधनः विन्याससहितं स सर्वविन्यासाधिकरणं कवलीकृतसर्वसन्देहादिवृत्तिपटलं देह-त्रयाभिमानान्तकाले संन्यासमखण्डाकारं ब्रह्म भृत्वा मुख्यावधूतो विदेहमुक्तो भवतीत्यर्थः ।

''न्यास इति ब्रह्म । न्यास एवात्यरेचयत् ॥,'' ''अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्भूतसंसारबन्धनात् । तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीयते ॥,'' ''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति '' इत्यादिश्चतेः ॥ ६० ॥

#### अधिकारिनिरूपणम्

## एतन्निर्वाणदर्शनं शिष्यं विना पुत्रं विना न देयम् । इत्युपनिषत् ॥ ६१ ॥

एतच्छास्त्रमनधिकारिणे न देयं, यथोक्तसाधनसंपन्नाय देयं, इत्युप-संहरति—एतदिति । एतन्निर्वाणदर्शनं "निर्वाणोपनिष्ननामकं शास्त्रं नास्या-ब्रह्मवित्कुळे भवति" इति श्रुत्या ब्रह्मवित्कुळप्रसूतस्य यथोक्तसाधनवैकल्येऽपि क्रमेण भवेदिति द्योत्यते । तस्मात् पुत्रो मुख्याधिकारी यदि शिष्यो यथोक्ताधिकारी तदा सोऽप्यधिकियते यत एवमतः पुत्रं शिष्यं विना यस्मे कस्मैचिन्न देयमित्यर्थः । "नाप्रशान्ताय दात्र्यं नापुत्रायाशिष्याय वै पुनः" इत्यादिश्रतेः । इत्युपनिषच्छब्दौ निर्वाणदर्शनसमाप्तिद्योतकौ ॥

> श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्गसयोगिना । निर्वाणोपनिषद्गाख्या लिखिता हरितुष्टये । निर्वाणोपनिषद्गाख्या पत्राशसुक्छतद्वयम् ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे सप्तचत्वारिंशत्संख्यापूरकं निर्शणोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

## परब्रह्मोपनिषत्

भद्रं कर्णेभि:-इति शान्ति: ॥

५रिष्टा ब्रह्मविद्या

अथ हैनं महाशालः शौनकोऽङ्गिरसं भगवन्तं पिप्पलादं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ । दिन्ये ब्रह्मपुरे संप्रतिष्ठिता भवन्ति खलु । क्यं स्जन्नित्यात्मन एप महिमा विभज्य एप महिमा विभुः कः । एप तस्मै स होवाच । एतत्सत्यं यत्प्रब्रवीमि ब्रह्मविद्यां विरष्ठां देवेभ्यः प्राणेभ्यः परब्रह्मपुरे विरजं निष्कलं शुभ्रमक्षरं विरजं विभाति स नियच्छति । मधुकरराश्या निर्मकः अकर्मस्वपुरस्थितः कर्मकः कर्षकवत् फलमनुभवति । कर्ममर्मज्ञाता कर्म करोति । कर्ममर्म ज्ञात्वा कर्म कुर्यात् । को जालं विक्षिपेदेकेनैनमपकर्ष-त्यपकर्षति ॥ १ ॥

परब्रह्माख्योपनिषद्वेद्याखण्डसुखाकृति । परिब्राजकहृदेहं परितस्त्रैपदं भजे ॥

इह खल्ज अथर्वणवेदप्रविभक्तेयं परब्रह्मोपनिषत् ज्ञानशिखोपवीतप्रकटनव्यप्रा ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ता विजुम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । ज्ञौनक-

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> उ. 'मधुकर: श्वेत्र विकर्मक:' अयमपि पाठ: मूलकोशे दृश्यते ।

पैप्पलादप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकामवतारयति— अथेति । पप्रच्छ किमिति । लोके ये ये सुज्यमानाः पदार्थाः ते सर्वे पूर्वमेव दिन्ये ब्रह्मपुरे हिरण्यगर्भहृदयाकाशे संप्रतिष्ठिता भवन्ति खलु । तत्र आक्षिपति — कथमिति । स्वान्तस्स्थपदार्थान् विभागशः प्रविभज्य एष महिमा अघटितघटनाशक्तिसंपन्नो भगवान् स्वात्मनः सकाशात् कथं तान् सृजन्नवतिष्ठते । क एष महिमा विभुरिति शौनकप्रश्लोत्तरमेष पिप्पलाद आह—एष इति। य एष पिप्पछाद इति ख्यातः तस्मै शौनकाय स होवाच । किमिति । यदहं ते वरिष्ठां ब्रह्मविद्यां प्राब्नुवि तदेतद्रह्म सत्यं असत्यसंभवप्रबोधसिद्धत्वात् ''पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्यत् '', ''ब्रह्ममात्रमसन्न हि '' इति श्रुतेः । तत् कुत्रोपलभ्यते इत्यत्र ब्रह्मपुरे रजआदिगुणत्रयाभावाद्विरजं प्राणादिनामान्त-षोडशकलाबैरल्यानिष्कलम् , अत एव शुभ्रमक्षरं विभाति । किं कुर्वन् विभाति इत्यत्र श्रोत्रादिदेवेभ्यः इन्द्रियेभ्यः प्राणापानादिदश्रापाणेभ्यश्च स्वस्वविषयग्रहण-शक्ति दिशत् सत् तद्गतगुणदोषास्पर्शनतो विरजं विभाति प्रत्यग्दृष्टेरेवं सदोपलम्यत इत्यर्थः । पराग्भावे सति प्रत्यग्दृष्टिः कथमुदेति इत्यत्र इहामुत्रार्थ-फलहेतुमध्याख्यानि कर्माणि कुर्वन्तीति मधुकराः जीवाः। तेषां राशिः समूहः तं आभूतसंप्रवं बन्धमोक्षव्यवहाराईतया निर्मितवानिति निर्मकः। य एवं निर्माता परमेश्वरः स एव मुमुक्षुपटलानुकम्पया तद्गतपराग्भावं नियच्छति निगृह्णाति निःशेषं प्रसति । ततो मुमुक्ष्णां प्रत्यग्दृष्टिः प्रसीदिति प्रत्यग्दृष्टेः ब्रह्मोपलभ्यत इत्यर्थः । स्वात्मानं पुरस्कृत्य तद्भावभावनया तिष्ठतीति स्वपुरस्थितः प्रसम्दृष्टिः किंकमीं इस्पत्र स्वकर्तव्यकर्मसामान्यं यस्य ।

> ''कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥''

इति श्रुत्यर्थपर्यालोचनया न स्फुरित सोऽयमकर्मकः परिब्राडित्यर्थः । तस्य कृतकृत्यत्वात् "कर्तव्यं नैव तस्यास्ति" इति श्रुतेः । तद्विपरीतपराग्दृष्टिस्तु स्वेहामुत्रफलोद्देशेन विविधं कर्मजातं करोतीति कर्मकः कर्मकृत् कर्षकवत्

स्वकृतोच्चावचकर्मफळं नानायोनिजन्मप्रापकमनुभवति । यत एवमतः कर्ममर्म-जन्मादिहेतुः कोर्मेति ज्ञाता पुरुषः चित्तस्य शुद्धये कोर्मेति विदित्वा परमेश्वराराधनिधया कर्म करोति । यः स्वातिरिक्तश्रमतो मोक्तुमिच्छिति स मुनिः कर्ममर्म ज्ञात्वा निष्कामिधया स्वाश्रमोचितकर्म कुर्यात् । एके एकस्मिन् ब्रह्मणि निष्णातः । को वा विवेकी विविधकर्मजाछं विश्विपेत् निर्विशेषब्रह्मज्ञान-प्रापकचित्तशुद्धिहेतुनिष्कामकर्मानुष्ठानं विना मुधा काम्यकर्म कुर्यात् कोऽपि न कुर्यादित्यर्थः । निष्कामिधया अनुष्ठितकर्माण्येनमधः कर्षतीत्यत आह— नेति । एनं निष्कामिधया कर्मानुष्ठातारं तदनुष्ठितकर्म सांसारिकविषये जात्विप नैवापकर्षति । दिरुक्तितः स्वानुष्ठानतः चित्तशुद्धिप्राप्यज्ञानद्वारा महत्पदं प्रापयेत् इति योयते ॥ १॥

#### त्रिपाद्रह्मप्रापकोपाय:

प्राणदेवताश्चत्वारः । ताः सर्वा नाड्यः सुषुप्तरयेनाकाशवत् । यथा रयेनः खमाश्चित्य याति स्वमालयं कुलायम् । एवं सुषुप्तं ब्रूतायं च परं च । स सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे अमृता ह्येषा नाडीत्रयं संचरति । तस्य त्रिपादं ब्रह्म एषात्रेष्य ततोऽन्तिष्ठति । अन्यत्र ब्रुतायं च परं च । सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे यथैष देवदत्तो यष्ट्या च ताड्यमानो नैवेत्येविमष्टापूर्तशुभाशुभैर्न लिप्यते । यथा कुमारको निष्काम आनन्दमभियाति । यथैप देवः स्वप्न आनन्दमभिषावति । वेद एव परं ज्योतिः । ज्योतिषा मा ज्योतिरानन्दयत्येवमेव । तत्परं यचित्तं परमात्मानमानन्दयति । शुभ्रवर्णमाजायतेश्वरात् । भूतस्ते-नैव मार्गेण स्वप्तस्थानं नियच्छति । जलूकाभाववद्यर्थाकाममाजायते-श्वरत्वत् । तावतात्मानमानन्दयति । परसन्धि यदपरसन्धीति ।

तत्परं नापरं त्यजित । तदैवं कपालाष्टकं संघाय य एष स्तन-इवावलम्बते । सेन्द्रयोनिः स वेदयोनिरित्यत जाग्रति । शुभाशुभाति-रिक्तः शुभाशुभैरिप कर्मभिनं लिप्यते । य एष देवोऽन्यदेवस्य संग-सादोऽन्तर्याम्यसङ्गचिद्रपः पुरुषः प्रणवहंसः परं ब्रह्म न प्राणहंसः प्रणवो जीवः । आद्या देवता निवेदयति । य एवं वेद । तत्कथं निवेदयते । जीवस्य ब्रह्मत्वमापादयति ।। २ ।।

निर्विशेषब्रह्मज्ञानप्राप्यित्रपाद्रह्मप्रापकोपायः कः इत्यत आह—प्राणेति । यिन्निष्नामकर्म नापकषिति किं तु चित्तशुद्धिजज्ञानद्वारा ब्रह्मपदं प्रापयतीत्युक्तं तद्वह्म कीद्दशम्, तदास्युपायश्च कीद्दशः इत्यत्र जीवस्य प्राणाधारतया विश्वादितुरीयान्त- मेदेन प्राणदेवताश्चत्वारः चतसः । तास्तासां उपछिधनाडयोऽपि रमारमेच्छा-पुनर्भवादिमेदेन चतस्त्र एव तत्र रमारमाख्यनाडीद्वयमवष्टभ्य खेसञ्चारश्रान्तश्येनवत् जाप्रतस्वप्रव्यवहारश्चान्तः सुषुत्तो भवति । तत्र दृष्यान्तस्तु यथा श्येनः खमाश्रित्य चिरसञ्चारतः श्रान्तः सन् स्वनीडं प्रतियाति तथैवं ब्रूता वक्ता जीवोऽपि अयं जाप्रतप्रपञ्चस्तदपेक्षया परं च स्वप्नप्रचन्नस्त्योर्व्यवहृत्य श्चान्तः सन् स्वविश्चान्तिस्थानं नाडीद्वयमेय सुषुत्तो भवति । सोऽयं क सुषुप्तश्चरतीत्यत्र "यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः" इत्यादिश्चत्यनुरोधेन सर्वत्र सर्वव्यापके हिरणमये परे कोशे हृदयाकाशे वस्तुतोऽमृता होषा जीवरूपिणी देवता रमादिनाडीत्रयमवष्टभ्य जाग्रदाद्यवस्थात्रये बन्धमोक्षादिव्यवस्थायां च यः संचरित । तस्यैकपदमाविद्यकं तत्संबन्धवैरल्येन त्रय्यन्तैः पद्यते स्वावशेषेण त्रायत इति त्रिपादं त्रैपदं ब्रह्मावशिष्यते इत्यत्र ।

" त्रय्यन्तैः स्वावशेषेण पद्यते जायते च यत् । तत् त्रैपदं परं ब्रह्म स्वमात्रमवशिष्यते ॥ "

इति स्मृते: । यदेवमविशयम्त्रेवैषा जीवाख्या देवता स्वरूपमेष्य प्राप्य ततस्तन्मात्रमनुतिष्ठति अवतिष्ठते मुक्तो भवति । ततस्तस्मादन्यत्राविद्यकपदे अयं च परं चेत्युपलक्षितावस्थात्रयतत्कार्यप्रपश्चे स्वातिरिक्तमस्तीति त्रूता स्वाज्ञो जीव: परिभ्रमित । सर्वेत्र सर्वदायं हिरण्मये परे कोशे चिरं चरत्रिप स्वाज्ञानावरणच्छनः सन् जाप्रदाद्यवस्थात्रयगर्ते पतित् । तस्यापि श्रुत्याचार्य-प्रसादतो निष्कृतिर्भवेत् इत्यत्र दृष्टान्तः । यथैष देवदत्तो निद्रालुर्यष्ट्या च ताड्यमानः सन् बोधितः पुनः नैव सहसा स्वापमेति तथा अयमपि जीवः श्रुत्याचार्यप्रसाद्रुव्धवेदान्तज्ञानेन 'न त्वमवस्थात्रयभाक् जीवः, किं तु तदवस्थात्रयारोपापवादाधिकरणं ब्रह्मासि ' इति बोधितः सन् न पुनरवस्थात्रये मुह्यति । तत्र विकल्पितेष्टापूर्तादिशुभाशुभकर्मभिः न लिप्यते । यथा वा कुमारो बालकः इदं मे स्यादिति कामवृत्त्यनुदयान्निष्कामः यदच्छाप्राप्तवस्तु-न्यानन्दमभियाति । यथा चैष संप्रसादो देवः स्वप्ने जागरे च व्यवहरन् श्रान्तः स्वापावस्थानिष्पन्नाननदं प्रत्यभिधावति । तथैवं श्रुत्याचार्यमुखतः स्वानन्दमात्रं ब्रह्माहमस्मीति यो वेद सोऽयं एवं पराक्रप्रपञ्चतः परंज्योतिः प्रत्यक्प्रकाशो भूत्वा सूर्यादिज्योतिषामप्या समन्तात् भासकज्योतिरस्मीत्यात्मान-मानन्दयति स्वानन्दरूपेणावतिष्ठते । एवमेव यिचतं तत् परंब्रह्माकारपरिणतं तत्परमात्मानमेलानन्दयति स्वात्मानं प्रीणयति, सत्तत्रैव विलीयत इत्पर्थः । एवं चित्तप्रसादः कुतो जातः इत्यत्र ईश्वरादस्य गुभ्रवर्ण वर्णो निर्विकल्पभाव आजायते ईश्वरस्याजडिक्रयाज्ञानेच्छाशक्तिमत्त्वेन स्वभक्तारिष्टम्रासेष्टप्रापकत्वात् । एवं त्रिपुटिविरल्लिविकल्पकसमाधिमनुभूय भूयस्ते-नैव मार्गेण स्वप्रस्थानं ''तत्त्वमसि'', ''अहं ब्रह्मास्मि'' इति किंचि-त्त्रिपुटिविशिष्टाखण्डाकारवृत्त्यात्मकतुर्यस्वमं प्राप्य तत्रात्मानं **नियच्छति** विश्रामयति । यथा जॡका स्वाधिष्ठितभावात्तृणात् भावं तृणान्तरं गच्छति तथा अयमपि विद्वान् तुर्यजागरणस्थः तुर्यस्वप्रस्वप्रमवलम्बय तुर्यजागरणं त्यजति । एवं तुर्यावस्थाप्रविभक्तावस्थात्रयसञ्चरणे कामं कामोऽभिलाषः आजायतेश्वरत्वात् । तावतायं सविकल्पकानिर्विकल्पकसमाधिभ्यां स्वात्मानमानन्द्यति । प्रत्यक्परचितोर्यत्सन्धिः तयोरैक्यं तद्भेदसापेक्षेक्यमपरमीषत् विशेषवदिति सन्धीति सन्त्यजित । यदेवं निर्विशेषं जातं तदेव परब्रह्म तदितरेकेण नापरमस्ति यद्वा

स्वातिरिक्तमप्रमस्तीति न त्यजित ब्रह्ममात्रस्य निष्प्रतियोगिकत्वात् । यदैवं केवलश्रवणादिमात्रेण निर्विशेषब्रह्मज्ञानं नोदेति तदेवम्। कं परमसुखमसुख-कामादिवृत्तिभ्यः पृथक्कृत्य पालयन्तीति कपालानि योगाङ्गानि । तेषामष्टकं यमनियमासनप्राणायामप्रयाहारधारणाध्यानसमाध्यात्मकं कपालाष्ट्रकमष्टाङ्कयोग-मनसन्याय यथावदभ्यस्य तद्वलेन चित्तगतमालिन्यं संक्षाल्य निर्विशेषज्ञानमवाण्य कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । योगध्यानाधिकरणं कि इत्यत्र य एष स्तन इव कदलीपुष्पमिव च उर:प्रदेशे सदा अवलम्बते सोऽयं योगकाले ऊर्ध्वमृत्तिष्टन् विकासमेति । अत्र हि खलु इन्द्रयोनिना ब्रह्मणा सह वर्तत इति सेन्द्रयोनिः । य इन्द्रयोनिरित्युक्तः सोऽयमीश्वरो वेदयोनिरिति सर्वैगीयमानः परमेश्वरो जाप्रति जागर्ति । य एवं स्वहृत्कमलासनमीश्वरमनुष्यायति स विद्वान् शुभा-शुभातिरिक्तः सन् कादाचित्कप्रसक्तश्चभाशुभैरपि कर्मभिः न लिप्यते। यद्भ्यायी शुभाशुभातिरिक्तः स देवः कीदृशः इत्यत्र "अन्यदेवस्य ब्रह्मादेरिप य एष एव हि देव: तं देवतानां परमं च दैवतम् " इति श्रुते: ध्यायिध्येययोर-मेदार्थ य एष देव; सोऽयं संप्रसाद: अन्तर्याम्यसङ्गचिद्रप: पुरुष: स एव प्रणवार्थतुर्यतुर्यहंसः परं ब्रह्मेत्युच्यते । अत्र न प्राणहंसो मुख्यः प्राणो विवक्षित: परब्रह्मप्रकरणत्वात् । प्रणवो जीवः प्रणवाद्यवयवाकारवाच्यत्वात् तिस्थितिराचा देवतेति निवेदयित । य एवं प्रणवयाथात्म्यं वेद तत् कथं स क्यं जीवब्रह्मणोः भेदं निवेद्यते निवेद्यति किं तु जीवस्य ब्रह्मत्वमापादयति जीवब्रह्मणोः भेदं कदापि न ददाति स्मरति वेट्यर्थः ॥ २ ॥

## अन्तर्बोह्यशिखादिलक्षणम्

सत्त्वमथास्य पुरुषस्यान्तःशिखोपवीतित्वम् । ब्राह्मणस्य मुमुक्षोरन्तःशिखोपवीतघारणम् । बहिर्छक्ष्यमाणशिखायज्ञोपवीत-घारणं कर्मिणो गृहस्थस्य । अन्तरुपवीतलक्षणं तु बहिस्तन्तुवद्-व्यक्तमन्तस्तत्त्वमेलनम् ॥ ३ ॥ अन्तर्बाह्यशिखायज्ञोपवीतलक्षणमुच्यते—सत्त्वमिति । अथ प्रत्यगमिल-ब्रह्मभावानन्तरमस्य पुरुषस्य ब्रह्मीभृतस्य यत् सत्त्वं तदेवान्तःशिखोपवीतत्वं निर्वशेषज्ञानमित्यर्थः । तद्धारणं कस्य इत्यत्र स्वान्तर्विद्योतमानज्ञानशिखोपवीत-धारणमकर्मिणो ब्राह्मणस्य मुमुक्षोरेव । बाह्यशिखोपवीतधारणं कस्य इत्यत्र बहिर्लक्ष्यमाणशिखायज्ञोपवीतधारणं कर्मिणो गृहस्थस्य । बाह्यवदान्तरं व्यक्तं न भवतीत्याह—अन्तरिति । अन्तरुपवीतलक्षणं तु बहिस्तन्तुवद्व्यक्तं व्यक्तं न भवति निर्वशेषब्रह्मज्ञानस्य मनोवागतीतत्वात् । यदि अन्तस्तत्त्वमेलनं स्वाविद्याश्वलब्रह्मगोचरं स्यात्तदा ॥ ३ ॥

#### निर्विशेषब्रह्मस्वरूपम्

न सन्नासन्न सद्सद्धिन्नाभिन्नं न चोभयम् । न सभागं न निर्भागं न चाप्युभयरूपकम् । ब्रह्मात्मैकत्विवज्ञानहेयं मिथ्यात्वकारणात् ॥ इति ॥ ४ ॥

तत्राविद्यांशमनेकोपपत्तिभिः मिथ्येति निरस्य निर्विशेषत्वमापाद्येदित्याह—
न सदिति । यदिवद्यास्वरूपं तन्न सन् कारणरूपेणाचाक्षुषत्वात् । तथा नासत् कार्याकारेण चाक्षुषत्वात् । न सदसत् तयोरेकत्रानवस्थानात् । तत् किं स्वभिन्नं स्वपृथक्सत्ताभावात् । तत् किं नाभिन्नं अवस्तुत्वात् । न च भिन्नाभिन्नं दुर्छभत्वात् । न सभागं कारणात्मना निरवयवत्वात् । न निर्भागं कार्यात्मना सावयवत्वात् । न चाप्युभयरूपकं पूर्वोक्तविरोधापत्तेः । एतावता अनिर्व-चनीयत्वमस्योक्तं भवति । तथा चेदिदमिप ब्रह्मवत् सत्पदमईतीत्यत्र याबद्वद्वात्मे कत्वज्ञानं नोदेति तावदस्य सत्त्वम् ; जाते तु ब्रह्मात्मेकत्वविज्ञानेऽस्य मिथ्यात्व-कारणात् ब्रह्मातिरिक्तं नेत्यपह्नवपदमेव भजेदित्यर्थः ॥ ४ ॥

## कर्मणः चित्तशुद्धिप्रापकत्वम्

पञ्चपादब्रह्मणो न किंचन । चतुष्पादन्तर्वर्तिनोऽन्तर्जीव-ब्रह्मणः स्थानानि चत्वारिः। नाभिहृद्यकण्डमूभिषु जाग्रतस्वप्न-

सुषुप्तितुर्योवस्थाः, आहवनीयगाईपत्यदक्षिणासभ्याग्निषु । जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरं चिन्मयम् । तस्मा-चतुरवस्था चतुरङ्गुलवेष्टनमिव षण्णवतितत्त्वानि तन्तुवद्विभज्य, तदाहितं त्रिगुणीकृत्य द्वात्रिंशतत्त्वनिष्कर्षमापाद्य, ज्ञानपूतं त्रिगुण-स्वरूपं त्रिमूर्तित्वं पृथग्विज्ञाय, नवब्रह्माख्यनवगुणोपेतं ज्ञात्वा, नवमानमितं त्रिः पुनिस्त्रगुणीकृत्य सूर्येन्द्रश्निकलास्वरूपत्वेनैकीकृत्य, आद्यन्तकत्वमपि मध्ये त्रिरावर्त्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरत्वमनुसंघाय, आद्यन्तमेकीकृत्य चिद्रन्थावद्वैतप्रनिथ कृत्वा, नाभ्यादिब्रह्मविल-प्रमाणं पृथकपृथकसप्तविंशतितत्त्वसंबन्धं त्रिगुणोपेतं त्रिमूर्तिलक्षण-लक्षितमप्येकत्वमापाद्य, वामांसादिदक्षिणकट्यन्तं विभाव्य, आद्यन्त-ग्रहसंमेलनमेवं ज्ञात्वा मूलमेकम्, 'सत्यं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचार-म्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ', हंसेतिवर्णद्वयेनान्तः-शिखोपवीतित्वं निश्चित्य, बाह्मणत्वं ब्रह्मध्यानाईत्वम् , यतित्वमलिन तान्तःशिखोपवीतित्वम् , एवं बहिर्लक्षितकर्मशिखाज्ञानोपवीतं गृहस्थ-स्य, आभासबाह्मणत्वस्य केशसमूहशिखाप्रत्यक्षकार्पासतन्तुकृतोपवी-तित्वम् । चतुःचतुर्गुणीकृत्य चतुर्विशतितत्त्वापाद्नतन्तुकृत्वम् , नव-तत्त्वमेकमेव परं ब्रह्म, तत्प्रतिसरयोग्यत्वाद्बहुमार्गवृत्तिं कल्पयन्ति । सर्वेषां ब्रह्मादीनां देवर्षीणां मनुष्याणां मुक्तिरेका ब्रह्मेकमेव ब्राह्मणत्वमेकमेव । वर्णाश्रमाचारविशेषाः पृथकपृथक्, शिखा व-णीश्रमिणामेकमेव, अपवर्गस्य यतेः शिखायज्ञोपवीतमूळं प्रणवमेक-

मेव वदन्ति । हंसः शिखा, प्रणवमुपवीतम्, नादः संघानम् । एष धर्मो नेतरो धर्मः । तत्कथमिति । प्रणातो हंसो नादिश्चिवृतसूत्रं स्वहृदि चैतन्ये तिष्ठति । त्रिविधं ब्रह्म तद्विद्धि । प्रापिश्चकशिखो-पवीतं त्यजेत् ॥ ९ ॥

स्वातिरिक्ताविद्यारूपमस्ति नास्तीति भ्रान्तिः पञ्चपादब्रह्मणः तुर्यातीतस्य न किंचनास्ति व्यष्टिसमध्यात्मकचतुष्पादन्तवेर्तिनोऽन्तर्जीवब्रह्मण उपलब्धि-स्थानानि चत्वारि भवन्ति व्यष्टिचतुष्पादन्तवेर्तिनो विश्वतेजसप्राज्ञतुरीयाः समिष्टिचतुष्पादन्तवेर्तिनस्तु विराद्सूत्रबीजतुरीयाः तेषामुपलब्धिस्थानानि कानि इत्यत्र नामिहृद्यकण्ठमूभ्रिषु नेत्रकण्ठहृद्यमूर्धस्वित्यर्थः । तत्र जायत्स्वप्र-सुष्ठितित्र्यां भवन्ति । तथाच श्रुतिः—

" नेत्रस्थं जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् । सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ष्नि संस्थितम् " ॥ इति ॥

किं च आह्वनीयगाहंपत्यदक्षिणासभ्याग्निषु च यथायोगमात्मा भाव-यतव्य इत्यर्थः । जागरणादौ विभातः चैतन्यभेदमाह—जागरित इति । बाह्ययञ्चसूत्रब्रह्मसूत्रयोरेकत्वावगमाय । नोचेत् बाह्ययञ्चसूत्रं दृष्टान्तीकृत्य ब्रह्मसूत्रं प्रपञ्चयति—तस्मादिति । यस्माद्यञ्चब्रह्मसूत्रयोः सामानाधिकरण्यं भवति सूत्र-त्वाविशेषात् तस्मात् जाग्रदादिचतुरवस्थाचतुरङ्गुळवेष्टनमिव विभाव्य यथा यञ्चसूत्रं चतुरङ्गुळमानेन षण्णवितसंख्यातं तथा षण्णवितत्त्वानि श्रोत्रा-दीश्वरान्तानि । एवं यञ्चसूत्रं ब्रह्मसूत्रभावनाभावितं कर्मभिर्यदि धृतं तदा तत् तं कर्म चित्तशुद्धिप्रापकं भवेदित्यर्थः । ब्रह्मसूत्रप्रशंसनायास्य वाचारम्भणतामाह— मूळमिति । यन्मृदादिवत् कारणं तत् सत्यं यत्तत्तदञ्चानविज्ञृम्भितं कार्यं तद्वाचारम्भणमृदितिरेकेण घटाद्यभावात् कारणं ब्रह्मैव सत्यमिति । हंसेति वर्ण-द्वयेनान्तःशिखोपवीतित्वं निश्चित्य हंसः सोऽहं इति भावनापूर्वकं सदा तिन्नष्ठत्वमन्तःशिखोपवीतित्वम् । तेन किं स्यात् इत्यत्र ब्राह्मणत्वं ब्रह्मध्या नार्हत्वं यतित्वमलक्षितान्तःशिखोपवीतिःवं भवति । परिवाडितरस्य तु एविमत्यादि । ब्रह्मसूत्रमेकमेव विश्वविराडोत्रादिभेदेन । चतुश्चतुर्गुणीकृत्येति । आद्यन्तयोर्निर्विशेषत्वेन मध्यमावस्थायामपि ब्रह्म निर्विशेषमेकमेवेत्यर्थः ।

''यन्नादौ यच नास्त्यन्ते तन्मध्ये भातमप्यसत् ''

इति स्मृतेः । ब्रह्म निष्प्रतियोगिकमपि स्वाज्ञास्तदाहयुपायं बहुधा कलप्यन्तीत्याह—तदिति । तस्य ब्रह्मणः स्वस्वबुद्धयनुरोधेन प्रतिसरणयोग्य-त्वात् प्रतिसरणं कलपनाधिकरणं तदवष्टभ्य तत्प्रापकोपायतया साङ्क्ष्यादि-बहुमार्गप्रवृत्तिं कलपयन्ति तत्कलपनामात्रमेव सर्वापह्वतिसद्धं ब्रह्म निष्प्रति-योगिकस्वमात्रमिति ज्ञानसमकालम् । तन्मात्रावस्थानलक्षणमुक्तिस्तु सर्वेषां ब्रह्मादीनां देवर्षीणां मनुष्याणां निर्विशेषब्रह्ममात्रज्ञानं यदि जायते तदा तत्समकालीनविदेहमुक्तिरेका ब्रह्मौकमेव ब्रह्मनिष्ठाप्रभवब्राह्मणत्वमेकमेव । अपवर्गभाजनस्य । इंसःशिखाप्रणवमुपवीतं विद्धि हंसप्रणवयोः नादः सन्धानम् । प्रणवः तुरीयोङ्कारः तदर्थः । "तुर्यातीतं ब्रह्म हंसः" इति मन्त्रार्थस्तु प्रत्यक्परेक्यसिद्धः परमात्मा नादल्याधारोऽपि स एव प्रणवो हंसो नादश्च एतत्त्वयं त्रिष्टतसूत्रमित्युच्यते । तत् कुत्र आसनमर्हति इत्यत्र स्वहदि चैतन्ये तिष्ठति स्वे महिम्न स्वयं तिष्ठतीत्पर्थः । परापरभेदेन द्विविधं ब्रह्म तदिद्धि । यदि स्वातिरिक्तश्रमतो मोक्तुमिच्छति तदा मुमुक्षः प्रापिक्वकिश्योपवीतं त्यजेत् ॥ ५ ॥

मुमुक्षुणा कर्तव्यानि

सिश्खं वपनं कृत्वा बिहःसूत्रं त्यजेद्बुधः । यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥ ६ ॥ पुनर्जन्मनिवृत्त्यर्थं मोक्षस्याहर्निशं स्मरेत् । सूचनात्सूत्रमित्युक्तं सूत्रं नाम परं पदम् ॥ ७ ॥

तत्स्त्रं विदितं येन स मुमुध्रुः स भिध्रुकः । स वेदवित्सदाचारी स विप्रः पङ्क्तिपावनः ॥ ८ ॥ येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव । तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगविद्वाह्मणो यतिः ॥ ९ ॥ बहिःसूत्रं त्यजेद्विप्रो योगविज्ज्ञानतत्परः । ब्रह्मभावमयं सूत्रं धारयेद्यः स मुक्तिभाक् । नाञ्चित्वं न चोच्छिष्टं तस्य सूत्रस्य धारणम् ॥ १० ॥ सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् । ते तु सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥ ११ ॥ ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः। ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमीरितम् ॥ १२ ॥ अशेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा । स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ १३ ॥ कर्मण्यिधकृता ये तु वैदिके लौकिकेऽपि वा। ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरकाः । व्रजन्ते निरयं ते तु जन्म जन्मनि जन्मनि ॥ १४ ॥ वामांसदक्षकट्यन्तं ब्रह्मसूत्रं तु सन्यतः । अन्तर्गतप्रमारूढं तत्त्वतन्तुसमन्वितम् । नाभ्यादिब्रह्मरन्ध्रान्तं प्रमाणं धारयेतसुधीः ॥ १५ ॥ तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं कियाङ्गं तन्तुनिर्मितम् ॥

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।

ब्राह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तु किंचन ॥ १६ ॥

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् ।

विद्वान्यज्ञोपवीती संघारयेद्यः स मुक्तिभाक् ॥ १७ ॥

बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः संन्यस्तुमर्हति ।

एकयज्ञोपवीती तु नैव संन्यस्तुमर्हति ॥ १८ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मोक्षापेक्षी भवेद्यतिः ।

बहिःसूत्रं परित्यन्य स्वान्तःसूत्रं तु घारयेत् ॥ १९ ॥

बहिष्प्रपञ्चशिखोपवीतित्वमनादृत्य प्रणवहंसशिखोपवीतित्व
मवलम्ब्य मोक्षसाधनं कुर्यादित्याह भगवाञ्चीनकः ।

इत्युपनिषत् ॥ २० ॥

सर्वापवादाधिकरणतया **सूचनात् सूत्रमित्युक्तम् ।** शौनकः पिप्पछादमुखतो ब्रह्मतत्त्वमवगम्य स्वशिष्येभ्यः एवमाहेत्यर्थः । **इत्युपनिष**च्छन्दः परब्रह्मोप-निषत्परिसमार्ह्यर्थः ॥ ६–२०॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्धसयोगिना । परब्रह्मोपनिषदो व्याख्यानं लिखितं लघु । प्रकृतोपनिषद्धाख्याप्रन्थिस्त्रशोत्तरं शतम् ॥

इति श्रीमदीशायग्रोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे अष्टसप्ततिसंख्यापूरकं परब्रह्मोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

## परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्

मद्रं कर्णेभिः-इति शान्तिः॥

परिवाजकलक्ष्णजिज्ञासा

अथ पितामहः स्विपतरमादिनारायणमुपसमेत्य प्रणम्य पप्रच्छ । भगवन् त्वनमुखाद्धणीश्रमधर्मक्रमं सर्वे श्रुतं विदितमव-गतम् । इदानीं परमहंसपरिव्राजकलक्षणं वेदितुमिच्छामि । कः परिव्रजनाधिकारी कीदृशं परिव्राजकलक्षणं कः परमहंसः परिव्राज-कत्वं कथं तत्सर्वं मे ब्रूहीति । स होवाच भगवानादिनारा-यणः ॥ १॥

> पारिबाज्यधर्मवन्तो यज्ज्ञानाद्वस्तां ययुः । तद्वसप्रपावैकार्थं तुर्यतुर्यं हरिं भजे ॥

इह खल्वथर्वणवेदप्रविभक्तेयं परमहंसपिरव्राजकोपिनषत् पारमहंस्यधर्म-प्रतिपादनन्यप्रा ब्रह्मप्रणवार्थतुर्यतुर्यपदिवश्रान्ता विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । ब्रह्मनारायणप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । पितामहो विश्वभूः नारायणो विश्वपालकः ताभ्यामाविर्भूतोऽर्थः कीदृशो भवतीति आख्यायिकामवतारयति—अथेति । अथ ब्रह्मक्षत्रादिब्रह्मचारि-गृहस्थादिधर्मश्रवणानन्तरं काश्यपादिनवप्रजापतयः सर्वलोकपितरः यस्तेषामपि पिता स सर्वछोकिषितामहः स्विषतरमादिनारायणं कार्यसत्वे स्वयमादि सर्वाभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वात् वस्तुतो यत्र कार्यकारणकछना नास्त्यरिमिति नारं कार्यकारणकछनासंभवप्रबोधिसद्भिनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रावस्थानछक्षण-विदेहकैवल्यं तदेवायनं स्वरूपं यस्य सोऽयमादिनारायणः तं स्वाज्ञदृष्ट्या मूर्तिमदवस्थितम्

" अव्यक्तं व्यक्तिमापत्रं मन्यन्ते मामबुद्धयः। परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥"

इति स्मृतेः । तमुपसमेत्य दण्डवत् प्रणम्य पप्रच्छ । किमिति भगविति । सर्वे यथावत् श्रुतम् । परमहंसपरित्राजकळक्षण यथावत् वेदितुमिच्छामि । तत्कृतप्रश्नमङ्गीकृत्य स होवाच भगवानादिनारायणः ॥ १ ॥

#### अधिकारिनिरूपणम्

सद्गुरुसमीपे सकलविद्यापरिश्रमज्ञो भूत्वा विद्वान्सर्वमैहिकामुष्मिकसुखश्रमं ज्ञात्वैषणात्रयवासनात्रयममत्वाहंकारादिकं वमनात्रमिव हेयमुपगम्य मोक्षमार्गेकसाधनो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्रृहाद्वनी मृत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतस्था ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्रृहाद्वा
वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको
वोत्सन्नाग्निरनिशको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् इति
सर्वसंसारेषु विरक्तो ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा पितरं मातरं
कलत्रमाप्तवन्धुवर्ग तदभावे शिष्यं सहवासिनं वानुमोद्यित्वा तद्भैके
प्राजापत्यामेवेष्टं कुर्वन्ति । तदु तथा न कुर्यात् । आग्नेय्यामेव
कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः । प्राणमेवेतया करोति । त्रैधातवीयामेव
कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति ।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नप्त आरोहाथा नो वर्षया रियम्॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिन्नेत् । एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ।

प्रामाच्छ्रोत्रियागारादिश्नमाहृत्य स्विवध्युक्तक्रमेण पूर्ववद्शि-माजिन्नेत् । यद्यातुरो वाश्चिं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः, सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्भृत्य प्राश्चीयात्साच्यं हिवरनामयम् । एष विधिनीराध्वाने वानाशके वापां प्रवेशे वाश्चिप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा । यद्यातुरः स्थान्मनसा वाचा वा संन्यसेत् । एष पन्थाः ॥ २ ॥

तत्कृतप्रश्नेष्वादौ परिव्रजनाधिकारिणं निरूपयित — सिदिति । न कदापि संसारमण्डले सुखलेशोऽस्तीखवगम्य दाराचेषणात्रयदेहादि -वासनात्रयदारादौ शरीरे च रूढम्लं ममत्वाहंकारादिकं वमनात्रमिव हेयमुपगम्य स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रममोक्षमार्गैकसाधनो ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भवेत् । जाबालोपनिषद्युक्तार्थमेतत् । यदि सर्वसंसारेषु विरक्तो भवित तदा ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा आदौ पित्राद्यनुमोदनं कृत्वा संन्यसेदिलाह — पितरमिति । अनुमोदियत्वा प्रव्रजेदिल्पर्थः । यदि स्वयमाहिताग्रिस्तदा चरमेष्ट्यादिकमंसमाप्तिः कार्येत्यत्र — तद्धैक इति । तद्धैक इल्लादि जाबालोपनिषदि पदशो व्याख्यातम् ॥ २ ॥

#### निरामयस्य संन्यासः

स्वस्थः क्रमेणैव चेदात्मश्राद्धं विरजाहोमं कृत्वा, अग्निमात्मन्यारोप्य, होकिकवैदिकसामर्थ्यं स्वचतुर्दशकरणप्रवृत्तिः

च पुत्रे समारोप्य तद्भावे शिष्ये वा तद्भावे स्वात्मन्येव वा, ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वमित्यभिमन्त्र्य ब्रह्मभावनया ध्यात्वा, सावित्री-प्रवेशपूर्वकमप्सु सर्वविद्यार्थस्वरूपां ब्राह्मण्याधारां वेदमातरं क्रमाद्याहृतिषु त्रिषु प्रविलाप्य, व्याहृतित्रयमकारोकारमकारेषु प्रविलाप्य, तत्सावधानेनापः प्रार्य, प्रणवेन शिखामुत्कृष्य, यज्ञोपनीतं छित्त्वा, वस्त्रमपि भूमौ नाप्सु वा विसृज्य, ओं भूः स्वाहा ओं मुवः स्वाहा ओं सुवः स्वाहेत्यनेन जातरूपधरो भूत्वा, स्वरूपं ध्यायन्, पुनः पृथकप्रणवन्याहृतिपूर्वकं मनसा वचसापि संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति मन्द्रमध्यम-तारध्वनिभिस्त्रिवारत्रिगुणीकृतप्रैषोचारणं कृत्वा, प्रणवैकध्यान-परायणः सन्नभयं सर्वभृतेभयो मत्तः स्वाहेत्यूर्ध्वाहुर्भृत्वा, ब्रह्माह-मस्मीति तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थस्वरूपानुसंधानं कुर्वन्नदीचीं दिशं गच्छेज्ञातरूपधरश्चरेत् । एष संन्यासः ॥

तदिषकारी न भवेद्यदि, गृहस्थप्रार्थनापूर्वकमभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्व प्रवर्तते सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रद्रः दार्म मे भव यत्पापं तिववारयेत्यनेन मन्त्रेण प्रणवपूर्वकं सलक्षणं वैणवं दण्डं किटसूत्रं कौपीनं कमण्डलुं विवर्णवस्त्रमेकं परिगृह्य, सद्गुरुमुपगम्य नत्वा, गुरुमुखात्तत्त्वमसीति महावाकयं प्रणवपूर्वकमुपलभ्य, अथ जीर्णवस्त्रवल्कलाजिनं धृत्वा, अथ जलावतरणमूर्ध्वगमनमेकिभिक्षां परित्यज्य, त्रिकालस्त्रानमाचरन्, वेदान्तश्रवणपूर्वकं प्रणवानुष्ठानं कुर्वन्, ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः,

स्वाभिमतमात्मिन गोपियत्वा, निर्ममोऽघ्यात्मिनिष्ठः, कामकोषलोभ-मोहमद्मात्सर्यद्म्भद्गीहंकारास्यागर्वेच्छाद्वेषहर्षामर्षममत्वादींश्च हि-त्वा, ज्ञानवैराग्ययुक्तो विक्तश्चीपराङ्मुखः शुद्धमानसः सर्वोपिनिषद-र्थमालोच्य, ब्रह्मचर्यापरिग्रहाहिंसासत्यं यत्नेन रक्षञ्जितेन्द्रियो, बहिरन्तःस्नेहवर्जितः, शरीरसंधारणार्थं चतुर्षु वर्णेष्विभशस्तपतित-वर्जितेषु पशुरद्रोही मैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति । सर्वेषु कालेषु लाभालाभौ समौ भूत्वा, करपात्रमाधूकरेणाञ्चमश्चन्, मेदोवृद्धि-मकुर्वन् कृशी भूत्वा, ब्रह्माहमस्मीति भावयन्, गुर्वर्थं ग्राममुपेत्य, धृवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरेत्, द्वावेवाचरेत्।।

यदालंबुद्धिभेवेत्तदा कुटीचको वा बहृदको वा हंसो वा परमहंसो वा तत्तन्मन्त्रपूर्वकं किट्सूत्रं कोपीनं दण्डं कमण्डलुं सर्वमप्सु विस्न्याथ जातरूपधरश्चरेत् । ग्रामैकरात्रं तीथें त्रिरात्रं पट्टने पश्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रमनिकेतः स्थिरमितरनिप्तसेवी निर्विकारो नियमानियममुत्सुन्य प्राणसंघारणार्थमयमेव लाभालाभो समो मूत्वा गोवृत्त्या मैक्षमाचरल्चुदकस्थलकमण्डलुरबाधकरहस्यस्थलवासो न पुनर्लीभालाभरतः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः सर्वत्र मृतलदायनः क्षेरकर्मपरित्यक्तो मुक्तचातुर्मास्यव्रतियमः शुक्रध्यानपरायणोऽर्थस्त्री-प्रत्यस्थलं।ऽनुन्मत्तोऽप्युन्मत्तवदाचरल्यक्तिङ्कोऽञ्यक्ताचारो दिन्वानक्तसमत्वेनास्वमः स्वस्थानुसंधानब्रह्मप्रणवध्यानमार्गेणावहितः संन्यासेन देहत्यागं करोति परमहंसपरिवानको भवति ॥ ३ ॥

यदि निरामयः संन्यस्तुमिच्छति तदा नारदपरिव्राजकोपनिषच्तुर्थो-पदेशोक्तरीया सर्वमाचरेदियाह—स्वस्थ इति । पुत्रे समारोप्य तद्भावे शिष्ये वा पुत्रादेः पित्रादिस्वत्वाधिकारत्वात् तद्भावे स्वात्मन्येव वा समारोपयेत् उपसंहरेदित्यर्थः । वेदमातरं क्रमात् भूरादिन्याहृतिषु त्रिषु प्रविळाप्य । प्रणवपूर्वकं सळक्षणं सत्वचं समपर्वकं पुण्यस्थळसमुद्भतं नानाकलमष्शोभितं इत्यादिसंन्यासोपनिषदुक्तप्रकारेण वैणवं दण्डमित्यादि । अथ हस्ताभ्यां जलावतरणं संकल्पेन ऊर्ध्वगमनं मनोराज्यं एकभिक्षां परिखज्येति । ब्रह्म निष्प्रतियोगिकं ब्रह्मातिरिक्तं न किंचिदस्तीति प्रबोध एव ब्रह्ममार्गः तत्र संपन्नो भूत्वा परमसिद्धान्तमात्मन्येव गोपयित्वा स्वात्मनिष्ठो कादाचित्कप्रसक्तकामक्रोधेत्यादि । ब्राह्मणप्रविभक्तचतुर्षे वर्णेषु अभिशस्तपतितवर्जितेषु पशुः इव अद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय भवति । "यो ब्रह्माणं निद्धाति पूर्वम् " इति श्रुत्यनुरोधेन गुरुर्विष्णुः " नैवेद्यार्थ महाविष्णोः खादु माधूकरं शुचि '' इति स्मृत्यनुरोधेन गुर्वर्थे माममुपेत्य ध्रवशीलः अचलस्वभावोऽपि अष्टौ मास्येकाकी चरेह्नावेवाचरेत् यदि श्रवणध्यानाधिकारी न भवति तदा चातुर्मास्य एकत्रासनं शिष्टमासे ग्रामैकरात्रं इत्यायुक्तरीत्याटनं एतद्द्रयमेव यतिभिराचरणीयमित्यर्थः । यदा कुटीचकाद्याश्रमे अलंबुद्धिभेवेत् । "पात्रे पतितमश्रीयात्तत्र किंचित्र हि स्मरेत्" इति स्मृते: । कृत्स्नेयमुपनिषत् नारदपरिव्राजकोपनिषद्धाख्यानेन प्रायशो व्याख्यातेति मन्तव्या ॥ ३ ॥

#### ब्रह्मप्रणवस्वरूपजिज्ञासा

भगवन् ब्रह्मप्रणवः कीदश इति ब्रह्मा पृच्छिति । स होवाच नारायणः । ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रात्मकः सोऽवस्थाचतुष्टयचतुष्टय-गोचरः । नाम्रद्वस्थायां नाम्रदादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्ना-दिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्तौ सुषुस्यादिचतस्रोऽवन्थास्तुरीये तुरीयादि- चतस्रोऽवस्था भवन्तीति । व्यष्टिजाग्रदवस्थायां विश्वस्य चातुर्विध्यं विश्वविश्वो विश्वतैज्ञा विश्वप्राज्ञो विश्वतुरीय इति । व्यष्टिस्वप्ना-वस्थायां तैजसस्य चातुर्विध्यं तैजसविश्वस्तैजसतैजसस्तैजसप्राज्ञ-स्तैजसतुरीय इति । सुषुह्यवस्थायां प्राज्ञस्य चातुर्विध्यं प्राज्ञविश्वः प्राज्ञतेजसः प्राज्ञप्राज्ञः प्राज्ञतुरीय इति । तुरीयावस्थायां तुरीयस्य चातुर्विध्यं तुरीयविश्वस्तुरीयतैजसस्तुरीयप्राज्ञः । एते क्रमेण षोडशमात्रारूढाः । अकारे नाम्रद्विश्व उकारे नाम्रतैनसो मकारे जाग्रत्प्राज्ञ अर्घमात्रायां जाप्रतुरीयो विन्दौ स्वप्नविश्वो नादे स्वप्नतेजसः कलायां स्वप्नप्राज्ञः कलातीते स्वप्नत्रीयः शान्तौ सुषप्तविश्वः शान्त्यतीते सुषप्ततैजस उन्मन्यां सुषप्तप्राज्ञो मनोन्मन्यां सुषुप्ततुरीयः पुर्यो तुरीयविश्वो मध्यमायां तुरीयतैजसः पश्यन्त्यां त्रीयप्राज्ञः परायां तुर्यतुरीयः । जायनमात्राचतुष्टयमकारांशं स्वप्नमात्राचतुष्टयमुकारांशं सुषुप्तिमात्राचतुष्टयं मकारांशं तुरीयमात्रा-चतुष्टयमर्घमात्रांशम् । अयमेव ब्रह्मप्रणवः । स परमहंसतुरीयातीता-वधूतैरुपास्यः । तेनैव ब्रह्म प्रकाशते । विदेहमुक्तिः ॥ ४ ॥

ब्रह्मप्रणवध्यानमार्गणिति प्रश्नबीजमवष्टभ्य ब्रह्मप्रणवेयत्तामवगन्तुं ब्रह्मणा पृष्टः प्रश्नोत्तरं भगवानाहेत्याह—भगविन्निति । स होवाच नारायणः । िकं तत् इत्यत्र—ब्रह्मप्रणव इति । तत् कथं इत्यत्र—जामदवस्थायां जामदादिचतस्रोऽ-वस्थाः जाम्रजाम्रदित्यादि । स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः त्वमजामदित्यादि । सुषुप्तौ सुषुप्तयादिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्तिजामदित्यादि । तुरीये तुरीयादि-चतस्रोऽवस्थाः भवन्तीति तुर्यजामदित्यादि । व्यष्टिसमध्यात्मकजामजामदादि-षोडशावस्थासु व्यष्टिजाम्रजामदादि-षोडशावस्थासु व्यष्टिजाम्रजामदादि-षाडशावस्थासु व्यष्टिजाम्यामदादि-षाडशावस्थासु व्यष्टिजाम्यजामदादि-षाडशावस्थासु व्यष्टिजाम्यजामदादि-षाडशावस्थासु व्यष्टिजाम्यजामदादि-षाडशावस्थासु व्यष्टिजाम्यजामदादि-षाडशावस्थासु व्यष्टिजाम्यजाम्यजामदादि-षाडशावस्थासु व्यष्टिजाम्यजाम्यजाम्यजामस्यास्यास्यास्यास्य व्यष्टिजामस्यास्यास्यास्यास्यास्यास्यास्य व्यष्टिनामस्यास्य व्यष्टिनामस्यास्य व्यष्टिनामस्यास्य व्यष्टिनामस्यास्य व्यष्टिनामस्यास्य व्यष्टिनामस्यास्य व्यष्टिनामस्यास्य व्यष्टिनामस्यास्य व्यष्टिनामस्य स्वयस्य स्वयस

इत्याह—व्यष्टिजाप्रद्वस्थायामिति । तथा व्यष्टिस्वप्रावस्थायामिति । तथा व्यष्टिसुषुप्त्यवस्थायामिति । तथा तुरीयावस्थायां तुरीयस्य चातुर्विध्यं इत्यत्र तुरीयविश्वः तुरीयतैजसः तुरीयप्राज्ञः इति त्रैविध्यं ज्ञेयम् । सविशेषनिर्विशेषावेकीकृत्य चातुर्विध्योक्तिः सविशेषप्रपञ्चापह्वसिद्धं निर्विशेषं तुर्यतुरीयमिति पृथक् ज्ञातुं युक्तत्वात् तथा समष्टिजाप्रज्ञाप्रदादितुर्यस्वापान्त-पञ्चदशावस्थारूढा विराड्विराडादितुर्यबीजान्ताः तथा व्यष्टिसमध्यैक्यसिद्धजाप्र-जाप्रदादिपञ्चदशावस्थारूढा ओत्रोत्राचिवकल्पानुज्ञैकरसान्ताः जाप्रजाप्रदाच-विकल्पान्तविकल्पा यत्रापह्नवं भजन्ति तद्विकल्पाविकल्पं तुर्यतुरीयमिति ज्ञेयम् । एतदर्थस्य ब्रह्मप्रणवदीपिकायां सम्यक् प्रपञ्चितत्वात् उक्तविकल्पाः एते क्रमेण षोडशमात्रारूढाः तत् कथं इत्यत्र-अकारे जाप्रद्विश्व इत्यादि । जायन्मात्राचतुष्टयमकारांशं विद्यीति शेषः । तथा स्वप्नमात्राचतुष्टय-मुकारांशं सुषुप्तिमात्राचतुष्टयं मकारांशं तुरीयमात्राचतुष्टयमर्थमात्रांशं जानीहीत्यर्थः । यत एवमतो व्यष्टिसमष्टितदुभयैक्यसिद्धजाप्रजाप्रदादितुर्यस्वा-पान्तकलनारोपापवादाधारविश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्ताः प्रणवविकारा इत्यत्र " सर्ववाच्यवस्तु प्रणवात्मकम् " इति श्रुतेः । जाप्रजाप्रदादिचतुष्पञ्चदशकलना यत्रापह्रवतां भजित यत्तदपह्रवसिद्धं तुरीयतुरीयं तिन्नष्प्रतियोगिकतया स्वमात्र-मवशिष्यते एवमर्थो यत्र अवगम्यते अयमेव ब्रह्मप्रणवः। स परमहंस-तुरीयातीतावधृतैरुपास्यः ब्रह्मप्रणवज्ञानेन मामिस्यत्र तेनैव ब्रह्मं स्वाव-रोषतया प्रकाराते यः प्रबोधो निष्प्रतियोगिकतुर्यतुर्यमात्रगोचरः तेनैव ब्रह्ममात्रप्रबोधेन ब्रह्ममात्रावस्थानलक्षणविदेहसुक्तिः भवतीति प्रकरणार्थः ॥ ४॥

#### अयज्ञोपवीतिनो ब्राह्मणत्वम्

भगवन् कथमयज्ञोपवीत्यशिखी सर्वकर्मपरित्यक्तः कथं ब्रह्म-निष्ठापरः कथं ब्राह्मण इति ब्रह्मा पृच्छिति । स होवाच विष्णुः । भो भोऽर्भक यस्यास्त्यद्वैतमात्मज्ञानं तदेव यज्ञोपवीतम् । तस्य

ध्याननिष्ठेव शिखा । तत्कर्म सपवित्रम् । स सर्वकर्मकृतस ब्राह्मणः स ब्रह्मनिष्ठापरः स देवः स ऋषिः स तपस्वी स श्रेष्टः स एव सर्वज्येष्ठः स एवाहं विद्धि । लोके परमहंसपरित्राजको दुर्लभतरः । यद्येकोऽस्ति स एव नित्यपृतः स एव वेदपुरुषः। महापुरुषो यस्तचित्तं मय्येवावतिष्ठते । अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः । स एव नित्यतृप्तः स शीतोष्णसुखदुःखमानावमानवर्जितः स निन्दामर्ष-सिहिष्णुः स षडूर्मिवर्जितः षड्मावविकारशून्यः स ज्येष्ठाज्येष्ठव्यव-धानरहितः स स्वव्यतिरेकेण नान्यद्रष्टा, आज्ञाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारश्च न विसर्जनपरो निन्दास्तुतिव्यतिरिक्तो न मन्त्रतन्त्रोपासको देवान्तरध्यानशून्यो छक्ष्याछक्ष्यनिवर्तकः सर्वोप-रतः सचिदानन्दाद्वयचिद्धनः संपूर्णानन्दैकबोधो ब्रह्मैवाहमस्मीत्य-नवरतं ब्रह्मप्रणवानुसंघानेन यः कृतकृत्यो भवति स परमहंसपरि-ब्राडित्युपनिषत् ॥

ब्रह्मप्रणवस्य परमहंसाद्यधिकारत्वात् परमहंसादेः सर्वत्र ब्राह्मणत्वं श्रूयते यः संन्यासी स परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मणः इति प्रसिद्धिस्तु शिखायज्ञोपवीतिविशिष्टकर्मठानामेव ब्राह्मणत्वमिति तिद्वरुख्स्य यतेः कथं ब्राह्मण्यं इति ब्रह्मा भगवन्तं पृच्छतीत्याह—भगवित्रति । प्रश्नोत्तरं स होवाच विष्णुः । ईदृशो मद्भावापन्नो छोके परमहंसपरित्राजको दुर्छभतरः । स एव निखराः मद्भावापन्तेनित्यतिप्तप्रापकत्वात् । स शीतोष्णसुखदुः-खमानावमानवर्जितः देहादावात्मात्मीयाभिमानवैकल्यात् स षद्भमिवर्जितः अशनायाद्यतीतत्वात् । षड्भावविकारशून्यः भावषद्कास्पदस्थू छदेहवैकल्यात् । स ज्येष्ठाज्येष्ठव्यवधानरहितः "यो न स्वरूपज्ञः स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठः"

इति श्रुतेः । स स्वन्यतिरेकेण नान्यद्रष्टा द्रष्टव्यान्यस्य मृग्यत्वात् । विसर्जनीयाभावात् न विसर्जनपरः । न मन्त्रतन्त्रोपासको देवान्तरध्यानग्रुन्यः मन्त्रतन्त्रदेवोपासनाभिः भवितव्यार्थाभावात् छक्ष्याछक्ष्यनिवर्तकः छक्षणया बोधितं छक्ष्यं तद्विपरीतमछक्ष्यं वाच्यं स्वातिरेकेण तदुभयं नास्ति अहमेवेदं सर्वं इति निवर्तकः । ब्रह्मप्रणवार्थतुर्यतुर्यस्वमात्रमित्यनुसन्धानतो विद्वान् तुर्यतुर्यस्त्पेणावशिष्यते विदेहमुक्तो भवतीत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः प्रकृतोपनिषत्परिसमास्यर्थः ।

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्गह्मयोगिना । प्रकृतोपनिषद्भाख्या लिखिता तुर्यतुर्यगा । प्रकृतोपनिषद्भाख्याप्रन्थजातं शतं स्मृतम् ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे षट्षष्टिसंख्यापूरकं परमहंसपरित्राजकोपनिषद्विवरणं संपूर्णम्

## परमहंसोपनिषत्

पूर्णमदः - इति शान्तिः ॥

परमहंसपरित्राजकानां मार्गः

ॐ । अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपसमेत्योवाच । तं भगवानाह । योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवित स एव नित्यपूतः स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्यन्ते महापुरुषो यच्चित्तं तत्सदा मय्येवावितष्ठते तस्मादहं च तस्मिन्ने-वावस्थीयते असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीिन्छखायज्ञोपवीतं स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्ड-माच्छादनं च स्वश्रिरोपभोगार्थाय लोकस्येवोपकारार्थाय च परि-प्रहेत् । तच्च न मुख्योऽस्ति । को मुख्य इति चेद्यं मुख्यः ॥ १ ॥

परमहंसोपनिषद्वेद्यापारसुखाकृति । त्रैपदश्रीरामतत्त्वं स्वमात्रमिति चिन्त्रये ॥

इह खल्ज परमहंसोपनिषद: शुक्लयजुर्वेदप्रविभक्तत्वादीशावास्यादिव -दुपोद्धातादिकं चिन्त्यम् । नारदभगवत्प्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यापिका विद्यास्तुत्यर्था ।

योग्याधिकारिण उपलम्य तेषां निःश्रेयसायाख्यायिकाकारेण प्रवृत्ता-अथेत्यादिना । अथ स्वकृतभक्तिश्रद्धातपोभिः भगवत्सान्निध्यानन्तरं देवर्षिरिति विख्यातो नारदो मुनिर्यत्र षङ्गुणैश्वर्यसम्पत्तिः पर्यवसन्ना तं भगवन्तं विनयेनोपसमेत्यो-वाच । किमिति योगिनां परमहंसपरिवाजकानां मार्गः पन्थाः कोऽयं कीदृशः तेषां स्थितिः कीदशी इति नारदेन पृष्ठो भगवान् हरिः तं प्रत्येवमाह—तिमिति । तमेवं पृष्ठवन्तं नारदं प्रति भगवान् हरिरेवमाह् किं तदिति । यथोक्ताचारविशिष्ट-कुटीचकबहूदकहंसानां मार्ग एव दुर्छभो छोके तावत्ततोऽपि परमहंसमार्गी दुर्छभतरः । दुर्छभतरार्थं श्रुतिः स्वयमेवाह—न तु बाहुल्य इति । यदि कदाचित एतादश एको भवति तदा स एव परमहंस: । नित्यपूते विशुद्धात्मनि स्वे महिम्नि तिष्टतीति नित्यपूतस्थः स एव वेदपुरुषो वेदार्थः परमात्मेति विदुषो ब्रह्मविद्वरीयांसो मन्यन्ते । अत एव परमहंसो महापुरुषो भवति यस्य महापुरुषस्य चित्तं मय्येव नारायणे तदाकाराकारितयाऽवतिष्ठते यस्मादेवं तस्मादहं च तरिमन्नेवावस्थीयते । परमात्मिन प्रसक्प्रतीचि परमात्मेति प्रत्यगभेदेनासाववस्थितः सन् स्वीयतया भातपुत्रमित्रकछत्रवन्ध्वादीन् वहि-र्छक्ष्यमाणशिखां यज्ञोपवीतं च स्वाधीतस्वाध्यायवेदजातं च तद्विहित-सर्वेकर्माण्ययं संन्यस्य स्वाज्ञदशायां स्वावासिधया यद्भातं तचतुर्दशसुवनालंकृत-ब्रह्माण्डं च स्वातिरिक्तिधिया हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं निस्यकर्मोपयोगि-मिक्षाचारादिवस्त्राणि च परिप्रहेत् किमर्थं तत्परिप्रहः इत्यत्र स्वशरीरोपभोगार्थाय भोगार्थ शीतमशकादिनिवृत्त्यर्थ छोकस्यैवोपकारार्थाय च छोकोन्मार्गनिरासनाय कौपीनादिकं परिम्रहेदित्यर्थः । कौपीनादिपरिग्रह एवास्य मुख्यः इत्यत आह-तच न मुख्योऽस्तीति । कौपीनादिपरिप्रहो न हि परमहंसानां मुख्योऽस्ति । तर्हि तेषां कोऽयं मुख्यः इति चेत् कौपीनादित्याग एव मुख्य: इत्याह— अयं मुख्य इति ॥ १ ॥

#### परमहेसपरिवाजकानां स्थितिः

न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसो न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमानं इति । षडूर्मि- वर्जितो निन्दागर्वमत्सरदम्भद्गेंच्छाद्वेषसुखदुःखकामकोधलोभमोह-हर्षासूयाहंकारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपिमव दृश्यते, यतस्तद्वपुर-पध्वस्तसंशयिषथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तस्तन्नित्य-बोधस्ततस्वयमेवावस्थितिस्तं शान्तमचलमद्वयानन्दिच्द्घन एवास्मि, तदेव मम परमं धाम तदेव शिखा तदेवोपवीतं च, परमात्मात्मनो-रेकत्वज्ञानेन तयोभेंद एव विभन्नः सा संध्या ॥ २ ॥

सर्वान्कामान्परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः । ज्ञानदण्डो घृतो येन एकदण्डी स उच्यते ॥ काष्ठदण्डो घृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः । तितिक्षा ज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः । भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा ॥ स याति नरकान्घोरान्महारीरवसंज्ञकान् ॥ इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः ॥ ३ ॥

आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्याद्दच्छिको भवेद्भिक्षोः नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपासनं च। न छक्ष्यं नाछक्ष्यं न पृथङ् नापृथगहर्न सर्व च अनिकेतस्थिरमितरेव स भिक्षुस्सोवर्णादीनां नैव परि-ग्रहेत्र छोकनं नावछोकनं च न च बाधकः क इति चेद्धाधकोऽस्त्येव। यसाद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत् स ब्रह्महा भवेत्। यसाद्भिक्षु-हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेत् स पौल्कसो भवेत्। यसाद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन ग्राह्मं चेत् स आत्महा भवेत्। तस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च सर्वे कामाः मनोगता व्यावर्तन्ते । दुःखं नोद्विग्नः सुखं निःस्पृहः त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरन-भिस्नेहो न द्वेष्टि न मोदं च । सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते य आत्मन्येवावस्थीयते । तत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्वह्नेवाहमस्मीति कृत-कृत्यो भवति । कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥ ४ ॥

न हि गाईस्थ्योचितदण्डशिखायज्ञोपवीताच्छादनं परिगृह्य परमहंसः चरति न हि तस्य शीतोष्णमानावमानकलनाऽस्ति सेयं कलना देहनिष्ठा प्रमहंसस्य प्रयगभिन्नब्रह्मभावारू उत्वेन देहत्रयोपलक्षितस्वविद्यापदतत्कार्यविलक्षण-त्वात् अत एव षद्धर्मिवर्जितः अज्ञानायापिपासाज्ञोकमोहजरामरणानीति षद्धर्मय-तद्रहितः परं निन्दागर्वः स्मयः धनविद्यादिविषयः हृद्यपितदृढकोधो मत्सरः दम्भो धर्मध्वजित्वं दर्पः स्वान्यत्रालक्ष्यबुद्धिः लब्धव्यविषयस्पृहा इच्छा स्वाहितकारिणी द्वेषः इष्टविषयजं सुखं अनिष्टविषयजं दुःखं इष्टवस्त्वभिळाषः काम: तत्कुण्ठनकारिणी क्रोध: स्वद्रव्यत्यागानिच्छा छोभ: अतिस्मस्तद्बुद्धि: मोहः स्वेष्टविषयागमजो हर्षः परश्रेयोऽसहिष्णुता असूया उद्धतवृत्तिरहंकारः आदिशब्देन स्वीयेषु ममकारादिः गृह्यते एतत्सर्वे स्वातिरिक्तिधिया हित्वा यः स्वमात्रावस्थितिमीहते तद्दृष्ट्या स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते यतो यस्मात् ब्रह्मज्ञानात् अपध्वस्तसंशयमिथ्याज्ञानानां स्ववपुरेवं दश्यते तादश्रब्रह्म-विषयकज्ञानस्याविर्भावाय यो हेतुः प्रत्यक्तवेन प्रतीचा प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावेन नित्यनिवृत्तस्वाज्ञानो यत् स्वाज्ञाननिवृत्त्यधिकरणं तन्नित्यबोधः परमात्माऽयं नित्यबोधस्वरूपं तत् स्वयमेवावस्थितिः स्वमात्रावदोषतया स्थितिः मुक्तियों मुक्त इत्यभिहितः तं स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यशान्तनिष्प्रतियोगिकपूर्णत्वात् अचलं आत्मानं अद्वयानन्दिच्छन एवास्मीति ज्ञात्वा यत् ज्ञानसमकालं स्वमात्रमविशाष्यते तदेव मम परमं धामस्वरूपं तदेव शिखा तदेवोपवीतं च केशकार्पासशिखातन्तुवच्छरीरविलक्षणत्वात् तस्य का सन्ध्या इत्यत आह— परमात्मेति । परमात्मात्मनोः प्रत्यक्परचितोः ब्रह्मेवाहं अहमेव ब्रह्म इत्येकत्व-

ज्ञानेन तयोभेंद एव विभग्नः तत्त्वभेदः तस्य स्वरूपत्वात् या जीव-ब्रह्मैक्यस्थितिः सैव सन्ध्या—

> ''नोदकैर्जायते सन्ध्या न मन्त्रोच्चारणेन तु । सन्धौ जीवात्मनोरेक्यं सा सन्ध्या सद्भिरुच्यते ॥''

इति स्मृते: । इत्थं स्वातिरिक्तसर्वीन् कामान् परित्यज्य अपहृवं कृत्वा परमाद्वैते स्थितिस्तद्रूपेणावस्थानं ज्ञानदण्डः स्वात्ममात्रावद्रोषतया येन धृतो भवति स होकदण्डी इत्युच्यते एवं पारमार्थिकसंन्यासिनं स्तुत्वा आभाससंन्यासिनं दूषयति—काष्टदण्ड इति । ज्ञानगन्धवैकल्येन येन काष्टदण्डो धृतः स हि सर्वाशी केवलोदरंभरी निर्विशेषज्ञानवर्जितो भवति किं च शीतोष्णादितितिक्षा-पुरस्सरं सविशेषज्ञानतदित्रविषयवैराग्यशमादिगुणवर्जितः स्वान्तर्वाह्यव्यापृतिः सन् केवलिभिश्वामात्रेण यो जीवेत् सोऽयं पापी पापकृत्तमो भूत्वा सद्वत्तयतीनामपि वृत्तिहा भवेत् सत्संन्यासिनोऽपि लोकाः संन्यास्याभासान् दृष्टा उपेक्षां कुर्युः तद्दोषेणायमाभासयतिः महारौरवसंज्ञकान् नरकान् याति इदं पारमार्थिकाभाससंन्यासिनोरन्तरं ज्ञाह्वा आशाम्बरो दिगम्बरः न नमस्कारः ज्येष्टकानिष्टकलनावैरल्यात् न स्वाहाकारो न स्वधाकारो देवपैत्र्यकर्मसामान्यस्य त्यक्तत्वात् न निन्दास्तुतिः निन्दनीयस्तुत्यगुणवैरल्यात् यादृच्छिको भवेत् देहधारणमात्रेतरप्रवृत्तिशून्यो भवेत्र हि याद्यच्छिकः इत्यत्र यथेच्छाचरणं विधीयते यथेच्छाचरणस्य इच्छापूर्वकत्वेन पतनमेव स्यादित्यत्र ज्ञानवैराग्यसंपन्नस्य स्वस्मिनेव मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसिक्तः ''तदाचारव-शांत्तत्त्होकप्राप्तिः '' इति श्रुतेः । एवं देहमात्रधारणेतरप्रवृत्तिनिवृत्तिशून्यस्य भिक्षोः न हि स्वान्यत्राबाहनं विसर्जनं मन्त्रध्यानं उपासनं लक्ष्यमलक्ष्यादिकं वा अस्तीत्याह—भिक्षोरिति । उक्तिवरोषणविशिष्टस्य भिक्षोः न हि प्रथक्तवेन अपृथक्तवेन वा त्वमहं तच्छब्दगोचरं सर्वे स्वातिरिक्तं वस्त्वस्ति यदि व्यावहारि-कत्वेन प्रातिभासिकत्वेनास्तीति भ्रान्तिस्तदा अनिकेतस्थिरमंतिः व्याविद्धात्मी-यनिकेतनाभिमति: स्वदेहे तदन्यत्र वा अहंकारममकारविरल एव भूत्वा यो वर्तते स भिक्षुः सौवर्णादीनां नेव परिप्रहेत् न छोकनं नावछोकनं च न च बाधकः

कः इति चेत् सुवर्णादिपरिग्रहनिमित्ताभावात्तित्रिमित्तमस्तीति स्वीकृत्य न हि सुवर्णाद्यालोकनं वा न हि कदाऽपि कुर्यात् एवं कृते बाधकः कः इति चेत् बाधकोऽस्त्येव तत् कथं यस्मादुपभोगनिमित्तात् भिक्षुः भिक्षुणा हिरण्यं कनकरत्नादिरसेन प्रेम्णा दृष्टं चेत् स ब्रह्महा भवेत् यस्मादित्यादि समानं यदि तद्रसेन स्पृष्टं तदाऽयं पौल्कसश्चर्मकारो भवेत् यदि प्राह्यं गृहीतं तदा सोऽयमात्महा भवेत् तस्मात् भिक्षुः हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च रसेन सुवर्णरत्नादिदर्शनं स्पर्शनं ग्रहणं वा न कदापि कुर्यात् पथिगततृणवद्रागं विना दर्शनं न दोषाय भवति स्पर्शनग्रहणयोः सद्यतेरप्रसक्तत्वात् '' मा गृध: कस्य स्विद्धनम् '' इति श्रुत्यनुरोधेन सुवर्णाद्यनिच्छो: परमहंसस्य स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तमनोगताः मनसि विकल्पिताः सर्वे कामाः स्वज्ञदृष्ट्या व्यावर्तन्ते भिथ्यात्मतया निवर्तन्ते यत एवमतः परमहंसः दुःखप्रारब्धोदयेऽपि नोद्विमो भवति तथा सुखप्रारब्धोदयेऽपि तत्र निःस्पृहो भवति रागद्वेषप्रसङ्गेऽपि तत्त्यागो भवति सर्वत्र स्वातिरिक्तनिवृत्तिमार्गः शुभं प्रवृत्तिमार्गोऽशुभं तयोरनिमस्नेहः प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गपराङ्मुखः प्रवृत्तिमार्गे न द्वेष्टि निवृत्तिमार्गे न मोदं चानुभवति सर्वेषां ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां चशब्दादन्तः करणस्य च गति-स्तत्तद्विषयग्रहणज्ञक्तिर्यत्रात्मन्येवोपरमते स्वात्ममात्रावज्ञोषतया अवस्थीयते तद्धि-करणत्वेन योऽविशष्यते सोऽयं तत्पूर्णानन्दैकबोधः ''कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते '' इति श्रुतेः । यत्पूर्णबोधत्वेनावशिष्टं तद्भृद्धौवाहमस्मीति तद्ग्रह्म स्वमात्रमिति ज्ञानसमकालं कृतकृत्यो विदेहमुक्तो भवति । आवृत्तिः आदरार्था । इत्युपनिषदिति प्रकृतोपनिषत्परिसमाध्यर्थः ॥

> श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्धसयोगिना । परमहंसोपनिषद्धाख्येयं टिखिता स्फुटम् । परमहंसोपनिषद्धाख्याग्रन्थः शतं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे एकोनविंशतिसङ्ख्यापूरकं परमहंसोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

## ब्रह्मोपनिषत्

### सह नाववतु—इति शान्तिः

#### चतुष्पाद्रह्म

¹ अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति नामि-हृदयं कण्ठं मूर्घा च । तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति, जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम् । स आदित्यो विष्णुश्चेश्वरश्च स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितम् ॥१॥

¹ ष्टेडर्महाशयमुद्रितसंन्यासोपनिषत्कोशे इदमधिकं दृश्यते उपक्रमे—"शौनको हृ वे महाशालोऽङ्गिरसं भगवन्तं पिप्पलादं पप्रच्छ । दिन्ये ब्रह्मपुरे संप्रतिष्ठिता मवन्ति । क्यं स्जन्ति । क्र्स्येष महिमा बभ्व । यो ह्रोष महिमा बभ्व क एषः । तस्मै स होवाच ब्रह्मविद्यां वरिष्ठाम् । प्राणो ह्रोष आत्मा । आत्मनो महिमा बभ्व । देवानामायुः स, देवानां निधनमनिधनं, दिन्ये ब्रह्मपुरे विरजं निष्कलं शुश्रमक्षरं यद्ग्ह्म विभाति । स नियच्छिति मधुकरराज[मिक्षकावत् । यथा मिक्षका मधुकरराजानमुत्कामन्तं सर्वा एवोत्कामन्ते तथैवैनमुत्कामन्तं ते सर्वे देवा अन्त्कामन्ते । स स्जल्याकर्षति मार्क्षकिवत् । यथा माक्षिकिन तन्तुना जालं विक्षिपति तेनापकर्षति तथैवैष प्राणो यदायाति संस्ष्टमाकृष्य । प्राणदेवतास्ताः सर्वा नाड्यः मुख्यपे श्येनाकाशवत् । यथा खं श्येन आश्रित्य याति स्वमालयमेवं सुष्ठमभूते । यथैवैष देवदत्तो यष्ट्यापि ताड्यमानो न वेत्त्येविमप्रापूर्तैः शुभाशुमैर्न लिप्यते । यथा व्या व्या व्या व्या व्या स्वा नाष्ट्रमानिष्ठमा अगनन्दमभियाति । वेद एष परं ज्योतिः । ज्योतिष्कामो ज्योतिरानन्दयते । भूयस्तेनव स्वप्नाय गच्छिति

यद्वस्रोपनिषद्धस्तिविस्फुलिङ्गि<sup>1</sup> हृदुज्ज्वलम् । त्रैपदानन्दसाम्राज्यं कलये तत् स्वमात्रतः ॥

इह खलु कृष्णयजुर्वेदान्तर्गतब्रह्मशाखायां यत्काण्डत्रयं प्रकाशितं तत्र सकामस्य केवलकर्मकाण्डानुष्ठानतो धूमादिमार्गेण पुनराप्तिमचन्द्रलोकाप्तिरभिहिता निश्कामस्य तु कर्मोपासनाकाण्डार्थसमुचयानुष्ठानादि चरादिमार्गेणापुनरावृत्तिमद्भक्ष-लोकाप्तिस्तत्र तन्मुखासादितब्रह्मज्ञानतस्तत्रत्योपाधिप्रलयसमकालं तद्भावापत्तिः केषां चित्तशुद्भयाधिक्यान्मार्गद्वयेऽपि विरिक्तर्जायते तेषां झटिति निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रावगतये ज्ञानकाण्डात्मिकेयं ब्रह्मोपनिषत् प्रवृत्ता उपनि-पूर्वकस्य थषद्ल्रधातोरर्थानुगमात् मुमुक्षोः स्वाज्ञानविद्रारणपूर्वकं निष्प्रतियोगिक-ब्रह्ममात्रगमकत्वादिति ब्रह्मविद्योपनिषत् । तादर्थ्येन प्रन्थोऽप्युपनिषत् । एवमुक्तलक्षणब्रह्मोपनिषदोऽल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते—अथेति । अथ यथोक्त-ब्रह्मविद्यासाधनसंपत्त्यनन्तरं मुमुक्षोः स्वातिरिक्तारूढबुद्भित्वेन निग्प्रतियोगिक-ब्रह्ममात्रोपदेशानर्हत्वात् तन्मात्रबुद्रयारोहाय सोपायब्रह्मविद्या वक्तव्येति परमद-श्रुति: यत: प्रवृत्ता अतो ब्रह्मोपलब्धिस्थानकल्पना युज्यते य: "पूर्णमेवावशिष्यते" इति, "पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्टा सा परा गतिः इति च श्रुतिसिद्धः पुरुषोऽविशाष्यते तस्यास्य पुरुषस्य परमात्मन उपलब्धि-स्थानानि चत्वारि भवन्ति तानि कानि किं देशान्तरे वर्तन्ते इत्याकांक्षायां स्वरारीरे तानि वर्तन्त इत्याह-नाभिरिति। चकाराद्दक्षिणाक्ष्यादिस्थानान्तर-मस्तीति द्योत्यते । तत्र कीदृशं ब्रह्म इत्यत आह—तत्र चतुष्पादं ब्रह्म

जलोकावत् । यथा जलोकाग्रमग्रं नयत्यात्मानम् , नयति परम् , संधयत्यपरम् , नापरं त्यजित . . . . . . स जाग्रदिभधीयते । यथैवैष कपालाष्टकं संनयति . . . . . । य एष स्तन इवावलम्बत एष देवयोनिर्यत्र जाग्रति ग्रुभाग्रुभमनिरुक्तमस्य देवस्य स संप्रसादोऽन्तर्या-मी खगः कर्कटकः पुष्करः पुरुषः प्राणो हंसः परापरं ब्रह्मात्मा देवता वेदयति । य एवं वेद स परं ब्रह्माम क्षेत्रज्ञमुपैति " ।

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> র ৭. ' बिष्णुलिङ्गि '

<sup>&</sup>lt;sup>2</sup> ड, ड १, 'संद्वातोः'

विभातीति । चतुःस्थानाश्रयत्वाचतुष्पात् वस्तुतः तत्परिच्छेदशून्यं ब्रह्म विभातीत्पर्थः । स्वाइदृष्टिप्रसक्तचतुष्पाद्वह्म कीदृशं इत्यत आह—जागरित इति । यदा बाह्येन्द्रियः तद्थोंपल्रब्धः जाप्रत् तत्र जागरिते ब्रह्मा नाभि मण्डलमिष्ठाय जाप्रत्कलनां कलयति स हि जगत्स्रष्टा चतुराननः यदा जाप्रत्प्रत्ययजस्वमो दृश्यते तदा विष्णुर्हृद्यमिष्ठिष्टाय स्वप्ने तत्कलनाकिलो भवति यदा जाप्रदादिव्यापृतिः विलीयते तदा स सुष्ठुप्तिभवति तदानीं रुद्रः कण्ठमिष्ठाय स्वाइविकल्पितजाप्रत्स्वप्रप्रश्रमुपसंहरित जाप्रदाद्यवस्थात्रयं यत्र विलीयते सेयं तुरीयावस्था तदानीं मूर्धानमिष्ठिष्टाय यज्ञाप्रदादिकलनाभावाभावप्रकाशकं भवति तन्मूर्घ्वं संस्थितं तुरीयमुच्यते यद्यपि नेत्रकण्ठहृदयमूर्धसु जागरितादीनि वक्ष्यति तथाप्यत्र नाभ्यादीनामुक्तत्वादुपलब्ध्यर्थमेवं चिन्तनीयम् । यद्वा नाभ्यादियथाक्रममुत्स्रुज्य नाभिनेत्रे समुच्चित्य जागरितजागरितं चिन्त्तनीयम् । यद्वा नाभ्यादियथाक्रममुत्सरुज्य नाभिनेत्रे समुच्चित्य जागरितजागरितं चिन्त्तनीयम् । यद्वा नाभ्यादियथाक्रममुत्सरुज्य नाभिनेत्रे समुच्चित्य जागरितजागरितं चिन्त्त्यं स्वप्नस्थानं कण्ठं सुष्ठितस्थानं हृदयं पूर्ववत् मूर्ध्व संस्थितं तुरीयं यो मूर्धानमिष्ठाय तुर्यात्मा भवति तस्मात् आदित्यादिः भिन्न इत्यत आह—स आदित्य इति । तदिति-रेकणादित्यादेरभावात् चकारात् तदितिरेकण न किंचिदप्यस्तीति द्योत्यते तद्याधातस्यं कि इत्यत आह—स्वयमिति ॥ १ ॥

#### परस्य ब्रह्मणः अक्षरत्वम्

यत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्तुषा न स्तुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौल्कसो न पौल्कसः श्रमणो न श्रमणः तापसो न तापस एकमेव तत् परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम् ॥ २ ॥

स्वस्य स्वातिरिक्तमन आद्यन्तःकरणश्रोत्रादिबाह्यकरणजातासंभवस्वमात्र-प्रबोधविदितत्वात् यदेतदमनस्कादिलक्षणमक्षरं तत्र स्वातिरेकेण लोकादिताप-

¹ ध्रेडर्महाशयमुद्रितसंन्यासोपनिषत्कोशे इदमधिकं दृश्यते—''ह्याकाशे तद्विज्ञान-माकाशम् । तत्सुषिरमाकाशम् । तद्वियाद्भृयाकाशे यस्मिन्निदं सं च वि चरति यस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतम् । स विभुः प्रजासु ध्यानेन यो वेद तत्परं ब्रह्म भवतीति निर्वाणम् ।

सान्तकळना न संभवति तिन्नर्वाणरूपेण स्वमात्रमविशिष्यत इत्याह—यन्नेति। लोकादितापसान्तकळना अस्ति नास्तीति विभ्रमासंभवे हेतुमाह—एकमिति। निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रमेकमेव परं ब्रह्म विकलेवरनिर्वाणरूपेण विभाति स्वाज्ञादि-दृष्टिमोहे सित। असित कैवल्यमेकरूपेण चकास्तीत्यर्थः॥ २॥

#### निर्वाणस्य एकत्वम्

न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते प्रतिबुद्धः सर्वविद्येति ॥२॥

कथं निर्वाणमेकं निष्प्रतियोगिकं तिन्नयन्तृत्वेन देवादेः सत्त्वात् इत्यत् आह—न तन्नेति । यत् स्वमात्रमविशष्टं न हि तत्र देविषिपितरः सन्ति तन्मात्रावस्थायां स्वयमळ्ट्यात्मानो नियन्तृनियम्यतया स्थातुं कथमीशिते समर्था भवन्ति किन्त्वेक एवात्मा देविषिपित्रादिकळनाविरळं ब्रह्म स्वमात्रमिति प्रतिबुद्धः देविषिपित्रादिभिरिप ब्रह्मास्मीत्येव प्रतिबुद्धो भवति न हि भेददृष्ट्येव्यर्थः । यद्यत् स्वाज्ञविकल्पितं तत्तत् अहमेवेदं सर्वे इति श्रुतिसिद्धा या सा सर्वविद्या तया स्वविकल्पितसर्वासंभवप्रबोधरूपया स्वमात्रमिति ळच्छं शक्यिमित्यर्थः ॥ ३॥

#### त्रिवृतसूत्रम्

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः । हृदि प्राणाश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदुः ॥ हृदि चैतन्ये तिष्ठति ॥ ४ ॥

ब्रह्ममात्रप्रबोधसहकारित्वेन ,संन्यासविधित्सया भूमिकां करोति— हृदिस्था देवता इति । स्वातिरिक्तं स्वमात्रतया हरतीति हृच्छब्देन प्रत्यक्चैतन्य-मुच्यते तस्मिन् हृदि तदिधिष्ठेयहृदयक्मेले वा अग्न्याद्याः सर्वा देवताः प्रतिष्ठिताः । तथा हृदि प्राणापानादिभेदेन प्राणाः पञ्च वागादयश्च विधात्रा प्रतिष्ठिताः तथोक्तलक्षणहृदये नासापुटसंचारी प्राणश्च स्वयंज्योतिरात्मा च चकारद्वयतो यद्यस्ति नास्तीति विकल्पितं तत्सर्वे हृदये प्रतिष्ठितमिति द्योत्यते बहिस्सूत्रत्यागिनस्तदेतित्रवृत्सूत्रमिति विदुः जानन्ति बहिःसूत्रं क प्रतिष्ठितं इत्यत आह—हृदीति । सर्वस्थापि हृदयप्रतिष्ठितत्वात् ॥ ४ ॥

#### ब हि:सूत्रम्

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् । आयुष्यमम्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥ ५॥

कीदृशं बिहःसूत्रं इत्यत आह—यज्ञोपवीतिमिति। यज्ञस्य विष्णोरुप-सामीप्येन वीतं विशेषेणागतं जीवस्वरूपं यज्ञोपवीतं स्वगतजीवतापाये तदेव परममुत्कृष्टं अत एव पवित्रं प्रजापतेः यद्भवहारकारणं सहजं यद्धा देहेन्द्रियादिवत् सहजं पुरस्तात् पूर्वमायुष्यं अम्र्यं श्रेष्ठं स्वात्मानं विदित्वा स्वान्यत्र मितं प्रतिमुश्च यच्छुभं ज्योतिष्मद्यज्ञोपवीतं तदवलम्ब्य बाह्ययज्ञोपवीतं प्रतिमुखेति वार्थः । यस्मादेतद्भृदि चैतन्ये तिष्ठति तस्मात् इदं यज्ञोपवीतं त्रिवृत्कार्पासजं त्रैविणिकैः धार्यं तत्कार्पाससूत्रं बलं वीर्यवत् कर्मकारणमस्तु तेजो ब्रह्मवर्चसादिवृद्धिकरं भूयादित्यर्थः ॥ ६॥

#### नहासूत्रम्

सिशासं वपनं कृत्वा बिहःसूत्रं त्यजेद्बुधः । यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥ ६ ॥ सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम् । तत्सूत्रं विदितं येन स विध्रो वेदपारगः ॥ ७ ॥ येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव । तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदिश्वान् ॥ ८ ॥ बिहःसूत्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममास्थितः । ब्रह्मभाविमदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः । धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाज्जुचिर्भवेत् ॥ ९ ॥

त्रैवर्णिकानां श्रोतस्मार्तकर्मसाधनतया प्रतिपद्माथ परिव्राजकानां बहिर्यज्ञोप-वीतादित्यागपूर्वकं मुख्यशिखायज्ञोपवीतं धार्यमित्याह—सशिखमिति । शिखासहित-केश्वश्मश्र्वादिवपनं कृत्वा यत् बहिः त्रिवृत्सूत्रं कर्माङ्गभूतं नित्यादिसाधनसंपन्नो बुधः बिहिरिशाखासूत्रोपलक्षणस्वातिरिक्तास्तिताबुद्धि त्यजेत् ततः किं इत्यत आह— यदिति । यत् स्वातिरिक्तक्षरप्रपञ्चापह्नवसिद्धमक्षरं परं निरुपमोत्कृष्टं स्वावशेषतया बृंहणात् ब्रह्म तत् स्वमात्रमिति धारयेत् किं तत् कथं धार्य तद्भारणफलं कीदशं इत्यत आह—सूचनादिति। "सन्मात्रमसदन्यत्", "ब्रह्म-मात्रमसन हि " इत्यादिश्रुतिभिः सूचनात् स्वातिरिक्तग्रासं ब्रह्मैव सूत्रमिति ब्रह्मविद आहु:। सूत्रं नाम किं इत्यत आह—परं पदिमिति परं निरितिशयं तद्रूपेण पद्यत इति पदं ब्रह्ममात्रमित्यर्थः । तद्तेतत् सूत्रं येन स्वमात्रतया विदितं स विप्रो ब्रह्मविद्वरीयान् स्वारोपितातदपह्नवमुखेन वेदा यत्र पर्यवस्यन्ति तद्देद परं ब्रह्ममात्रं गतो भवति । ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । कथं एतादृशं पदं मन्द्बुद्धिगम्यं भवतीत्याशंक्य तत्पदारोहोपायत्वेन सूत्रस्वरूपमाच्छे—येनेति । स्वातिरिक्त-जगदारोपाधिकरणतया यत् सूत्रितं सूत्रे मणिगणवत् येनेदं सर्वे अविद्यापद-तत्कार्यजातं प्रोतमनुविद्धं तदेतत्सूत्रमीश्वरचैतन्यं तत्तत्त्वं सर्वापवादाधिकरणं निरिधकरणं वा दर्शितवान् योगवित् तदेवास्मीति धारयेत् कथं पुनरेवं धार्य इत्यत्र तद्गतहेयांशत्यागपूर्वकं शिष्टांशं धार्यमित्याह—बहिरिति । यश्चेतनो विद्वान् विहःसूत्रशिखोपलक्षितस्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यजातं त्यजेत् ततोऽयं योगी एवं सागशिष्टं ब्रह्मभाविमदं सूत्रं धारयेत् सोऽयमेवं धारयिता ब्रह्ममात्रयोगमास्थितो भवतीत्यर्थः । एवंविदोऽप्युच्छिष्टादिविदिश्घोपाधियोगात्त-थात्वं स्यादित्याशङ्करः सूत्रभावापन्नस्योपाधियोगतत्कार्योच्छिष्टादिवैरल्यमाह—

धारणादिति । नवद्वारप्रवेशनिर्गमाभ्यामुच्छिष्टः अस्पर्शसंयोगादशुचिः तद्धे-तूपाध्ययोगात् उच्छिष्टादिः न ह्यस्तीत्यर्थः ॥ ६–९ ॥

> ह्यानशिखादीनां मुख्यवाह्यण्यिक्तता सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् । ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥ १० ॥ ज्ञानशिखिनो ज्ञानिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः । ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥ ११ ॥ अभ्नोरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा । स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ १२ ॥

शिखायज्ञोपवीताभावे ब्राह्मण्याभावमाशंक्य ज्ञानशिखोपवीतसत्वानमुख्य-ब्राह्मणत्वं स्यादित्याह—सूत्रमिति । स्वातिरिक्तकलनारिहतं सूत्रं ब्रह्मास्मीति येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनां नैष्कर्म्यपदमारूढानां सूत्रमन्तर्गतिमिव विभाति छोके ते वे सूत्रयाथात्म्यविदः ते च यज्ञोपवीतिनः अत एवते परिव्राजकाः ज्ञानशिखिनो ज्ञानोपवीतिनः सूत्रज्ञानिष्ठाश्च सूत्रज्ञानं हि तेषां पवित्रमुच्यते अत एव तेषामुच्छिष्टाशुचिनस्त इत्युक्तम् । यस्याग्निशिखेव ज्ञानमयी शिखा विद्यते सोऽयं विद्वान् शिखीत्युच्यते नेतरे केशधारिणः शिखिनो भवन्ति ॥ ॥ १०-१२॥

कियाङ्गसूत्रम्

कर्मण्यिषकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः । तेभिर्घार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥ १३ ॥

एवं चेत् सर्वेरिप शिखायज्ञोपवीतादिकं परित्याज्यमित्यत आह— कर्मणीति । स्वाज्ञानपुरस्सरिमदं मया कर्तव्यमिति ये तु त्रैवर्णिका ब्राह्मणाद्यो वैदिके कर्मण्यधिकृताः तेभिस्तेरेव कार्पासतन्तुनिर्मितिमदं यज्ञोपवीतं कियाङ्गं इति धार्यम् । तथाच श्रुतिः—''यज्ञोपवीत्येवाधीयीत याजयेदाजेत वा यज्ञस्य'' इति त्रैवर्णिकानां क्रियाङ्गत्त्वेन यज्ञोपवीतं स्मृतम् । हिशब्दः प्रसिद्धिदोतकः ॥ १२ ॥

#### निरुपचरितन्नाह्मण्यम्

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् । ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥ १४ ॥

त्रैवर्णिकेषु निरुपचरितबाह्मण्यं कस्येत्यत आह—शिखाज्ञानमयीति । त्रैवर्णिकेषु ब्राह्मणजातेरेव पारिब्राज्यिवधानात् तत्र यस्य ब्राह्मणजातिजस्य शिखा ज्ञानमयी उपवीतं च तन्मयं ज्ञानमयं भवति तस्य सकस्रं निरुपचरितं ब्राह्मण्यमिति ब्रह्मविदो विदुः जानन्तीत्पर्थः ॥ १४॥

#### यज्ञोपवीतयाथात्म्यम् 🧪

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् । स विद्वान्यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञः तं यज्ञिवनं विदुः ॥ १५ ॥

एतादृशब्राह्मण्यापादक्यज्ञोपवीतयाथात्म्यं किं इत्यत आह—इदिमिति । इदं यज्ञोपवीतं विष्णुपद्प्रापकं ज्ञानं क्रियाकारकादिकलनोपमर्दकत्वेन परमं यदेतत् ज्ञानं ब्रह्ममात्रपरायणं स्वगतहेयांशापायतः तन्मात्रतयाऽवशेषितं भवित यो वा इदमहमस्मीति विद्वान् स हि यज्ञोपवीती ब्रह्ममात्रवित् स्यात् ज्योतिष्टोन्मादियज्ञोऽपि स एव स्यात् य एवंवित् त ब्रह्मीमूतं वेदविदो यज्विनमग्निहोत्रिणं विद्वः स एवाग्निहोत्री नान्यः इत्यत्र—

"प्रपञ्चमिखलं यस्तु ज्ञानाम्मौ जुहुयाद्यति : । आत्मन्यमीन् समारोज्य सोऽम्रिहोत्री महायति: ॥" इति श्रुते:। स्वातिरिक्तं स्वात्माग्नौ हुत्वा विद्वान् स्वयमेवाविद्याप्यत इत्यर्थः॥१९॥

#### ब्रह्मीभूतो विद्वान् एक एव

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ १६॥ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽजुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेपाम्॥१०॥

किमयं ब्रह्मीभूतो विद्वान् अनेक: इत्यत आह—एक इति । अयं ब्रह्मीभूतो मुनिः एक एव निष्प्रतियोगिक ब्रह्ममात्रभावापन्नत्वात् । स कीदशः इत्यत आह— देव इति । स्वयंप्रकाशिचद्भातुत्वात् प्रकाशमात्रः किं न दृश्यते इत्यत आह— सर्वभूतेषु गृढः इति । स्वज्ञप्रत्यगभेदेन भासमानोऽपि स्वाज्ञदृष्टिविकाल्पित-सर्वभूतेषु चतुर्विधेषु स्वावृतित्रयावृतदृष्टीनामभानात् गृहः । एवं चेत् परिच्छेचता स्यादित्यत आह—सर्वञ्यापीति । व्योगवत् सर्वानुस्यूतत्वात् । सर्वस्यानात्मत्वेन तद्योगात् तथात्वं स्यादित्यत आह — सर्वभूतान्तरात्मेति । चतुर्विधभूतान्तर्वि-भाताहंप्रत्ययाल्टम्बनप्रत्यगात्मतया विभानात् न ह्यनात्मना संबध्यत इत्यर्थ: । सर्वभ्रतप्रत्यक्तवे तद्भतकर्तृत्वादिसंसारिता स्यादित्यत आह—कमीध्यक्ष इति । प्रतीचः सर्वभूतकृतकर्तृत्वाद्यस्पर्शित्वेन तत्कृतसर्वकर्मफलप्रदातृत्वात् । तथा चेत् तटस्थता स्यादित्यत आह**—सर्वभूताधिवास** इति । सर्वभूतान्यात्मत्वेनाधिकृत्य वसनात् सर्वात्मरूपः इत्यर्थः । सर्वभूताधिवासत्वेन तत्तद्भतान्तःकरणवृत्त्यनु-विद्धता स्यादित्यत आह—साक्षीति । साक्षिणः स्वसाक्ष्यस्पर्शित्वेन सर्व-विलक्षणत्वात् न ह्यन्तः करणवृत्त्यनुविद्धता स्यादित्यर्थः । '' सर्वस्य साक्षी ततः सर्वस्मादन्यो विलक्षणः '' इति श्रुतेः । साक्ष्यसापेक्षसाक्षित्वे तद्वानयमित्यत आह—चेतेति । अचेतनासाक्ष्यचेतयितृत्वात् न हि साक्ष्यविकारः तं स्पृश्चित तत्र हेतुमाह—केवल इति । अशेषविशेषशून्य इत्यर्थः । गुणयोगेन गुणिनः केवलता कृतः इत्यत आह—निर्गुण इति । आविद्यकगुणानां कारणतुल्यत्वेन तद्योगस्य दुर्लभत्वात् निर्गुणः । चशब्दः निष्प्रतियोगिककेवलत्वख्यापकः इत्यर्थः, चिन्मात्रस्वरूपत्वात् । यस्तु इत्यंभृतिनर्गुणः परमात्मा निष्प्रतियोगिकेक-रूपोऽपि सोऽयं स्वाइदृष्ट्याऽनेक इव न वस्तुत इति जानतां स्वातिरिक्तशान्ति-पूर्वकं स्वमात्रस्थितिः स्यादित्याह—एक इति । यः परमात्मा वस्तुतः एकोऽपि स्वाइदृष्टिप्रसक्तसर्ववशी सर्वनियन्तृत्वात् सर्वभूतान्तरात्मेति व्याख्यातं स्वस्य वास्तवं यद्वृषं सजातीयविजातीयस्वगतभेदापह्वसिद्धमेकं चिन्मात्ररूपं स्वाइदृष्ट्या बहुधा नानेव यः करोति वस्तुतः चिन्मात्रमेवायं इत्यर्थः । तद्वहुत्वेन गानं स्वाज्ञानिनिमत्तं स्वाज्ञानित्सनोपायमाह—तिमति । य आत्ममात्रावशेषतया स्थितः तमात्मस्थं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतया येऽनुपश्यन्ति धीराः बह्य-विद्वरीयांसः तेषां स्वमात्रावशेषलक्षणकैवल्यसुखं सिद्धं भवति नेतरेषां स्वावृतदृष्टित्वात् ॥ १६, १७॥

#### ब्रह्मास्युपाय:

आत्मानमर्राणं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारिणम् ।
ध्यानिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येत्रिगृढवत् ॥ १८ ॥
तिलेषु तैलं दधनीव सिपरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मिन नायतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यित ॥१९॥
ऊर्णनामिर्यथा तन्तूनस्मित्ते संहरत्यिप ।
नाम्रतस्यमे तथा नीवो गच्छत्यागच्छते प्रनः ॥ २० ॥
नेत्रस्थं नागरितं विद्यात्कण्ठे स्वमं समाविशेत् ।
सुषुप्तं हृदयस्यं तु तुरीयं मूर्भि संस्थितम् ॥ २१ ॥

<sup>1</sup> यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥ २२ ॥ सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सिपिरिवान्वितम् । आत्मविद्यातपोमूलं तद्वद्वोपनिषत्पदं तद्वद्वोपनिषत्पदमिति ॥

तदास्युपायः कः इत्यत आह—आत्मानमिति । आत्मानं अन्तःकरणं अधरारणि कृत्वा प्रणवमोंकारं चोत्तरारणि कृत्वा दीर्घ्वण्टानिनादवत् प्रणवमुच्चार्य तदा पूर्वोत्तरारणिस्थानीयान्तःकरणप्रणवध्यानिर्मथनाभ्यासात् कोऽयं प्रणवार्थः इत्यत्र स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तस्वाविद्यापदतत्कार्यप्रविभक्तजाप्रजाप्रदाद्य-विकल्पानुज्ञेकरसान्तगतहेयांशापह्विसद्धं तुर्यतुरीयं ब्रह्म स्वमात्रमविश्चिण्यत इति प्रणवार्थानुसंधानं ध्यानिर्मथनाभ्यासः तस्मादभ्यासात् मथनाविर्भूतकाष्ट्र-निगूढाग्निवत् एवं जाप्रजाप्रदादिचतुष्पञ्चदशकलनापह्विसद्धं तुर्यतुर्यं स्वावशेषधिया प्रश्चेत् ॥ मथनात्तत्सार आविर्भवति इत्यत्र बहु दृष्टान्तमाह—तिलेष्विति । यथा तिल्यन्त्रघर्षणभ्रमणोपायतः तिलेषु तैलं स्पष्टमुपलभ्यते यथा द्वि मधिते तज्जनवनीते अग्निना संस्कृते सिर्पृवृतमुपलभ्यते यथा स्नोतस्सु भूनाडिषु खननोपायतः आप उपलभ्यन्ते यथा अरिणपु चाग्नः मथनादुपलभ्यते । चशब्दात् सूर्यकान्तादिष्विप सूर्यकिरणयोगतोऽग्निरुपलभ्यते इति द्यायते यथा दृष्टान्तपरंपरा तथैवमात्मा तुर्यतुर्य आत्मन्यन्तःकरणे श्रुत्याचार्यसंस्कृते स्वातिरिक्तजाग्रजाग्रदादिचतुष्पञ्चदशकलनां ग्रसित्वा स्वमात्रं जायते उपलभ्यते स्वातिरिक्तजाग्रजाग्रदादिचतुष्पञ्चदशकलनां ग्रसित्वा स्वमात्रं जायते उपलभ्यते असी तुर्य इत्यर्थः । तदाप्तावुपायान्तरमाह—सत्येनिति । सत्यवचनेन

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> ष्रेडर्मुद्रितकोशे—

<sup>&</sup>quot; यदात्मा प्रज्ञयात्मानं संघत्ते परमात्मिन । तेन संध्या ध्यानमेत्र तस्मात्संध्याभिवन्दनम् ॥ निरूदका ध्यानसंध्या वाककायक्लेशवर्जिता । संघिनी सर्वभूतानां सा संध्या ह्येकदण्डिनाम् " ॥ इत्यधिकसुपलभ्यते ।

कृच्छूचान्द्रायणादितपसा सत्यं ब्रह्माहमस्मि इति बोधेन तदुपायश्रवणादि-वा योऽधिकारी अनुपश्यति तेनापि लभ्य इत्पर्थः ॥ अवस्था-त्रयेऽपि जीवानेकत्वं स्यात् इत्यत्र दृष्टान्तेन तन्निराकरोति— ऊर्णनाभिरिति । यथोर्णनाभिः छूता कीटः खशरीरतः तन्तून् सृजते न केवलम्; एवमुपसंहरति च आर्द्रतन्तूनां छाळासमतया सृष्ट्युपसंहारौ युज्येत इत्यर्थः । तथा जीवोऽयं जायस्वप्ने जायत्स्वप्नो छ्ताकीटवत् सृजन्नुपसंहरन्नेक एव भवति बहुजनिवासना-वैचित्र्यादहमेक इत्यस्मृतिरविरुद्धा स्वप्नादावनुभूतस्याननुभूतस्य च स्मृते: उप-लंभात् गृहात् गृहान्तरं शिशुरिवायं पुनः पुनः जाप्रदादिस्थानात् स्थानान्तरं गच्छत्यागच्छते तस्मादवस्थापूगसंचार्यात्मा एक एवेत्यर्थः ॥ यत् पुरा जागरितादि-स्थानतया नाभ्यादिरुक्तः इदानीं विस्पष्टमाह—नेन्नेति । नाभिनेत्रयोरेकत्वेन विविध-तत्वात् नेत्रे तिष्ठतीति नेत्रस्थः विश्वविश्वः तमात्मानं जागरितं जागरणावस्थागतं विद्यात् कण्ठप्रदेशे जाप्रत्प्रविभक्तस्वप्नावस्थापन्नं विश्वप्रविभक्ततैजसं समाविशेत् जाग्रतप्रविभक्तसुषु स्यवस्थागतं विश्वप्रविभक्तप्राज्ञं हृद्यस्थं त्वेव विद्यात् विश्वप्रवि-भक्त तुरीयं दशमद्वारि मूर्ष्ट्रि संस्थितं विद्यात् इत्यनुषज्यते ॥ तुरीययाथात्म्यं विश्रदयति — यत इति । यतो यस्मात् तुर्यात् श्रुतीनां वाचः संकल्पादिवृत्ति-मन्मनसा सह निवर्तन्ते तमप्राप्याप्रकाश्येत्यर्थः । तदेतज्जीवस्य तुर्यानन्दुरूपं यत् ज्ञात्वा बुधो मुच्यते तदेव तुर्यानन्दरूपं तुर्ययाथातम्यमित्यर्थः । तुरीयं मृष्ट्रि संस्थितं इत्युक्तितः परिच्छिन्नता स्यात् इत्याशङ्कय तत् परिहरन् शास्त्रार्थमुपसंहरति — सर्वेञ्यापिनमिति । ''व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वेमात्मा '' इति श्रुत्यनुरोधेन निष्प्रतियोगिकचिन्मात्रमप्यात्मानं स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तस्वातिरिक्त-सर्वप्रपञ्चव्यापिनमपि नोपायं विना लभ्यत इति दृष्टान्तमाह—क्षीर इति। यथा क्षीरे सर्पिः स्वभावेन समर्पितमपि मथनाद्युपायं विना न लभ्यते तथाऽयमात्मा नोपायमन्तरेण लभ्य इत्यर्थः । कोऽयं तदवगत्युपायः इत्यत आह— आत्मेति । अनात्मापहृवमुखेनात्ममात्रावगतिहेतुविद्योपनिषत्तपः श्रवणादिः तयो-रपि मूलमास्पदं यद्वहा स्वमात्रतया अविशिष्यते तद्वयुपनिषदपद्मुपनिषदेक-

गम्यत्वात् उपनिषन्नाम **ब्रह्म**मात्रज्ञानं तत्पदं तु ब्रह्ममात्रं अभ्यासेतिशब्दौ उपनिषत्तदर्थपरिसमास्यर्थौ ॥ १८–२३ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्गह्मयोगिना । लिखितं स्वाद्विवरणं ब्रह्मोपनिषदो लघु । ब्रह्मोपनिषदो व्याख्याग्रन्थस्तु द्विशतं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्रविवरणे एकादशसंख्यापूरकं ब्रह्मोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

# भिश्चकोपनिषत्

### पूर्णमद-इति शान्तिः

चतुर्विधा भिक्षवः

अथ भिक्षूणां मोक्षार्थिनां कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसाश्चेति चत्वारः ॥ १ ॥

#### कुटीचकाः

कुटीचका नाम गौतमभरद्वाजयाज्ञवल्क्चवसिष्ठप्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

> भिक्षूणां पटलं यत्र विश्रान्तिमगमत् सदा । तत्त्रेपदं ब्रह्मतत्त्वं ब्रह्ममात्रं करोतु माम् ॥

अथ खलु गुक्रयजुर्वेदप्रविभक्तेयं भिक्षुकोपनिषत् कुटीचकादिधर्मप्रशंसा-पूर्वकं ब्रह्मणि पर्यवसन्ना विजयते । अस्याः स्वल्पप्रन्थतो विवरणमारभ्यते । यथोक्ताधिकारिण उपलभ्य श्रुतिः कुटीचकादिधर्मपूगान् प्रकटयति । आदौ कुटीचकादिधर्मानाह—अथेति ॥ १, २ ॥

#### वहृद्काः

अथ बहूदका नाम त्रिदण्डकमण्डलुशिखायज्ञोपवीतकाषाय-वस्त्रधारिणो ब्रह्मर्षिगृहे मधुमांसं वर्जयित्वाष्ट्री प्रासान्भैक्षाचरणं कृत्वा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ३ ॥

बहूदकधर्मानाह— अथ बहूदका नामेति ॥ ३ ॥

#### हंसा:

अथ हंसा नाम ग्रामैकरात्रं नगरे पश्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रं तदुपरि न वसेयुः । गोमूत्रगोमयाहारिणो नित्यं चान्द्रायण-परायणा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ४ ॥

'हसधर्मानाह—अथ हंसा नामेति ॥ ४॥

#### परमहंसा:

अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्चेतकेतुजडभरतदत्तात्रेय-शुकवामदेवहारीतकप्रभृतयोऽष्टौ प्रासांध्यरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते । वृक्षमूले शून्यगृहे रमशानवासिनो वा । साम्बरा वा दिगम्बरा वा । न तेषां धर्माधर्मी न हि तेषां लामालामकलनास्ति । शुद्धाशुद्धद्वैतवर्जिताः समलोष्टारमकाञ्चनाः सर्ववणेषु मैक्षाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मेव परयन्ति । अथ जातरूपधरा निर्द्धन्द्वा निष्परि-प्रहाः शुक्रध्यानपरायणा आत्ममात्रनिष्ठाः प्राणसंघारणार्थं यथोक्त-काले मैक्षमाचरन्तः शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलाल-शालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकन्दरकुहरकोटरनिर्झरस्थिण्डले तत्र ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः परमहंसाचरणेन संन्यासेन देहत्यागं कुर्वन्ति । ते परमहंसा नामेत्युपनिषत् ॥ ५ ॥

प्रमहंसधर्मान् प्रकाशयति -- अथ परमहंसा नामेति । तेषां वसति चर्यामाह—वृक्षमूळ इति । न तेषां धर्माधर्मौ भवतः प्रवृत्तिनिवृत्तिपराङ्मु-खत्वात सर्वत्र हर्षविषादाभावात् **न हि तेषां लाभालाभकलनास्ति।** विशिष्टांद्वेतं शुद्धदेतं केवल्द्वेतं अशुद्धदेतं च येषां नाभिमतं ते शुद्धाशुद्धदेतवर्जिताः निष्प्रतियोगिकाद्वैतिनः इत्यर्थः । अत एव समलेष्टारमकाञ्चनाः सर्वत्र साम्यभावमापन्नब्रह्मदृष्टित्वात् ब्राह्मणजातिप्रविभक्तसर्ववर्णेषु चातुर्वर्ण्यधर्माश्रयणतो ब्राह्मणाब्राह्मणादिषु यथोक्तकाले भैक्षाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैव पश्यन्ति । स्वात्मनो व्यष्टिसमष्टिप्रपश्चाधिकरणत्वेन प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपत्वात् । अथ जातरूप-धराः निर्द्धन्द्वा निष्परिष्रहाः ग्रुक्कथ्यानपरायणाः ग्रुक्कतेजोनिष्ठं (श्रुक्कतेजोरूपं) ब्रह्म इति श्रुत्यनुरोधेन ब्रह्ममात्रभावापन्ना इत्यर्थः । अत एवेते अनात्मापह्नव-सिद्धान्ममात्रनिष्ठाः इत्यर्थः । यदि बहिश्चित्तस्तदा प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले भैक्षमाचरन्तः । हंसशब्देन प्रत्यगभिन्नपरमात्मोच्यते पराक्सापेक्षप्रत्यग-भेदगतसविशेषापायसिद्धः परमः स चासौ हंसश्चेति परमहंसः निष्प्रतियोगिक-परमात्मा तदाचरणं तन्मात्रेणावस्थानं तेन परमहंसाचरणेन स्वातिरिक्तकळना-संन्यासेन कर्मसंन्यासेन वा देहत्यागं देहोपलक्षितस्वाविद्यापदतत्कार्यजातमस्ति नास्तीति विभ्रमाभिमतित्यागं वा ये कुर्वनित ते परमहंसा नाम ब्रह्मैव भवन्ति इत्यर्थ: । इत्युपनिषच्छन्दो भिक्षुकोपनिषत्परिसमाप्त्यर्थ: ॥ ९ ॥

> श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्रह्मयोगिना । भिक्षुकोपनिषद्याख्या लिखिता ब्रह्मगामिनी । भिक्षुकोपनिषद्याख्याप्रन्थस्तु त्रिंशदीरित: ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे षष्टिसंख्यापूरकं मिश्चकोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

# मैत्रेय्युपनिषत्

### आप्यायन्तु—इति शान्तिः

#### संसारविरक्तस्य आत्मजिज्ञासा

बृहद्रशो वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेद-मशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम । स तत्र परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठति अन्ते सहस्रस्य मुनेरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्देहिन्निवात्मविद्भगवा-ज्ञ्छाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमञ्जवीत् । स तस्मै नमस्कृत्योवाच । भगवन्नाहमात्मवित् त्वं तत्त्ववित् शृणुमो वयम् । स त्वं नो ब्रूहीति । एतद्रृत्तं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमेक्ष्वाकान्या-नकामान्वृणीष्वेति । शाकायन्यस्य चरणाविभम्श्रमानो राजेमां गाथां जगाद ॥ १ ॥

#### संसारनिर्वेदगाथा

अथ किमेतैर्वान्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं 8 25 सुराणाम् । सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्येरेवा-श्रितस्यासकृदुपावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीति अन्धूद्पानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥ २ ॥

भगवित्रदं रारीरं मैथुनादेवोद्भृतं संविध्यपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्कान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिसं चर्मणावबद्धं विष्मूत्रवातिपत्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मल्टैबेहुभिः परिपूर्णम् । एताहरो रारीरे वर्तमानस्य भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥ ३ ॥

> श्रुत्याचार्योपदेशेन मुनयो यत्पदं विदुः । तत्स्वानुभूतिसंसिद्धं खमात्रं ब्रह्म भावये ॥

इह खलु मैत्रेयीसंज्ञिकेयमुपनिषत् सामवेदप्रविभक्ता । अतोऽस्या उपोद्धातादि छान्दोग्यादिवत् ज्ञेयम् । तीव्रतरवैराग्यस्वानुभृतिपारमार्थिकज्ञान-प्रापिकेयं मैत्रेय्युपनिषत् । तस्याः स्वल्पप्रन्थतो विवरणमारभ्यते । बृहद्रथ-शाकायन्याद्याख्यायिका तु वक्ष्यमाणविद्यास्तुत्यर्था । केयमाख्यायिका इत्यत आह—बृहद्रथ इति । अस्मिन् शरीरे । "बृहद्रथो वै नाम राजा" इत्यादि "को न मुच्येत बन्धनात् " इत्यन्तं मैत्रायणीयोपनिषदि अन्यूनाधि[नानधि]-काक्षरतया तत्र तत्र वर्तते । तद्याख्यानेनेदमपि व्याख्यातप्रायमेव स्थादिति व्याख्या न क्रिम्ते । बृहद्रथो वे नाम राजा यथोक्तसाधनसंपन्नः सन् स्वीयराज्यादिकं परित्यज्य महारण्यप्रदेशमास्थाय आदित्यं पश्यन्न्ध्वेबाहुः चिरकाळं तपश्चचार । तत्तपसा तुष्टो भगवान् शाकायन्यमुनिमनुप्रविश्य तदिष्टसिद्धये चोदितवान् । अथ स मुनिस्तिन्नकंटं जगाम । स राजा तद्दर्शनमात्रेण सहसा उत्थाय दण्डवत् प्रणनाम । तं प्रणतमुन्तिष्टोत्तिष्ट स्वेप्सितवरं वृणीष्वेति मुनिरव्रवीत् । ततो राजा ब्रह्मविद्यां याचितवान् । तद्योग्यतापरीक्षणार्थं यत् त्वया पृष्टं मास्तु तत् तस्यानिर्वचन-ब्रह्मगोचरत्या वक्तुमशक्यत्वात् अन्यान् कामान् वृणीष्व इति मुनिना प्रछोभ्यमानोऽपि परमार्थतो न विचचाळ ॥ १–३॥

#### व्रह्मणः याथात्म्यप्रकटनम्

अथ भगवाञ्छाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानम् । महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मज्ञः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतो-ऽसीत्ययं खल्वात्मा ते । कतमो भगवन्वण्यं इति । तं होवाच ॥ ४ ॥

> शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः। येषां सक्तस्तु भूतात्मा न सारेच परं पदम् ॥ ५ ॥ तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वातसंवाप्यते मनः । मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥ ६ ॥ यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावपशाम्यति । तथा वृत्तिक्षयाचित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥ ७ ॥ स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः । इन्द्रियार्थविमूदस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥ ८॥ चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत । यचित्तस्तन्मयो भाति गृह्यमेतत्सनातनम् ॥ ९ ॥ चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाश्यभम् । प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमञ्जूते ॥ १० ॥ समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे । यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ११। हृतपुण्डरीकमध्ये तु भावयेतपरमेश्वरम् । साक्षिणं बुद्धिनृत्तस्य परमप्रेमगोचरम् ॥ १२ ॥

अगोचरं मनोवाचामवधूताधिसंष्ठवम् । सत्तामात्रप्रकाशैकप्रकाशं भावनातिगम् ॥ १३॥ अहेयमनुपादेयमसामान्यविशेषणम् । ध्रुवं स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् । निर्विकल्पं निराभासं निर्वाणमयसंविदम् ॥ १४ ॥ नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मः संविभुश्चाद्वितीयः । आनन्दाब्धियः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति ॥ आनन्दमन्तर्निजमाश्रयन्तमाशापिशाचीमवमानयन्तम् । आलोकयन्तं जगदिनद्रजालमापत्कथं मां प्रविशेदसङ्गम् ॥ १६ ॥ वर्णाश्रमाचारयुता विमुदाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते । वर्णीदिधर्मे हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति ॥१७॥ वर्णाश्रमं सावयवस्वरूपमाद्यन्तयुक्तं ह्यतिकृच्छ्मात्रम् । पुत्रांदिदेहेष्वभिमानशून्यं भूत्वा वसेत्सौख्यतमे ह्यनन्ते ॥ १८॥

एवं स्वातिरिक्तिविषयपराङमुखं ब्रह्मविद्यापात्रं मत्वा आदौ ब्रह्मविद्या-साधनत्वेन वाह्यान्तःकरणिनप्रहपूर्वकं श्रवणादिरूपं तप एव मुख्यसाधनं इत्युपदिश्यते । अतो ब्रह्मयाथात्म्यं प्रकटियतुं भूमिकां रचयति—हृदिति । मुमुश्चः संश्चयादिपञ्चदोषशान्त्यन्तं सर्ववेदान्तश्रवणं मननं च कृत्वाथ स्वहृदय-पुण्डरीकमध्ये तु, तुशब्दो ब्रह्माभिव्यिक्तस्थानत्वद्योतकः । तत्रैव परमो निरितिशयश्चासौ स्वमात्रतया अवस्थातुमीश्वरः समर्थश्चेति परमेश्वरः तं परमात्मानम् । "साक्षिणम् " इत्यादि " निर्वाणमयसंविदम् " इत्यन्तविशेषणजातिनधीरितस्वरूपं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति भावयेत् ध्यायेदित्यर्थः । तिद्वशेषणान्याह—साक्षिण-मित्यादि । स्वाञ्चविकल्पितसाक्ष्यरूपबुद्धिनृत्तस्य सत्तेव स्वज्ञदृष्ट्या तद्भावा-

भावप्रकाशकतया साक्षिणं परमप्रेमगोचरं स्वस्येव सर्वस्मात् पुत्रवित्तादेरपि परमप्रेमास्पदत्वात् ॥ '' सर्वस्मात् प्रियतमः '' इत्यादिश्चतेः परमप्रेमगोचरतया वागादिगोचरता स्यादियत आह—अगोचरं मनोवाचामिति । वागादिकरणप्राम-प्रसक्तानवगोचरत्वं न स्वतः निष्प्रतियोगिकस्वमात्रत्वात् यदि ब्रह्म निष्प्रति-योगिकं तदा स्वाज्ञानां भवसागरतरणं तद्भावापत्तिर्वा कुतः इत्यत आह— अवधूताधिसंप्रविमिति । अवधूतश्रुतिस्मृतिमर्यादानां स्वाज्ञानामाधिव्याध्यादिजल-चरजन्तुजुष्टभवसागरप्रवं यद्वा अवधूतस्वाज्ञानानां ब्रह्मविदां भवसागरतरणोपाय-भूतसंप्रवस्थानीयापरब्रह्मरूपमतीत्य वर्तत इत्यवधूताधिसंप्रवः तं निर्विशेषपरमात्मान-मित्यर्थः । तत्र हेतुः सत्तामात्रप्रकाशकैकस्वभावमिति स्वातिरिक्तासत्ताप्रास-सत्तामात्रतया प्रकाशतीति सत्तामात्रप्रकाश एव एकं मुख्यं स्वभावो यस्य तथोक्तम् । एवं भावनास्पदत्वात् साकल्यापत्तिस्तत्राह—भावनातिगमिति । एवं भावनाहेतु-तूलाविद्यासंभवात् स्वाविद्याविद्यात्मकतूलाविद्यापाये यदविशाष्यते तद्रपं कि हेयं यद्वा उपादेयं अथवा सामान्यं आहोस्वित् विशेषमिति ॥ तत्र नावः - स्वाविद्या-पदतत्कार्यस्थूलांशस्य हेयत्वेन तत्कलनापह्नवसिद्धस्य अहेयत्वादहेयः। तं न द्वितीयः तत्सूक्ष्मांशस्य दश्यत्वेनापादातुं शक्यत्वात् तदपह्ववसिद्धोऽनुपादेयः। तं न तृतीयः तद्वीजांशस्याव्यक्तप्रकृतिरूपत्वेन सामान्यरूपत्वात् तदपह्ववसिद्धोऽ-सामान्यः । तं नापि चतुर्थः तत्तुरीयांशस्य साम्यविद्यारूपत्वेन विशेषरूपत्वात् तदपह्नवसिद्धोऽविशेषः । तं एवं स्वाज्ञध्रवानुभूतिसिद्धस्वाविद्यापदापह्नवतः अध्र-वोऽयमात्मा भवितुमर्हति इत्यत आह—ध्रुवमिति । स्वाविद्यापदस्य स्वज्ञानुभूत्या अध्रुवत्वं तदपह्नवसिद्रस्य ध्रुवत्वं निरङ्कुदामित्यर्थः । अत एव स्तिमितगंभीरं निस्तरङ्गचिदर्णवरूपत्वात् चिदर्णवत्वे तरिक तेजः उत तमः यद्वा ततं नाद्यः भौतिकतेजसोऽपह्नवान तेजः न द्वितीयः स्वाज्ञानतमसो प्रासत्वान तमः न तृतीयः व्याप्यसामान्याभावान्नापि ततं उक्तविकलपतदाभासयोरपह्नवात् निर्विकलपं निराभासं यद्येवं तद्याथातम्यं किं इत्यत आह—निर्वाणमयसंविद्मिति। निर्वाणमयं विकलेबरकैवल्यस्वरूपं न हात्र मयट्शब्दो विकारप्राचुर्यार्थाभिधायी स्वरूपपरत्वात् संवित्स्वरूपज्ञानं पूर्णबोधस्वरूपं " सत्यं ज्ञानमनन्तं ", " विज्ञान-

मानन्दं ब्रह्म '', '' कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽविशष्यते '' इत्यादिश्वतेः ॥ एवं राजा शाकायन्यमुखत: ब्रह्ममात्रावगतिमवगम्य चिरं समाधिनिष्ठो भूत्वा ब्रह्मविद्या-संप्रदायाविच्छेदाय स्वानुभवं प्रकटयामासेत्याह—नित्य इति । नित्यः काल-त्रयाबाध्यत्वात् शुद्धः अशुद्रस्वाज्ञानापायात् बुद्धः पूर्णबोधस्वरूपत्वात् मुक्तस्वभावः स्वातिरिक्तास्तिताभ्रमतः इत्यर्थः। सत्यः पारमार्थिकसद्रूपत्वात् सूक्ष्मः निर्विशेषतया केशकोटयेकांशवत् सुसूक्ष्मरूपत्वात् संविभुश्च परिच्छेद-त्रयाभावात् अद्वितीयः स्वप्रतियोगिद्वैतस्य मृग्यत्वात् चराब्दो निष्प्रतियोगिकत्व-ख्यापनार्थः निस्तरङ्गानन्दाब्धिः पूर्णानन्दसमुद्रत्वात् यः सर्वस्मात् परः परमात्मा सोऽहमस्मि स एव भवामि पराक्प्रपञ्चे सति कथं परमात्मा भवसीत्यत आह—प्रत्यग्धातुरिति । पराक्प्रपञ्चप्रातिलोम्येनाञ्चनात् प्रत्यक्चासौ धातुश्चेति प्रसगभिन्नपरमात्माऽस्मीत्यत्रास्मिन्नर्थे न हि संशीतिः संशयोऽस्ति वस्तुतः प्रत्यकपर इति विभागेक्यासहनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रत्वात् स्वातिरिक्तप्रपञ्चापदः सत्वात् कथमेवं भवसीत्यत आह—आनन्दमिति। स्वान्तर्हृदये निजं पारमार्थिक-सद्रुपमानन्दुं सचिदानन्दं ब्रह्म स्वमात्रमित्याश्रयन्तमनवरतं भावयन्तं स्वाति-रिक्ताशासत्वात् कथं तदाश्रयणं इत्यत आह—आशेति । स्वातिरिक्तमस्तीत्याशैव पिशाची तां ब्रह्मातिरिक्तं नेत्यवमानयन्तं अपहृवं कुर्वन्तं स्वातिरिक्तजगतप्र-तीतौ कथमेवं इत्यत आह—आलोकयन्तमिति । किं तत् पदे पदे जन्मस्थिति-भङ्कं गच्छतीति जगत् इन्द्रजालं मायामात्रं इत्यालोकयन्तं तत्राप्यसङ्कं मामेतादृशं कथं स्वातिरिक्तास्तितारूपेयमापत् स्वाज्ञदृष्टिप्रमाणसिद्धापि वस्तुमात्र-दृष्टिं प्रविशेदित्यर्थः । वर्णाश्रमाचारव्यवस्थायां सत्यां कथमेवं सिध्यतीत्याशंक्य स्वातिरेकेण वर्णाश्रमाद्यस्तीति ये मन्यन्ते त एव बध्यन्ते तद्विपरीताः तद्भमतो मुच्यन्त इत्याह—वर्णेति । ब्रह्मक्षत्रादिः वर्णः ब्रह्मचर्यादिराश्रमः तत्रात्मा-त्मीयाभिमानयुता ये ते मूढाः स्वातिरिक्तास्तितामूळस्वाज्ञानारूढदृष्टित्वात् स्वस्वभावाश्चितकर्मानुसारेण फल्गुत्वेन भोगतो यद्विलीयते तत् स्वर्गनरकादिकं फलं क्षणमङ्गुरं लभन्ते घटीयन्त्रवदविश्रान्तं जन्ममरणे अनुभवन्ति हि ये तद्विपरीताः वर्णाश्रमादावात्मात्मीयमति त्यजन्तः सन्तः तत्त्यागाधिकरण-

स्वानन्दात्मभावेन तृप्ता भूत्वा स्वेन रूपेण सर्वत्र पूरणात् पुरुषाः ब्रह्मेव भवन्तीत्यर्थः । उक्तार्थमेव पुनर्विशदयन्नुपसंहरित—वर्णाश्रममिति । वर्णा-श्रमविशिष्टं शरीरं करचरणादिसावयवस्वरूपं आदिः उत्पत्तिः अन्तो नाशः ताभ्यां युक्तं हि यस्मात् अतिकृच्छ्रमात्रं कष्टमात्रपर्यवसन्नं तत्र स्वदेहे पुत्रादिदेहेष्विप आत्मात्मीयाभिमानशून्यं मनः कृत्वा स्वयं विद्वान् सर्वापह्वसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रं भूत्वा अखण्डानन्दतः सौख्यतमे परिच्छेदत्रयाभावादनन्ते स्वे महिम्नि वसेत् । इतिशब्दस्तु प्रथमाध्याय-परिसमाह्यर्थः ॥ ४-१८॥

इति प्रथमोऽध्यायः

### मैत्रेयं प्रति महादेवस्य उपदेश:

अथ भगवान्मैत्रेयः कैलासं जगाम । तं गत्वोवाच । भो
भगवन्परमतत्त्वरहस्यमनुबृहीति । स होवाच महादेवः ॥ १ ॥
देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञानिर्मालयं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥ २ ॥
अभेददर्शनं ज्ञानं घ्यानं निर्विषयं मनः ।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिप्रहः ॥ ३ ॥
ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ।
इत्येवमाचरेद्धीमान्स एव मुक्तिमाम्र्यात् ॥ ४ ॥

मैत्रेयः पराशरमुखाद्विदिततत्त्वोऽपि सर्वछोकप्रत्ययजननार्थं कैळासं गत्वा यथाविधि तन्मुखात् परमतत्त्वरहस्यबुभुत्सया विधिवत् पप्रच्छेत्याह—अथेति । मुनिना पृष्टः स होवाच महादेवः। किमुवाच इत्यत्र देहजीवयोः शिवाछय-शिवदृष्ट्या स्वाज्ञाननिर्माल्यविसर्जनपूर्वकं यः सोऽहंभावेन पूजयेत् स मुक्तो भवतीत्याह—देह इति । स्पष्टोऽर्थः ॥ १–४ ॥

## शौचविधानम्

जातं मृतिमदं देहं मातापितृमलात्मकम् ।

सुखदुःखालयामेध्यं स्पृष्टा स्नानं विधीयते ॥ ९ ॥
धातुबद्धं महारोगं पापमन्दिरमध्रुवम् ।
विकाराकारिवस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ६ ॥
नवद्वारमललावं सदा काले स्वभावजम् ।
दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ७ ॥
मात्रा सूतकसंबद्धं सूतके सह जायते ।
मृतस्तकजं देहं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ८ ॥
अहंममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिलोचनम् ।
शुद्धशौचिमिति प्रोक्तं मृज्जलाम्यां तु लौकिकम् ॥ ९ ॥

देहे देवोपभोगदेवाल्यादिदृष्टिं विना आत्मात्मीयाभिमानतो देहस्या-स्पृश्यत्वेनाग्रुचित्वं तद्वसङ्गानादिग्रुद्धोदक्षालनाच्छुचित्वं स्यादित्याह—जातिमिति। अत्र यदि कदाचित् आत्मात्मीयाभिमानेन देहं स्पृशित तत्र आत्मात्मीयाभिम-तित्याग एव स्नानं विधिचोदितं इत्यर्थः । "स्नानं मनोमल्र्यागः" इत्युक्तत्वात् । किं च—धातुबद्धमिति । वातिपत्तादिधातुबद्धं नानारोगायतनत्वात् । किं च—

नवद्वारेति । सूतकेन सह जायत इत्यर्थः । ''जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः '' इति स्मृतितः । तच्छौचप्रकारमाह—अहमिति ॥ ९–९ ॥

## चित्तशुद्धिः

चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशकम् । ज्ञानवैराग्यमृत्तोयैः क्षालनात् शौचमुच्यते ॥ १० ॥ अद्वैतभावना मैक्षमभक्ष्यं द्वैतभावनम् । गुरुशास्त्रोक्तभावेन मिक्षोभैंक्षं विधीयते ॥ ११ ॥ विद्वानस्वदेशमुत्सुज्य संन्यासानन्तरं स्वतः । कारागारविनिर्मुक्तचोरवद्द्रतो वसेत् ॥ १२ ॥

एवं शौचतः किं स्यात् इत्याशङ्क्य वासनात्रयक्षयपुरस्सरं चित्तशुद्धिः स्यात् इत्याह—चित्तेति ॥ " ब्रह्मामृतं पिबेद्धेक्षं" इति यदुक्तं तदनेन मन्त्रेण विशदयति—अद्वैतेति ॥ इत्यंभूतो भिक्षुः कासनमईतीत्याशंक्य ज्ञातचरदेशात् बहिरेव चरेदित्याह—विद्यानिति ॥ १०-१२ ॥

## अहंकारादिखाग:

अहंकारसुतं वित्तश्रातरं मोहमन्दिरम् । आशापत्नीं त्यजेद्यावत्तावनमुक्तो न संशयः ॥ १३ ॥

बाह्यदारपुत्रादित्यागमात्रेण मुक्तिर्नाहंकारादित्यागेनेत्याशङ्कय बाह्यदारा-दित्यागपूर्वकं अहंकारादित्यागेनेव मुक्तिः स्यात् इत्याह—अहंकारेति । बाह्यान्तः-संन्यासाभ्यामेव मुक्तिः स्यात् नान्यतरत्यागतः इत्यर्थः ।

> " विष्णुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च । त्योरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः ॥"

इति श्रुतेः ॥ १३ ॥

### कर्मत्यागः

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः ।
सूतकद्वयसंप्राप्तौ कथं संध्यामुपासमहे ॥ १४ ॥
हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति ।
नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपासमहे ॥ १५ ॥
एकमेवाद्वितीयं यद्वरोर्वाक्येन निश्चितम् ।
एतदेकान्तमित्युक्तं न मठं न वनान्तरम् ॥ १६ ॥

सन्ध्यादिकर्मत्यागतः प्रत्यवायी स्यात् इत्याशङ्कय स्वाज्ञानहानात् स्वज्ञानोदयतः चिदादित्यस्य उदयास्तमनाभावाच सन्ध्यादिकर्मकरणानुपपत्ति-माह्— मृतेति द्वाभ्याम् । रवेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्तत्र्यम् । "एवंविदश्चिदा-दित्यस्य उदयास्तमयाभावात् सर्वकर्माभावः" इति श्रुतेः "वसेदेकान्तिको भूत्वा" इति यदुक्तं तदेकान्तस्वरूपं विशदयित— एकमेवेति ॥ १४–१६॥

### मुख्यसंन्यास:

असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम् । न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तसाद्विश्वासमाप्नुयात् ॥ १७ ॥ कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रैषोचारणेन तु । संघो जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥ १८ ॥

''देहो देवालयः'' इत्यादि मया यदुक्तं तत्रासंशयवतां मुक्तिः न हि संशयवतां इत्याह—असंशयेति ।

''नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।''

इति स्मृतेः । प्रैषतः कर्मत्याग एव मुख्यसंन्यासः इत्याशङ्कय जीवपरभेदत्याग एव मुख्यसंन्यास इत्याह—कर्मेति ॥ १७, १८॥

#### संन्यासाधिकारी

वमनाहारवद्यस्य भवति सर्वेषणादिषु ।
तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहाभिमानिनः ॥ १९ ॥
यदा मनिस वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु ।
तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥ २० ॥
द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा ।
संन्यसेदुभयश्रष्टः स सुक्तिं नाष्तुमहिति ॥ २१ ॥

संन्यासाधिकारी कीदृशः इत्याशङ्कय यस्य वान्ताशनम्त्रपुरीषादिवत् बाह्यार्थेषु हेयतोदेति स एव संन्यासाधिकारीत्याह—वमनेति ॥ संन्यासमूळं कि इत्याशङ्कय स्वातिरिक्तविषयतीव्रतरवैराग्यमेवेत्याह—यदेति ॥ निमित्तान्त-रेणापि संन्यासकरणं श्रेयः इत्यत आह—द्रञ्यार्थमिति ॥ १९–२१ ॥

मुक्तिं प्रति साधनान्तराणि

उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम् । अधमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा ॥ २२ ॥

तीर्थमन्त्रशास्त्रतत्त्वचिन्तनं मुक्ति प्रति समानसाधनं इत्यत आह— उत्तमेति । पग्स्परोपायोपेयतया मुक्तिसाधनं एतचतुष्टयं न समानमित्यर्थः । तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा इत्यत्र विसर्गछोपश्छान्दसः ॥ २२ ॥

अनुभव:

अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते । प्रतिबिम्बितशाखाप्रफलास्वादनमोदवत् ॥ २३ ॥

# न त्यजेचे चितर्मुक्तो यो माधूकरमान्तरम् । वैराग्यजनकं श्रद्धाकलत्रं ज्ञाननन्दनम् ॥ २४ ॥

केवलशास्त्रज्ञानादेव ब्रह्मावाप्तिः किमनुभवेन इत्यत आह—अनुभूति-मिति । अस्ति ब्रह्मेति शास्त्रीयज्ञानं परोक्षं, अहं ब्रह्मेत्यपरोक्षज्ञानमनुभवात्मकं ब्रह्ममात्रज्ञानस्य स्वानुभूतिप्रमाणसिद्धत्वात् । इत्थंभूतानुभूतिं विना ब्रह्मानुमोदनं जलप्रतिविभिवतफलास्वादनवत् न हि कार्यकारी भवतीत्यर्थः । श्रद्धाभिक्ति-ज्ञानवराग्यपुरस्सरं अद्वैतभावनाख्यान्तरमाधूकरभजनं यः करोति स यतिर्मुक्तो भवतीत्याह—न त्यजेदिति ॥ २३, २४ ॥

## परमरहस्योपदेश:

वनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च ।
ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किंकराः शिष्यिकिंकराः ॥ २९ ॥
मन्मायया मोहितचेतसो मामात्मानमापूर्णमल्ब्धवन्तः ।
परं विद्ग्धोद्रपूरणाय भ्रमन्ति काका इव सूर्योऽपि ॥ २६ ॥
पाषाणलोहमणिमृन्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः ।
तसाद्यतिः स्वहृद्यार्चनमेव कुर्योद्धाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ॥
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ।
अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥ २८ ॥
मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामित्वलां त्यक्त्वा यिक्छष्टं तन्मयो भव ॥ २९ ॥
दृष्ट्रर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज ॥ ३० ॥

धनादिवृद्धेभ्यो ज्ञानवृद्धं महीकरोति—धनेति । स्वज्ञानिनं ''ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् '' इति स्वोक्त्यन्रोधेन महीकृत्य तिद्वपरीतस्वाज्ञजन्म धिग् धिगिति निन्दित मिदिति मन्माययेति । सूरयोऽपि ये मां न जानिन्त तेषां जन्म अजागळस्तनवद्ध्यर्थमित्यर्थः । ''सोऽहंमावेन पूजयेत् '' इति यदुक्तं तत्र स्वभेदिधया कृतवाद्यपूजापुनर्भवकरीति निन्दनपूर्वकमभेदपूजनं स्वपदप्रापक्षमिति स्तौति—पाषाणेति । परमतत्त्वरहस्यमनुबूहीति यत् पृष्टं तत्र स्वस्य स्वातिरिक्तस्य च निष्प्रतियोगिकपूर्णत्वं शून्यत्वं च सद्यान्तं प्रतिपादयिति—अन्तरिति । अर्णवाम्बरमध्यपतितपूर्णशृन्यकुम्भ इव स्वयमन्तर्बिह्यन्तराळेति पूर्णः अन्तर्बोद्यान्तराळकळनाभावात् तथा स्वातिरिक्तमन्तर्बोद्यान्तराळकळनाशून्यं स्वातिरिक्तयोनिष्प्रतियोगिकभावाभावक्रपत्वात् प्राद्यप्राहकतया सविषयकरणप्रामद्रधूदिनिष्पुटिसत्वात् कथं स्वातिरिक्तयोभावाभावक्रपतेत्याशङ्कय परमार्थतो ब्रह्मातिरिक्तं नास्त्येव यदि स्वाज्ञद्यया तत्प्रसिक्तस्तदा प्राद्यप्राहकादिकळनाविशिष्टद्रधूदिनानात्रिपुटयपह्ववसिद्धं ब्रह्म स्वमात्रमिति भजेत्याह—मा भवेति ॥ २५–३०॥

## विदेहमुक्तस्य स्थितिः

संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावद्वस्थितिः । नाम्रतिद्वाविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥ ३१ ॥

प्राह्मं विषयजातं प्राह्मं करणजातं त्रिपुटयादिसर्वव्यापृतप्रथमाभासं प्रस्यञ्चं पराग्भावापह्नवसिद्धपरमात्मानं केवलं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति हे मेत्रेय तन्मात्रं भव तदेव भवेत्यर्थः । तन्मात्रावस्थिते विदेहमुक्तस्य स्थितिः कीदृशी इत्यत आह—संशान्तेति । यस्यां स्वातिरिक्तनानाविषयगोच्चरसर्वसंकल्पः शान्त अपह्नवं गतः सेयं संशान्तसर्वसंकल्पा या पीवरी शिलावत् स्थिर् अविश्वितः या जाप्रतिद्रोपलक्षितव्यष्टिसमष्टिजाप्रजाप्रदाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्ति चतुष्पञ्चदशकलनाविनिर्मुक्ता यत्प्रवोधसमकालमपह्नवतां गता सेव परा काष्ट्रा स्वक्ष्पितः विकल्पेवरमुक्तिः स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति सेयमेकरूपैवावन

शिष्यते । परमशिवोपदेशमहिम्ना मैत्रेयः कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । इतिशब्दः शिवोपदेशपरिसमास्यर्थो द्वितीयाध्यायपरिसमास्यर्थश्च ॥ ३१॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

## मैत्रेयस्य स्वानुभवप्रकटनम्

अहमस्मि परश्चास्मि ब्रह्मास्मि प्रभवोऽस्म्यहम् । सर्वलोकगुरुश्चास्मि सर्वलोकोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥ अहमेवास्मि सिद्धोऽस्मि शुद्धोऽस्मि परमोऽस्म्यहम् । अहमस्मि सदा सोऽस्मि नित्योऽस्मि विमलोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥ विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् । शुभोऽस्मि शोकहीनोऽस्मि चैतन्योऽस्मि समोऽस्म्यहम् ॥३॥ मानावमानहीनोऽस्मि निर्गुणोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् । द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि द्वन्द्वहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ४ ॥ भावाभावविहीनोऽस्मि भाषाहीनोऽस्मि भास्म्यहम् । शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ॥ ९ ॥ तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि नित्यः शुद्धः सदाशिवः । सर्वीसर्वविहीनोऽस्मि सात्त्विकोऽस्मि सदास्म्यहम् ॥ ६ ॥ एकसंख्याविहीनोऽस्मि द्विसंख्यावानहं न च। सदसद्भेदहीनोऽस्मि संकल्परहितोऽस्म्यहम् ॥ ७ ॥

नानात्मभेदहीनोऽस्मि ह्यखण्डानन्दविप्रहः। नाहमस्मि न चान्योऽस्मि देहादिरहितोऽस्म्यहम् ॥ ८॥ आश्रयाश्रयिहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम् । बन्धमोक्षविहीनोऽस्मि शुद्धं ब्रह्मास्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ९ ॥ चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि परमोऽस्मि परात्परः । सदा विचाररूपोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ १० ॥ अकारोकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः । ध्यातृध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ११॥ सर्वत्र पूर्णरूपोऽस्मि सिचदानन्दलक्षणः। सर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि परमात्मास्म्यहं शिवः ॥ १२ ॥ लक्ष्यालक्ष्यविहीनोऽस्मि लयहीनरसोऽस्म्यहम् । मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनः शिवोऽस्म्यहम् ॥ १३ ॥ न जगत्सर्वद्रष्टास्मि नेत्रादिरहितोऽस्म्यहम् । प्रवृद्धोऽस्मि प्रवृद्धोऽस्मि प्रसन्नोऽस्मि हरोऽस्म्यहम् ॥ १४ ॥ सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि सर्वकर्मकृद्प्यहम् । सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुलभोऽस्म्यहम् ॥ १५ ॥ मुदितामुदितारूयोऽस्मि सर्वमौनफलोऽस्म्यहम् । नित्यं चिन्मात्ररूपोऽस्मि सदा सचिन्मयोऽस्म्यहम् ॥ १६ ॥ यर्तिकचिद्पिहीनोऽस्मि खल्पमप्यपिनास्म्यहम् । हृदयग्रन्थिहीनोऽस्मि हृदयाम्बुजमध्यगः॥ १७॥

षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोशरहितोऽस्म्यहम् । अरिषडुर्गमुक्तोऽस्मि अन्तरादन्तरोऽस्म्यहम् ॥ १८ ॥ देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम् । नास्तिनास्तिविमुक्तोऽस्मि नकाररहितोऽस्म्यहम् ॥ १९ ॥ अखण्डाकाश्रह्मपोऽस्मि ह्यखण्डाकार्मस्म्यहम्। प्रपञ्चमुक्तवित्तोऽस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम् ॥ २०॥ सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम् । कालत्रयविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम् ॥ २१ ॥ कायकायिविमक्तोऽस्मि निर्मुणः केवलोऽस्म्यहम् । मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा ॥ २२ ॥ सत्यासत्यविहीनोऽस्मि सन्मात्रान्नास्म्यहं सदा गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः ॥ २३ ॥ सर्वदा समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः। एवं स्वानुभवो यस्य सोऽहमस्मि न संशयः ॥ २४ ॥ यः शृणोति सक्कद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ २५ ॥ इत्युपनिषत् ॥

अथ भगवान् मैत्रेयः परमिशवमुखतः परमतत्त्वरहस्यं निष्प्रतियोगिक-ब्रह्ममात्रज्ञानं यथावदवगम्य स्वातिरिक्तास्तिताश्रमिवरळब्रह्ममात्रभावारूढोऽपि ब्रह्मविद्याचार्यपरमिशवसंकलपवशात् बिहष्टः प्राणिपटळपुण्योद्देकाच्च यच्छूवणादि-मात्रेण स्वाज्ञळोकः स्वज्ञो भूत्वा परमार्थज्ञानसमकाळं विदेहमुक्तो भवेत् तथा तत्परमिशवोपदिष्टस्वानुभूतार्थे ब्रह्मविद्यासंप्रदायस्थापनार्थे वा यथोक्ताधिकारिण उद्दिश्य स्वानुभवं प्रकटमामासेत्याह—अहमस्मीति । देहान्तरवभासकः

प्रत्यगस्मच्छव्देनोच्यते स्वान्तरवस्थितपराक्षप्रपञ्चापेक्षया अहं प्रत्यगस्मि देहाद्रहिर्विलसितप्रपञ्चापेक्षया परश्चास्मि । चशब्दः प्रत्यक्परयोरौपाधिकभेद-निरसनार्थ: प्रत्यक्परभेदापेक्षया प्रत्यगमिन्नब्रह्मास्मि स्वाजदृष्ट्या जीवेशादिरूपेण प्रभवामीति प्रभवोऽसम्यहम् । कि च सर्वेति । ईश्वररूपेण सर्वलोकगुरुश्चास्मि । चशब्दः साक्ष्यण्यस्मीति द्योतकः। वैराजरूपेण सर्वछोकोऽस्मि विराजो ब्रह्माण्डकायत्वात् वस्तुतो यः सर्वकलनापह्नवसिद्धः सोऽस्म्यहं निष्प्रतियोगि-कत्वात् । किं च-अहमिति । स्वेन रूपेण सिद्धः अशुद्धः स्वाज्ञानहानाच्छुद्धः । शिष्टमुक्तार्थम् । कि च—अहमस्मीति । यः सदैकरसः सोऽस्मि अनित्यमल-प्रपञ्चहानान्नित्योऽस्मि विमलोऽस्मि । निस्यविज्ञतिरूपतो विज्ञानोऽस्मि । यस्माच्छेषशेषिभावो विगतः सोऽहं विशेषोऽस्मि । रुद्ररूपेण उमया सहितः सोमोऽस्मि चतुष्षष्टिकलावदीश्वराभेदेन सकलोऽस्म्यहं प्राणादिनामान्त्रषोड-शकलाविशिष्टसुत्रामेदेन वा सकलोऽस्मि । किं च-श्चभ इति । निवृत्तिमार्ग-गम्यत्वाच्छभः शोचनीयविषयाभावाच्छोकहीनः जडदेहादिविलक्षणत्वा-बैतन्योऽरिम नानोपाधिषु विषमेश्वपि सर्वान्तर्याम्यादिरूपेण समः मानाव-मानवृत्तिमत्त्लाविद्याप्रलयानमानावमानहीनोऽस्मि सत्त्वादिगुणाभावान्निर्गुणोऽस्मि स्वातिरिक्ताशिवाभावाच्छिबोऽस्मि । कि च—द्वैताद्वेतेति । प्रवृत्तिमार्गसिद्धं द्वैतं निवृत्तिमार्गसिद्ध**मद्वेतं** स्वातिरेकेण प्रवर्तनीयनिवर्तनीयस्वाविद्यापदतत्कार्यामावात । **ढेताढेतविहीनोऽस्मि** शीतोष्णादिद्वन्द्वाभावात् । द्वन्द्वहीनोऽस्मि बाह्यान्त:-करणगोचरसदसत्प्रपञ्चवैरल्यात् भावाभावविहीनोऽस्मि महामोनब्रह्मरूपत्वात् भाषाहीनोऽस्मि स्वयंप्रकाशरूपत्वात् भास्म्यहम् । कि च — शून्येति । शून्यं स्वातिरिक्तं अशून्यं स्वयं द्र्यमपि यत्प्रभावसिद्धं सोऽहं शून्याशून्य-प्रभावोऽस्मि विद्यातत्कार्य शोभनं अविद्यातत्कार्यमशोभनं स्वाजादिदृष्ट्या तदुभयमिम तुल्यं समं अतुल्यं विषमं तदुभयवैरल्यानुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि । नित्यः शुद्धो व्याख्यातम् । स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति सदैव शिवः परम-मङ्गलकैवल्यरूपत्वात् । कि च—सर्वासर्वविहीनोऽस्मि समष्टिव्यष्टिकलना-वैरल्यात् स्थितिकर्तृविष्णुरूपेण सात्विकोऽस्मि वस्तुतः सदा निर्गुणो-

**ऽस्म्यहं** एकसंख्याविहीनोऽस्मि द्विसंख्यावानहं न च सापेक्षेकद्वयाभावात ''एकाभावे द्वितीयं न न द्वितीयेन चैकता'' इति श्रुतेः । सद्सद्भेद्दहीनोऽस्मि चाक्षुषाचाक्षुषपदार्थाभावात् । संकल्परहितोऽस्म्यहं तद्भेतुमनसो मृग्यत्वात् । नानात्मभेदहीनोऽस्मि घटशरावादिस्थानीयनानोपाधीनां भेदभिन्नत्वेऽपि तद-विच्छिनाकाशस्थानीयप्रत्यगात्मनो निर्मेदरूपत्वात् । अहं हि अहमेव अखण्डा-नन्दविग्रहः निस्तरङ्गानन्दसागरत्वात् । स्वातिरिक्तं नाहमस्मि न च तस्मा-दन्योऽस्मि स्वातिरिक्तस्य शशविषाणवदवस्तुत्वात् । देहादिप्रसक्तौ देहादि-रहितोऽस्म्यहम् आश्रयमविद्याण्डं तद्गतभुवनजातमनाश्रयि तद्भयाभावात् । आश्रयाश्रयिहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम् स्वस्यैव सर्वाधारत्वात् : स्वाधेयाभावतो वा आधारत्वरहितः । बन्धमोक्षविहीनोऽस्मि देहादावहंभावो बन्धः ; तदहंभावाभावो मोक्षः, विदेहमुक्तत्वात् । तद्रहितः शुद्धं ब्रह्मास्मि सोऽस्म्यहम् । उक्तार्थम् । चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि चित्ताद्यन्तः करणतद्वृत्तिसहस्रा-भावात् परमोऽस्मि परात् परः परं अक्षरं तस्मादपि परः परमाक्षररूपत्वात् । सदा विचाररूपोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ज्ञानाज्ञानवृत्तिमद्विद्या-तुर्यादिभागचतुष्टयवैरल्यात् । अकारोकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः प्रणवार्थत्वेन चिरन्तनत्वात्। ध्यातृध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ध्यात्रादित्रिपुट्यभावात् प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मना सर्वत्र पूर्णक्रपोऽसिम । अनृतादिप्रपञ्चपूरणात् तथात्वशंकायां सिच्दानन्दरुक्षणः सत्यज्ञानानन्द-स्वरूपत्वात । सार्धत्रिकोटिसर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि तीर्थानामपि तीर्थरूपत्वात परमात्मास्म्यहं शिवः देहादेः परतरत्वात् "ब्रह्मैव परमात्मा" इति श्रुतेः। लक्ष्यालक्ष्यविहीनोऽस्मि लक्ष्यं मूर्तं लक्षणैकिसद्भं वा तिद्वपरीतं अलक्ष्यं अमूर्ते लक्षणासिद्धं वाच्यं वा तत्सर्वकलनाविहीन इत्यर्थः । लयहीनरसोऽस्म्यहं लयो नाज्ञाः तद्विहीननित्यानन्दरसोऽस्मीत्यर्थः । मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनः शिवोऽस्म्यहम् मात्रादित्रिपुटिश्र्न्योऽस्मि । न जगत्सर्वद्रष्टास्मि जगत्राहं किं तु तद्द्रष्टास्मि सर्वसाक्षित्वात् । नेत्रादिरहितोऽस्म्यहम् नेतृत्वं प्रेरयितृत्वं आदिशब्देन भासकत्वादिरुच्यते ; नेतृत्वभासकत्वादिकलनारहितोऽस्मि प्रेर्यभास्य-

जङ्गमस्थावराभावात् स्वेनैव रूपेण प्रवृद्धो विजृम्भितोऽस्मि "ब्रह्मैवेकमनाद्यन्तमिव्यवत् प्रविजृम्भते" इति श्रुतेः । स्वाविद्यास्वापात् प्रवुद्धो जागरूकोऽस्मि भगवद्द्रपेण भागवतपटळस्य प्रसन्नोऽस्मि स्वाविद्याद्वयत्कार्यं स्वावदेषेण हरोऽस्म्यहम् । सर्वेन्द्रियिवहीनोऽस्मि द्यारित्रयाभावात् सर्वकर्मकृद्ण्यहम् तत्त-दिन्द्रियेषु तत्तदिन्द्रियं भूत्वा तत्तदिन्द्रियप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् । यद्वा सर्वेन्द्रियाभावेऽपि सर्वेन्द्रियव्यापृतिकृत्वात् "अपाणिपादोऽहमचिन्त्यक्राक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकणः" इत्यादिश्रुतेः सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुलभोऽस्म्यहम् । ईशाद्यश्चेत्तरातगतसर्ववेदान्तवाक्यार्थज्ञानफलकैवल्यानन्देन तृत्तोऽस्मि अनन्यभावेन भजतां सर्वदा परमसुलभोऽस्मि सकृद्भजतां परमाभयप्रदश्चीरामरूपत्वात् ।

"सकुदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्वतं मम ॥"

इति श्रीरामोक्तः । मुदितामुदिताख्योऽस्मि सत्सु मुदिता असत्सु अमुदितापेक्षादिवृत्तिविशिष्टजीवन्सुक्तरूपत्वात् । स्वमौनफळोऽस्म्यहं तत्तत्वरणव्यापृत्युपरमळक्षणं सर्वमौनं ब्रह्ममात्रज्ञानं तत्कळं विकळेबरकेवल्यमस्मीत्यर्थः ।
नित्यं चिन्मात्रक्रपोऽस्मि अनित्याचिन्मात्रस्य मृग्यत्वात् । सदा सचिन्मयोऽस्म्यहम् सचिदानन्दस्वरूपत्वात् । यतिकचिदपि हीनोऽस्मि स्वलपमप्यपि
नास्म्यहं स्वातिरेकेण यतिकचित् स्वलपमपि स्वातिरिक्तस्य मृग्यत्वात् ।
हृदयग्रन्थिहीनोऽस्मि हृदित्यन्तःकरणं अयमिति साक्षी तयोस्तादात्म्यं
हृदयग्रन्थिरिति चिदाभास उच्यते जीवत्वस्य मृग्यत्वात् । हृदयाम्बुज्ञमध्यगः
अन्तर्याम्यादिक्तपत्वात् षिद्वकारिवहीनोऽस्मि षट्कोशरिहतोऽस्म्यहं अरिषद्धर्गमुक्तोऽस्मि शैशवबाल्यकौमारादिषड्विकारत्वगादिषट्कोशकामाद्यरिषड्वर्गादिविकारास्पदस्यूळादिशरीराभावात् । अन्तरात् सर्वान्तरात् ईश्वरात्
अन्तरः साक्ष्यहं देशकाळविमुक्तोऽस्मि देशादिपरिच्छेदत्रयशून्यत्वात् ।
दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम् मुख्यावधूतानुभूतपरमानन्दक्रपत्वात् । नास्ति नास्ति
विमुक्तोऽस्मि बाखण्डाकारमस्म्यहम् निष्प्रतियोगिकसन्मात्रत्वात् । अखण्डाकाशक्रपोऽस्मि ह्यखण्डाकारमस्म्यहम् चिदाकाशत्वेनाखण्डेकरसरूपत्वात् । प्रपञ्च-

प्रकित्वेतोऽस्मि प्रपश्चरितोऽस्म्यहम् निष्प्रतियोगिकनिष्प्रपञ्चरूपत्वात् । सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम् प्रकाशमात्रतया चिन्मात्रज्योतीरूपत्वात् । काळत्रयकळनाविगुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम् अमनस्करूपत्वात् । कायकायिविगुक्तोऽस्मि कायतदविच्छलजीवाभावात् । निर्गुणः व्याख्यातं केवळोऽस्म्यहम् अशेषविशेषश्रून्यत्वात् । मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्मि युक्तोऽस्मि परमार्थिकवन्याभावात् मुक्तिहीनः स्वाज्ञदृष्ट्या वन्धप्रसक्तौ स्वज्ञदृष्ट्या मुक्तोऽस्मि परमार्थिकवन्याभावात् मुक्तिहीनः स्वाज्ञदृष्ट्या वन्धप्रसक्तौ स्वज्ञदृष्ट्या मुक्तोऽस्मि परमार्थिकसत्यात् । सन्मात्रात् अन्यत् नास्म्यहं सदा सन्मात्रमेव स्यां इत्यर्थः । गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः पूर्णरूपत्वात् । सर्वदा सचिदानन्दात्मना नामरूपवैषम्येऽपि समरूपोऽस्मि वस्तुतः स्वातिरिक्तशान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः क्षराक्षरकलनाविरळपरमाक्षरत्वात् एवं ममेवेशभावापत्या यस्य स्वानुभवो भवति सोऽहमस्मि इत्यत्र न हि संशयोऽस्ति । एवं परमिशवभावमापन्नमैत्रेयमुनेः स्वानुभूतिवेभवं सन्धद्वापि यः श्रुणोति सोऽयं स्वयमेव ब्रह्म भवति । इत्युपनिषच्छळ्यः मैत्रेय्युपनिषदसमाह्यर्थः ॥ १–२५ ॥

इति तृतीयोऽध्यायः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्गसयोगिना । मैत्रेय्युपनिषद्टीका लिखितेशप्रसादतः । मैत्रेय्युपनिषद्टीका षष्ट्यधिद्विशतात्मिका ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे एकोनिर्विशत्संख्यापूरकं मैत्रेय्युपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

ands since the arrow

# याज्ञवल्क्योपनिषत्

## पूर्णमद: - इति शान्तिः

सर्वकर्मसंन्यासज्ञानजिज्ञासा

अथ जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच । भगवन् संन्यासमनुब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृहात् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्या-देव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वा उत्सव्नाभिरनभिको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रवृजेत् ॥ १ ॥

## आहितामिसंन्यासविधिः

तदेके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । अथवा न कुर्यात् । आग्नेयामेव कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः । प्राणमेवेतया करोति । त्रैधातवीयामेव कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति । अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रियम् ॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिन्नेत् । एष ह वा अभ्नेर्योनिर्यः प्राणं
गच्छ खां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ॥ २ ॥

#### निरमिकसंन्यासविधिः

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदिश्वमाघ्रापयेत् । यदिशं न विन्देद्प्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः । सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राक्षीयात्साज्यं हिवरनामयम् । मोक्षमन्त्रै-स्त्रय्येवं विन्देत् । तद्वद्ध तदुपासितव्यम् । शिखां यज्ञोपवीतं छित्त्वा संन्यस्तं मयेति त्रिवारमुचरेत् । एवमेवैतद्भगविति वै याज्ञवल्क्यः ॥ ३ ॥

### ब्राह्मणस्यैव संन्यासेऽधिकारः

अथ हैनमित्रः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । अयज्ञोपवीती कथं बाह्मण इति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । इदं प्रणवमेवास्य तद्यज्ञोप-वीतं य आत्मा प्रार्थाचम्य अयं विधिः ॥ ४ ॥

## संन्यासेऽनधिकृतानां कर्तव्यनिरूपणम्

अथ परित्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति । एष पन्थाः परित्राजकानाम् । वीराध्वाने वानाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा ।

एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनेति संन्यासी ब्रह्मविदिति । एवमेवैष भगवित्रिति वै याज्ञवलक्य ॥ ९ ॥

## पारमहंस्यपूगस्य सर्वोत्कृष्टता

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघदत्तात्रेय-शुकवामदेवहारीतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः ॥ ६ ॥

## साम्बरपरमहंसलक्षणम्

परस्त्रीपुरपराङ्मुखाः त्रिदण्डं कमण्डलुं मुक्तमात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं बहिरन्तश्चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्या-त्मानमन्विच्छेत् ॥ ७ ॥

### दिगम्बरपरमहंसलक्षणम्

यथाजातरूपधरा निर्द्धन्द्वा निष्परिग्रहाः तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः प्राणसंघारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो मैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समी भूत्वा करपात्रेण वा कमण्ड-लूदकपो मैक्षमाचरन्नुदरपात्रसंग्रहः पात्रान्तरशून्यो जलस्थलकमण्डलुः अवाधकरहस्यस्थलनिकेतनो लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागार-देवगृहतृणक्रूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरि-कुहरकोटरकन्दरनिर्झरस्थिण्डलेष्वनिकेतिनवास्यप्रयतः शुभाशुभ-कर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नामेति ॥ ८॥

## संन्यासज्ञानसंपन्ना यान्ति यद्वैष्णवं पदम् । तत्त्रैपदब्रह्मतत्त्वरामचन्द्रपदं भजे ॥

इह खलु गुक्रयजुर्वेदप्रविभक्तेयं याज्ञवल्क्योपनिषत् पारमहंस्यधर्मपूग-प्रकटनव्यप्रा निर्विशेषब्रह्मतत्त्वपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः स्वलपप्रन्थतो विवरणमारभ्यते । जनकात्रियाज्ञवल्क्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तु-त्यर्था । आख्यायिकामवतारयति —अथेति । अथ वर्णाश्रमधर्मश्रवणानन्तरं जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ । किमिति — भगवन् संन्यासलक्षण-मनुब्रहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् इत्यादि परमहंसो नामेत्यन्तं प्रायशो जाबालोपनिषदि पदशो व्याख्यातम् ॥१ — ८॥

### संन्यासिनः परमेश्वरत्वम्

आशाम्बरो न नमस्कारो न दारपुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्य-निर्वर्तकः परित्राट् परमेश्वरो भवति । अत्रैते श्लोका भवन्ति ॥ ९ ॥

यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि ।
तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतराय कदाचन ॥ १० ॥
प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः ।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते वेदसंदूषिताशयाः ॥ ११ ॥
नामादिभ्यः परे मूम्नि स्वाराज्ये चेतिस्थतोऽद्वये ।
प्रणमेत्कं तदात्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा ॥ १२ ॥
ईश्वरो जीवकल्या प्रविष्टो भगवानिति ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्चण्डालगोखरम् ॥ १३ ॥

उक्तळक्षणळिक्षतः परित्राट् परमेश्वर एवेत्याह—आशेति। ळक्षणया बोधितं **ळक्ष्यं** तद्विपरीतं अळक्ष्यं समाहितासमाहितावस्थाभ्यां तदुभयनिर्वर्तकः परित्राण्णिरावृतित्रयसंपत्तितः परमेश्वरो भवति । न नमस्कारो न दार-पुत्राभिळाषीत्युक्त्या विविदिषासंन्यासिनामपि त्यक्तदारपुत्रत्वात् तैरिप ज्येष्ठ-किनष्ठादीनां नमस्कारो न कर्तव्यः इत्याशंक्य धर्मतः स्वतुल्याधिकारिणो नमस्कार्या नेतर इति । अत्रैते श्लोका मन्त्रा भवन्तीत्याह— अत्रैते श्लोका भवन्तीति । के नमस्कारानर्हाः इत्यत्राह— प्रमादिन इति ॥

> "तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः । भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा ॥" इति, "दण्डं भिक्षां च यः कुर्यात् स्वधंर्मे व्यसनं विना । यस्तिष्ठति न वैराग्यं याति नीचयतिर्हि सः ॥" इति च ॥

वेदान्तैर्येषामाश्यो दूषितः ते वेदसन्दृषिताशया यतयो । यदि विदितशीलास्तदा ते ज्येष्ठा अपि न नमस्कार्या इत्यर्थः । यदि छान्दोग्यसप्तमाध्यायपिठतनामादि-प्राणान्तकलनाविरलभूमब्रह्मानिष्ठो यतिः । तदा स्वदृष्ट्या स्वातिरिक्तज्येष्ठ-किष्टिमदावैरल्यान तस्य ज्येष्ठकिनमस्कारिनयमाऽस्ति । इच्छा चेन्नमस्कुर्यात् नोचेत्तूर्णी तिष्ठेत इत्याह—नामेति । यद्यनेवंवित्तदा ईश्वरः ॥ ९–१३ ॥

## स्त्र्यादीनां कुत्सनम्

मांसपाञ्चालिकायास्तु मन्त्रलोलेऽङ्गपञ्चरे । स्नाय्वस्थित्रनिथशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥ १४ ॥ त्वङ्मांसरक्तवाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने । समालोक्तय रम्यं चेत् किं मुधा परिमुद्यसि ॥ १५ ॥ मेरुशृङ्गतटोङ्णासिगङ्गाजलस्योपमा । दृष्टा यस्मिनमुने मुक्ताहारस्योङ्णासशालिनः ॥ १६ ॥

रमशानेषु दिगन्तेषु स एव छछनास्तनः। श्वमिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥ १७ ॥ केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः । दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥ १८ ॥ ज्वलिता अतिदुरेऽपि सरसा अपि नीरसाः । स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारुदारुणम् ॥ १९ ॥ कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः। नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥ २० ॥ जनमपल्वलमतस्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् । पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बिडशिपण्डिता ॥ २१ ॥ सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्धिकयानया । दु: खश्रृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥ २२ ॥ यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क भोगभूः। स्त्रियं त्यक्तवा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्तवा सुखी भवेत् ॥ २३ ॥ अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्षेशयेचिरम् । लब्धो हि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥ २४ ॥ नातस्य प्रहरोगादि कुमारस्य च धूर्तता । उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥ २५ ॥ यूनश्च परदारादि दारिद्रचं च कुटुम्बिन:। पुत्रदुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्प्रियते तदा ॥ २६ ॥

संन्यासिसामान्यस्य द्विविधब्रह्मचर्यभूषितत्वेन तद्वह्मचर्यास्खलनाय स्त्री-सामान्यं कुत्सयिति—मांसेत्यादिना । सुसमुद्गिकया पेटिकारूपया । मांस-पाश्वालिकाया इत्यारभ्य जगत्त्यक्तवा सुखी भवेत् इत्यन्तं प्रायशो महोपनिषदि नारदपरिबाजकोपनिषदि च व्याख्यातम् । परिबाजकानां दार-पुत्रादेरप्रसक्तत्वात् विरक्तगृहिणामिप पुत्रेषणाया दुस्त्यजत्वेन तत्र वैराग्यहेतवे पुत्रभावाभावगतिं कुत्सयिति—अल्लभ्यमान इति । आवयोर्दम्पत्योः पुत्रो नास्तीति अल्लभ्यमानस्तनयः पुत्राभावः । पुत्रोत्पत्त्यादेर्बहुदोषस्पृष्टत्वेन पुत्राद्येष-णात्याग एव कर्तव्यः इत्यर्थः ॥ १४-२६ ॥

#### सद्यति:

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः। न च वाक्चपल्रश्चेव ब्रह्मभूतो जितेन्द्रिय: ॥ २७ ॥ रिपो बद्धे स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः । विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव ॥ २८॥ अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः क्यं न ते । धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसद्य परिपन्थिन ॥ २९ ॥ नमोऽस्त मम कोपाय स्वाश्रयज्वालिने भृशम्। कोपस्य मम वैराग्यदायिने दोषबोधिने ॥ ३० ॥ यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी । प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान्सुषुप्तिं याति योगिराट् ॥ ३१ ॥ चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च। चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावय ॥ ३२ ॥

यतीनां तदुपादेयं पारहंस्यं परं पदम् । नातः परतरं किंचिद्विद्यते मुनिपुङ्गव ॥ ३३ ॥ इत्युपनिषत् ॥

नमस्कार्यः सद्यतिः कीदृशः इत्याशंक्य पाणिपादनेत्रचापल्यविरल एव सद्यतिरित्याह—न पाणीति । परद्रव्यकीकटदेशहरणगमनस्पृही पाणिपादचपलः तद्रहितो न पाणिपादचपलः । यस्य नेत्रमिदं रम्यं इदं अरम्यमिति रूपदर्शनोत्सुकं स नेत्रचपलः तद्विपरीतो ब्रह्ममावारूढो यतिः न नेत्रचपलः । इदं स्वादु इदं अखाद्विति परगुणागुणप्रशंसनं वा यस्य वाक्करोति स वाक्चपलः तद्विपरीतो न वाक्चपल्रश्च भवति । एवंविशेषणविशिष्टस्य यतेः ब्रह्मभूतत्वात् अयं ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः सद्यतिर्भवतीत्यर्थः ॥ सद्यतेरपि शरीरत्रयविशिष्टत्वेन कोपादिवृत्तिक-बिहतत्वात् सद्यतित्वं कृतः इत्याशंक्य सद्यतेः कोपादिवृत्त्यसंभवमाह— रिपाविति। रिपावरिषड्वर्गे स्वदेहे च ब्रह्मातिरिक्तं न किंचिदस्तीति निर्विशेषब्रह्मज्ञानेन बद्धे सत्यथ समैकात्म्यं नानाविषमग्राससत्तासामान्यं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति पश्यतो विवेकिनः स्वदेहावयवेष्विव कृतः कोप-वृत्त्यवकाशः स्वातिरिक्तक्रोधादिवृत्त्यसंभवात् इत्यर्थः । स्वापकारिणमाश्रित्य खलु क्रोधवृत्तिरुदेतीति ॥ एवं चेत् स्वापकारिणि कोपे कुतस्ते कोपो नोदेतीत्याह— अपकारिणीति । क्रोधतुल्यापकारिवैरल्यात् कोपे कोपं करोषि चेत् स्वातिरिक्त-कलनाज्ञान्तं ब्रह्मैव अविज्ञाज्यत इत्यर्थः ॥ इत्यंभूतकोपाय नमोऽस्त्वित्याह— नमोऽस्त्वित । मम कोपस्य तुच्छतया वैराग्यदायिने कोपोऽनर्थकर: इति दोषबोधिने गुरुभूताय खस्य कोपोपिर विलिसतकोपस्य स्वाश्रयः कोपः तं भृज्ञं ज्वालयतीति स्वाश्रयज्वाली तस्मै स्वाश्रयज्वालिने कोपकोपाय नमोऽस्तु कोपकोपं ब्रह्माहमस्मि इत्यनुसंधानं करोमीत्यर्थः ॥ कोपकोपिनोः स्वाज्ञस्वज्ञयोः मिथो वैलक्षण्यमाह — यत्रेति । यत्र निर्विशेषब्रह्मविद्यायां कोपिन: स्वाज-सुप्ता भवन्ति तत्रैव निर्विशेषब्रह्मविद्यायां संयमी कोपकोपी प्रबुद्धो जागरूको भवति । हे विद्वन् अत्रैते कोपिनः स्वाज्ञाः यत्र

स्वातिरिक्तप्रपञ्चे प्रबुद्धा भवन्ति तंत्रैव योगिराट् कोपकोपी स्वज्ञः सुषुप्तिं याति इत्यत्र—

> "या निज्ञा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निज्ञा पश्यतो मुने: ॥"

इति स्मृतेः ॥ यत एवमतस्त्वं चिदितिरिक्तं न किंचिदिस्ति सर्वं चिन्मात्रमेवेति चिन्त्त्रयेत्याह—चिदिति ॥ पूर्वमन्त्रोक्तचिन्मात्रमेवोपादेयं तदितिरेकेण त्वमह-मिदिमिति शब्दवाच्यं न किंचिदस्तीत्याह—यतीनामिति । परमहंसपटळ-प्राप्यत्वात् पारमहंस्यमेव परमपदं चिन्मात्रं स्वावशेषतया निष्प्रतियोगिक-मित्युपादेयं तस्य निष्प्रतियोगिकत्वेन तदितिरिक्तं न किंचिदस्तीत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः याज्ञवल्क्योपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्गह्मयोगिना । याज्ञवल्क्योपनिषदो व्याख्यानं लिखितं लघु । याज्ञवल्क्योपनिषदो व्याख्याग्रन्थस्तु सप्ततिः ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे सप्तनविर्दासंख्यापूरकं याज्ञवल्क्योपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

# शाट्यायनीयोपनिपत्

पूर्णमदः - इति शान्तिः

मनसः बन्धमोक्षहेतुत्वम्

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्तयै निर्विषयं स्मृतम् ॥ १ ॥ समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे । यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥ २ ॥ चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् । यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्ममेतत्सनातनम् ॥ ३ ॥ नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं नाब्रह्मवित्परमं प्रैति धाम । विष्णुं क्रान्तं वासुदेवं विजानन् विष्रो विप्रत्वं गच्छते तत्त्वदर्शी ॥

शाट्यायनीब्रह्मविद्याखण्डापारसुखाकृति । यतिबृन्दहृदाकारं रामचन्द्रपदं भजे ॥

इह खलु शुक्रयजुर्वेदप्रविभक्तेयं शाट्यायनीयोपनिषत् कुटीचकबहूदकहंस-परमहंसध मंप्रकटनव्यमा ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ता विजयते । अस्याः स्वरूपम्रन्थतो विवरणमारम्यते । अत्रादौ वन्धमोक्षहेतुः मन एवेत्याह—मन एवेति । यथा यन्मनो विषयासक्तं तथा ब्रह्मासक्तं चेत् तद्वान् स्वातिरिक्तभ्रमतो मुच्यत इत्याह—समासक्तमिति । कि च—चित्तमेवेति । यस्य चित्तं यस्मिन् छीनं स यचित्तः तन्मयः तत्स्वरूपो भवतीत्पर्थः । तं विवृणोति—नावेदविदिति । वेदविन भवतीत्यवेदविद्ञः बृहन्तं विराजमहमिति न मनुते अब्रह्मवित् परमं धाम न प्रैति स्वाज्ञः सविशेषं निर्विशेषं वा ब्रह्म परोक्षत्वेनापि न जानातीत्पर्थः । तत्त्वदर्शी विप्रस्तु विष्णुं व्यापनशीलं क्रान्तं सर्वज्ञं वासुदेवं सर्वान्तर्यामिणं सर्वाधारं वा अहमस्मीति विज्ञानन् विप्रत्वं जीवन्मुक्तत्वं गच्छते गच्छतीत्पर्थः ॥ १-४॥

## साधनचतुष्ट्यसंपत्तिः

अथ ह यत्परं ब्रह्म सनातनं ये श्रोत्रिया अकामहता अधीयः। शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुर्योऽनूचानो ह्यभिजज्ञौ समानः। त्यक्तेषणो ह्यनृणस्तं विदित्वा मौनी वसेदाश्रमे यत्र कुत्र ॥ ९ ॥

यद्रहा अकामहतप्रत्यक्षं तद्रहा यथाविद्विदित्वा मौनी भवेदित्याह—अथेति । अथ यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ह इत्यैतिह्यार्थः ये विदितपरमार्थ-तत्त्वात् श्रोत्रियाः स्वातिरेकेण कामासंभविनश्चयत्वात् अकामहताः सनकादयो ब्रह्मादयो वा यत्सनातनं परं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमित्यधीयुः अधीत्य ज्ञात्वा तज्ज्ञानसमकाछं तत् प्राप्नुयुः परमात्मैव भवन्ति । यथोक्तसाधन-सम्पन्नो यः कश्चन मुमुश्चः । शान्तो दान्तः इत्यादिसाधनचतुष्ट्यामानित्वादीना-मप्युपछक्षणार्थं ब्रह्मवित्कुळप्रसूतत्वादनूचानः मुमुश्चभः समान अभिज्ञह्मो ज्ञातवान् । ऋणत्रयापकरणादनृणस्यक्तेषणात्रयः संन्यासी तं परमात्मानं विदित्वाथ मौनीभृत्वा यत्र कुत्र कुटीचकाद्याश्रमे आप्रारब्धक्षयं वसेत हिशब्दद्वयद्योति-तार्थस्तु निर्विशेषब्रह्मज्ञानसमकाछं कर्मत्रयासम्भवप्रबोधसिद्धब्रह्ममात्रतयाव - शिष्येदिति ॥ ५ ॥

## कुटीचकधर्माः

अथाश्रमं चरमं संप्रिविश्य यथोपपितं पञ्चमात्रां द्धानः ॥ ६॥ त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम् । शिक्यं पित्रिमित्येतिहृभ्याद्यावदायुषम् ॥ ७॥ पञ्चेतास्तु यतेर्मात्रास्सा मात्रा ब्रह्मणे श्रुताः । न त्यजेद्यावदुत्क्रान्तिरन्तेऽपि निखनत्सह ॥ ८॥ विस्फुलिक्नं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च । तयोरेकमपि त्यक्तवा पतत्येव न संशयः ॥ ९॥ त्रिदण्डं वैष्णवं लिक्नं विप्राणां मुक्तिसाधनम् ॥ १०॥ निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम् ॥ १०॥

अथादौ कुटीचकधर्मानाह —अथित । अथ ब्रह्मचर्याद्याश्रमत्रयानन्तरम् । ब्रह्मचर्याद्यपेक्षया कौटीचकं चरमाश्रमं प्रविश्य यथोपपत्ति यथावलं त्रिदण्डादि-पश्चमात्रां दधानः सन् भुवं विहरेदित्यर्थः । वासः कौपीनवेष्टनिमत्येकामात्रा । त्रिदण्डादिपवित्रान्तिमत्येतत्पञ्चमात्रकं बहूदकादिपदमारोद्धमशक्तश्चेत् यावदायुषं विभ्यात् इत्यर्थः । कि च पश्चेतास्तु कुटीचकस्य यतेर्मात्राः त्रिदण्डादि-रूपाः अकारोकारमकारिवन्दुनादमेदेन सा मात्रा ब्रह्मणे श्रुताः ताः पञ्चमात्राः ब्रह्मणे ब्रह्मणि प्रणवे श्रुताः । एवं व्यक्ताव्यक्तात्मकपञ्चमात्रायुग्मं यावदायुषं विभ्यादिति पूर्वेण सम्बन्धः । जात्विप व्यक्ताव्यक्तपञ्चमात्रायुगमं न त्यजेद्यावदुत्कान्तिरन्तेऽपि देहत्यागकालेऽपि स्वशरिण सह निखनेत् व्यक्तपञ्चमात्राः मात्रापञ्चकयुग्मस्य व्यक्ताव्यक्तविष्णुलिङ्गद्वयधारणफल्यमाह — त्रिदण्ड-मिति ॥ ६-१०॥

## संन्यासिनां चातुर्विध्यम् , धर्मश्र

अथ खिलु सोम्य कुटीचको बहूदको हंसः परमहंस इत्येते परिवाजकाश्चतुर्विधा भवन्ति । सर्व एते विष्णुलिङ्गिनः शिखिनोप-वीतिनः शुद्धचित्ता आत्मानमात्मना ब्रह्म भावयन्तः शुद्ध-चिद्रूपोपासनरता जपयमवन्तो नियमवन्तः सुशीलिनः पुण्यश्चोका भवन्ति । तदेतदृचाम्युक्तम् ।

> कुटीचको बहुदकश्चापि हंमः परमहंस इति वृत्त्या च भिन्नाः । सर्व एते विष्णुलिङ्गं द्धाना व्यक्ताव्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम् ॥ पञ्चयज्ञा वेद्शिरःप्रविष्टाः

कियावन्तोऽमी ब्रह्मविद्यां [श्रयन्तः] । त्यक्त्वा वृक्षं वृक्षमूलं श्रितासः संन्यस्तपुष्पा रसमेवाश्तुवानाः ।

विष्णुक्रीडा विष्णुरतयो विमुक्ता

विष्णवात्मका विष्णुमेवापियन्ति ॥ १२ ॥

कुटीचकादिचतुराश्रमभेदं तद्धर्मानप्याह—अथेति । तेषां धर्मानाह—सर्व इति । सर्व एते विष्णुलिङ्गिनः इत्यत्र कुटीचकस्य व्यक्ताव्यक्तमात्रापञ्चक-द्वयमेव विष्णुलिङ्गत्वेनाभिहितं यत्तत् बहूदकस्यापि समं "बहूदकः कुटीचकवत् सर्वधर्मसमः" इति श्रुते । हंसपरमहंसयोस्तु स्वाचार्यकलेबरं व्यक्तविष्णुलिङ्गं तदन्तःकरणमव्यक्तविष्णुलिङ्गं "सुव्यक्तविष्णुलिङ्गं स्यादेशिकेन्द्रकलेबरम् । अव्यक्तविष्णुलिङ्गं तु तदन्तःकरणं स्मृतम् ॥" इति स्मृतेः ॥ अतः सर्वे विष्णुलिङ्गं धारिण इत्यर्थः । शिखिनोपवीतिन इत्यत्र कुटीचकबहूदकयोः वित्रत्त केशकार्पासमयशिखायज्ञोपवीतित्वं व्यक्तमुपलभ्यते "केशसमूहशिखान

प्रसक्षकार्पासतन्तुकृतोपवीतम् '' इति श्रुते: । हंसस्य जटाधारणमेव शिखा व्यक्त-रूपिणी यज्ञोपवीतं त्वव्यक्ततज्ज्ञानमित्यर्थः । परमहंसस्य त शिखायज्ञोपवीतं चाव्यक्तं निर्विशेषब्रह्मज्ञानमेवास्य शिखायज्ञोपवीतं च भवति । तथा च श्रतिः— "ज्ञानशिखनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः" इति ॥ अत एव कुटीचकादि-चतुर्णी यतीनां व्यक्ताव्यक्तभेदेन शिखायज्ञोपवीतित्वं सिद्धमेवेत्यर्थः । शुद्धचित्ता इत्यादि पुण्यस्रोका भवन्ति इत्यन्तं कुटीचकादिचतुर्णामपि समानमेवेति मन्तव्यम् । ब्राह्मणेन योऽर्थोऽभिहितः तमेतमर्थं मन्त्रोऽप्यन्वद्ति—तदेत-हचाभ्युक्तमिति । किं च-पश्चयज्ञा इति । पश्चयज्ञा इत्यत्र कुटीचकपक्षे गायत्रीजपयज्ञो विशेषः प्रणवजपयज्ञस्त चतुर्णामपि समः। प्रणवजपयोगतपः-स्वाध्यायज्ञानभेदेन सर्वेऽपि पञ्चयज्ञाः वेद्शिरसामुपनिषदामर्थश्रवणादौ प्रविष्टाः, ''कुटीचकबहूदकयोः श्रवणं हंसपरमहंसयोः मननं '' इत्यादिश्रुतेः। स्वाश्रमोचितकर्मानुष्टानपरा इति क्रियावन्तः अमी । परमहंसास्त् ब्रह्मविद्यां विशेषेण सेवन्ते । सर्वेऽपि बश्चनार्हसंसाग्वृक्षं त्यक्त्वा संसारवृक्षभू छं बह्य यस्य यस्य यथा ज्ञानं तथा श्रितासः संश्रिताः, संन्यस्तकर्मकाण्डगोचरवेदत्वात् संन्यस्तपुष्पाः "यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्यविपश्चितः" इति स्मृतेः। रसं सारांशमेवाश्नुवानाः ''रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्धवानन्दी भवति '' इति श्रुते: । स्वात्तसविशेषनिर्विशेषज्ञानानुरूपेण सविशेषनिर्विशेषविष्णौ क्रीडा विष्णुरतयः बाह्यक्रीडारतिविमुक्ता विष्णुरेवात्मा येषां विष्ण्वात्मकाः सन्तो दासोऽहं सोऽहमिति वा विष्णुमेवापियन्ति विष्णोः सविशेषभावं निर्विशेषभावं वा प्रतिपद्यन्ते कृतकृत्या भवन्तीत्यर्थः ॥ ११, १२ ॥

कुटीचकानां जपयज्ञादि

त्रिसंघिं शक्तितः स्नानं तर्पणं मार्जनं तथा । उपस्थानं पश्चयज्ञान्कुर्योदामरणान्तिकम् ॥ १३ ॥ दशिभः प्रणवैः सप्तन्याहृतीभिश्चतुष्पदा । गायत्री जपयज्ञश्च त्रिसंघिं शिरसा सह ॥ १४ ॥ केवलकुटीचकजपयज्ञलक्षणमाह— त्रिसन्धिमिति । त्रिषवणस्त्रानं कुटीच-कस्य बहूदकस्य द्विवारं हंसस्यकवारं परमहंसस्य भस्मस्त्रानं इति ।

> " परमहंसाश्रमस्थानां स्नानादेरविधानतः । अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत् " ॥ इति,

"स्नानं मनोमलत्यागः" इति च श्रुतेः। व्याहृतिशिरःसंपुटिततुर्यपादाञ्चित-गायत्रीपादचतुष्टयावर्तनं कुटीचकैः सन्धित्रयेऽपि कर्तव्यमित्यर्थः। परमहंस-जपयज्ञस्तु सन्धित्रयेऽपि प्रणवजप एव कार्यः यदि श्रवणाधिकारी न भवति तदा—

> "यस्तु द्वादशसाहस्त्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम् । तस्य द्वादशभिर्मासः परं ब्रह्म प्रसीदति ॥"

इति श्रुते:।

" स्वशाखोपनिषद्गीता विष्णोर्नामसहस्रकम् । श्रीरुद्रं प्रणवं चैव नित्यमावर्तयेद्यतिः ॥ " इति,

''प्रणवादपरं जस्वा कदा मुक्तो भविष्यति ॥''

इति स्मृतेश्च ॥ १३, १४ ॥

## योगयज्ञादियज्ञचतुष्टयम्

योगयज्ञः सदैकाप्र्यभक्तया सेवा हरेर्गुरोः । अहिंसा तु तपोयज्ञो वाङ्मनःकायकर्मभिः ॥ १९ ॥ नानोपनिषद्भ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः । ओमित्यात्मानमञ्ययो ब्रह्मण्ययौ जुहोति तत् ॥ १६ ॥ ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः । ज्ञानदण्डा ज्ञानशिखा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ॥ १७ ॥

## शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् । ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति वेदानुशासनम् ॥ १८ ॥

अयमेव हि परमहंसजपयज्ञः । योगयज्ञादियज्ञचतुष्टयं तु सर्वेषां समिमत्याह— योगयज्ञ इति ॥ १९–१८ ॥

## परिवाजकै: कर्तव्यनिरूपणम्

अथ खलु सोम्येते परित्राजका यथा प्रादुर्भवन्ति तथा भवन्ति । कामकोधलोभमोहदम्भद्गीस्याममत्वाहंकारादींस्तितीर्य मानावमानौ निन्दाम्तुती च वर्जियत्वा वृक्ष इव तिष्ठासेच्छियमानो न ब्रूयात् । तदेवंविद्वांस इहैवामृता भवन्ति । तदेतद्दचाम्युक्तम् । बन्धुपुत्रमनुमोद्यित्वानवेक्षमाणो द्वन्द्वसहः प्रशान्तः । प्राचीमुदीचीं वा निर्वर्तयंश्चरेत् ॥ १९ ॥

पात्री दण्डी युगमात्रावलोकी

शिखी मुण्डी चोपवीती कुटुम्बी ।
यात्रामात्रं प्रतिगृह्ण-मनुष्याद्याचितं याचितं वाथ मैक्षम् ॥ २० ॥
मृद्दार्वलाबूफलं तन्तुपर्णपात्रं तत्तथा यथा तु लब्धम् ।
क्षाणं क्षामं तृणं कन्थाजिनौ च पर्ण
आच्छादनं स्यादहतं वा विमुक्तम् ॥ २१ ॥
ऋतुसंधौ मुण्डयेनमुण्डमात्रं
नाधो नाक्षं जातु शिखां न वापयेत् ।

# चतुरो मासान् ध्रुवशीलतः स्यात् स यावत्सुप्तोऽन्तरात्मा पुरुषो विश्वरूपः ॥ २२ ॥

पञ्चयज्ञप्रकारमुक्त्वा अनन्तरं तेषां धर्मपूर्गं तत्फलं चोपन्यस्यति— अथेति । तथा भवन्ति जातरूपधरा भवन्तीत्पर्थः । तैः कर्तव्यमाह — कामेति । ब्रह्मातिरिक्तं न किंचिदस्तीति ज्ञानबलेन वृक्षवदेहादावात्मात्मीयाभिमानवैकल्य-पूर्वकं सर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति यदा जानन्ति तदेवं विद्वांसः इहैवामृता भवन्ति विदेहमुक्ता भवन्तीत्यर्थः । ब्राह्मणेन योऽर्थोऽभि-हितः तमेतमर्थं [सोऽर्थः] मन्त्रेणाप्युच्यते इत्याह—तदेतदृचाभ्युक्तमिति । बन्धु-पुत्रमनुमोद्यित्वा पुनस्तान् जात्विप अनवेक्षमाणः द्वन्द्वसहः प्रशान्तः प्राचीमुदीचीं वा स्वाश्रमोचितधर्मानुष्ठानपूर्वकं स्वस्वरूपानुसन्धानं निर्वर्तयंश्च-रेत् । कुटीचकादिसमुदायधर्मानाह—पात्रीति । व्यक्ताव्यक्तशिखी सुण्डी चोप-वीती स्वदेहमात्रकुदुम्बी देहधारणोपयोगं किंचित् यात्रामात्रं प्रतिगृह्णन् । फलं नालिकेरकफलं तन्तुप्रथितपर्णकृतं वा पात्रं यथालब्धं गृह्णीयात् क्षाणं चनपटं क्षामं वल्कलं तृणरचितपटं कन्थाजिन इति वक्तव्ये कन्थाजिनाविति लिङ्गच्यत्यः इत्थंभूतवाससालङ्कृतस्य अहतं प्रथितं तद्विमुक्तं वा पर्णमाच्छादन-मुत्तरीयं भवेदित्यर्थः । कक्षद्वयमुच्यत इति हंसेतरेषां क्षीरं तुल्यं हंसस्य जटाधारित्वात् कुटीचकस्यायमेव विशेष इत्याह—जातु शिखां न वापयेदिति । चातुर्मास्यनियमः सर्वेषामपि तुल्य इत्याह—चतुर इति । यावद्विराट् स्विपिति तावचतुरो मासान् वार्षिकानेकत्र निवसेत्। नो चेत् "पक्षा वै मासाः" इति मासद्रयमेकत्र निवसेत् पुनरस्मिन् विराज्युत्थिते सत्यथान्यानष्टौ दश वा मासान् स्वाश्रमोचितकर्मिळप्सः सर्वत्र विहरत् ॥ १९-२२ ॥

वासस्थाने नियमः

अन्यानथाष्ट पुनरुत्थितेऽस्मिन् स्वकर्मलिप्सुर्विहरेद्वा वसेत । देवाश्वगारे तरुमूले गुहायां वसेद्सङ्गोऽलक्षितशीलवृत्तः । निरिन्धनज्योतिरिवोपशान्तो न चोद्विजेदुद्वेजयेद्यत्र कुत्र ॥ २३ ॥

यदि श्रवणध्यानसमाधिकरणेच्छुः तदा एकत्र वा वसेत् । किमयं संसारिणा-मावसथे वसेत् इत्यत आह—देवेति । देवालयादिप्रशस्तस्थले वसेत् ; तत्रापि ममतां विहायासङ्गे भूत्वा परेरलक्षितशीलवृत्तः सन् स्वातिरिक्तश्रमतो निरिन्धनज्योतिरिवोपशान्तो भवेत् स्वसमानं स्वावरं वा जनं दृष्ट्वा न कदाण्यु-देजनं कुर्यात् । यत्र कुत्रापि प्रसक्तस्वातिरिक्तिधियमुद्देजयेत् सर्वत्र स्वात्मिधयं कुर्यादित्यर्थः ॥ २३ ॥

आत्मज्ञानवतः स्थितिः

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।

किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ २४ ॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।

नानुध्यायाद्वहूञ्छञ्दान्वाचो विग्छापनं हि तत् ॥ २५ ॥

वाल्येनैव हि तिष्ठासेचिर्विद्य ब्रह्मवेदनम् ।

ब्रह्मविद्यां च बाल्यं च निर्विद्य मुनिरात्मवान् ॥ २६ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्रुते ॥ २७ ॥

यावदात्मा न लम्यते तावदेव शरीरशोषणाद्युपायानुष्ठानं कार्यम् ज्ञाते स्वावशेषधियात्मन्यथ शरीरशोषणं पोषणं वा प्रयोजनाभावान्न कार्यमित्याह—

आत्मानिमिति । यथावद्भद्धावेदनं निर्विद्य ब्रह्मयाथात्म्यमवगस्य खातिरिक्तविषये बाल्येन वैराग्येण तिष्ठासेत् स्थातुमिच्छेत् । ततो ब्रह्मविद्यां बाल्यं च निर्विद्याथ ब्रह्मातिरिक्तं न किंचिदस्तीति निश्चित्यात्मवान् आत्ममात्रतयाविशाष्येदित्यर्थः । शिष्टमन्द्वत्रयं बृहदारण्यकषष्ठे व्याख्यातम् ॥ २४–२७॥

#### आरूडपातित्ये प्रत्यवाय:

अथ खलु सोम्येदं पारित्राज्यं नैष्ठिकमात्मधर्मं यो विजहाति स वीरहा भवति स ब्रह्महा भवति स भ्रूणहा भवति स महा-पातकी भवति । य इमां वैष्णवीं निष्ठां परित्यजति स स्तेनो भवति स गुरुतल्पगो भवति स मित्रध्रुग्भवति स कृतन्नो भवति स सर्वान्लोकान् प्रच्युतो भवति । तदेतहचाभ्युक्तम् ।

स्तेनः सुरापो गुरुतल्पगामी

मित्रध्रुगेते निष्कृतेर्यान्ति शुद्धिम् ।
व्यक्तमव्यक्तं वा विभृतं विष्णुलिङ्गं

त्यज्ञ शुध्येदिखलैरात्मभासा ॥ २८ ॥

त्यक्त्वा विष्णोर्लिङ्गमन्तर्बहिर्वा

यः स्वाश्रमं सेवतेऽनाश्रमं वा ।

प्रत्यापत्तिं भजते वातिमूढो

नैषां गतिः कल्पकोट्यापि दृष्टा ॥ २९ ॥

त्यक्तवा सर्वाश्रमान्धीरो वसेन्मोक्षाश्रमे चिरम् । मोक्षाश्रमात्परिश्रष्टो न गतिस्तस्य विद्यते ॥ ३० ॥

## पारित्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधमें न तिष्ठति । तमारूढच्युतं विद्यादिति वेदानुशासनम् ॥ ३१ ॥

एवं ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपाद्याथ यावदुपाधि पारिब्राज्यधर्मे स्थातव्यं तद्विहाय स्वच्छन्दं यो वर्तते स प्रत्यवैतीति तं कुत्सयति—अथेति । आत्मधर्मे यावत्स्व-परिविवेकः तावद्विष्णुष्टिङ्गद्वयानुकरणळक्षणं यो विजहाति स वीरहा भवति ॥

''यावदुपाधिपर्यन्तं तावच्छुश्रूषयेद्गुरुम् । शुभं वाशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि । तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः सन्तोषसंयुतः ॥''

इति,

"सप्राणमथवाप्राणं देशिकेन्द्रकलेबरम् । यस्मिन् देशे वसेद्योगी तां दिशं प्रणमेत् सदा ॥ यावदेहे वसेत् प्राणस्ताविच्छ्य्योऽप्रमादतः । गुरुच्छन्दानुवर्ती चेद्वैष्णवं पदमेति सः ॥"

इति श्रुतिस्मृतिसिद्धविष्णुबाह्यान्तर्लिङ्गानुकरणलक्षणां य इमां वैष्णवीं निष्ठां परित्यज्ञति । ब्राह्मणेन यदुक्तं तन्मन्त्रा अप्यनुकुर्वन्तीत्याह — तदेतदृ — चाभ्युक्तमिति । निष्कृतेः प्रायश्चित्ततः स्वर्णस्तेयादिपञ्चमहापातिकनोऽपि शुद्धि यान्ति ब्रह्मभावारूढदेशिकेन्द्रस्य यथोक्तलक्षणं व्यक्तं अव्यक्तं वा विधृतम् । देशिकेन्द्रस्थूलदेहपरिचरणलक्षणं व्यक्तविष्णुलिङ्गं तदा ज्ञानवशवृत्तित्वलक्षण-मव्यक्तविष्णुलिङ्गं पूर्वाचार्येरिप विधृतं अनुष्ठितं यो नानुतिष्ठति सोऽयं महापातकी अखिलेरिप प्रायश्चित्तेन शुध्येत् स्वात्मज्ञानमन्यत्र सर्वपात्कप्रासमेव अत्र त्वयमात्माभासज्ञानेनापि न शुध्येत् । देशिकेन्द्रप्रसादं विना केनापि न शुध्येदिखर्थः । विष्णुलिङ्गयुग्नस्यागिनः प्रायश्चित्तं नास्तीति कथमुच्यते विष्णुलिङ्गद्वयेतरस्वाश्रमोचितधर्मानुष्ठानात् दण्डकमण्डलुधारणलक्षणपारमहंस्या-श्रमत्त्वाप्रमपिग्रहाद्वा देशिकोपदिष्टमन्त्रस्यागपूर्वकं प्रस्यापत्तिलक्षणा-

दाचार्यान्तरपरिग्रहधर्मानुष्ठानाद्वा शुद्धिमेत्य कृतकृत्यो भवेदित्यत आह— त्यक्त्वेति । सर्वाश्रमत्यागपूर्वकं अप्रमादेन यतिर्मोक्षाश्रमे वसेदित्याह— त्यक्त्वेति । स्वधर्मत्यागिन आरूढपतितत्वं निगमयति—पारित्राज्यमिति । यः स्वधर्मे विष्णुलिङ्गद्वयानुकरणलक्षणे न तिष्ठति ॥ २८–३१ ॥

#### विष्णुलिङ्गद्वयानुवर्तनम्

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां लब्ध्वा यस्तामदूषयन्वर्तते स वशी भवति स प्रण्यश्लोको भवति स लोकज्ञो भवति स वेदान्तज्ञो भवति स ब्रह्मज्ञो भवति स सर्वज्ञो भवति स स्वराङ् भवति स परं ब्रह्म भगवन्तमाप्नोति स पितृन्सं-वन्धिनो बान्धवान्सुहृद्दो मित्राणि च भवादुत्तारयति ॥ ३२ ॥

शतं कुलानां प्रथमं बभूव तथा पराणां त्रिशतं समग्रम् ।
एते भवन्ति सुकृतस्य लोकं येषां कुले संन्यसतीह विद्वान् ॥
त्रिंशत्परांक्षिशद्यरांक्षिशच्च परतः परान् ।
उत्तारयति धर्मिष्ठः परित्रािहति वै श्रुतिः ॥ ३४ ॥
संन्यस्तमिति यो ब्रूयात्कण्ठस्थप्राणवानपि ।
तारिताः पितरस्तेन इति वेदानुशासनम् ॥ ३५ ॥
अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्म वैष्णवीं निष्ठां नासमाप्य प्रब्र्यान्नाननुत्रानाय नानात्मविदे नावीतरागाय नाविशुद्धाय
नानुपसन्नाय नाप्रयतमानसायेति ह स्माहुः । तदेतहचाभ्युक्तम् ।

विद्या ह वै ब्राह्मणमानगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि । असूयकायानुजवे शठाय मा मा ब्र्या वीर्यवती तथा स्याम् ॥ ३६ ॥ यमेवैष विद्याच्छुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् । अस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक् परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम् ॥ ३७ ॥ अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा। यथैव तेन न गुरुभीजनीय-स्तथैव तदन्नन्रभुनक्ति श्रुतं तत् ॥ ३८ ॥ गुरुरेव परो धर्मी गुरुरेव परा गतिः। एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिनन्दति । तस्य श्रुतं तपो ज्ञानं स्रवत्यामघटाम्बुवत् ॥ ३९ ॥ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । स ब्रह्मवित्परं प्रेयादिति वेदानुशासनम् ॥ ४० ॥ इत्युपनिषत् ॥

एवं विष्णुलिङ्गद्वयपराङ्मुखं कुत्सियत्वाथ पूर्वोक्तविष्णुलिङ्गद्वयानुवर्तिनं कृतकृत्यतया स्तौति—अथेति। स वशी जितेन्द्रियो भविति। किं बहुना स परं ब्रह्म भगवन्तमाप्नोति। ब्राह्मणोक्तार्थं मन्त्रा अप्यनुवदन्तीत्याह— शतिमिति। यद्ययं विद्वत्संन्यासी भवित तदा स्वस्य शतपूर्वास्स्वोत्तरतिश्चिशत-सन्तत्यन्ताः कृतार्था भवेयुरित्यर्थः। किंच—त्रिंशत्परानिति। आतुरा विद्वत्संन्यासतोऽपि तित्पत्रादयः सुकृतिनो भवेयुरिति निगमयित—संन्यस्त-

मिति । कृतार्थाधिष्ठितेयनिष्ठा वैष्णवी नानधिकारिणे वक्तव्या सम्यक् चिरं परीक्ष्य संविदितसुर्शीलाय वक्तन्येत्याह—अथेति । स्वयमेतां निष्ठामनासाद्या-कृतार्थस्सन्नन्यस्मै न ब्र्यात् यदि स्वयं कृतार्थस्तदा नाननूचानायेत्यादि । इमां निष्ठां न त्र्यादिति यद्राक्षणेनोक्तार्थं मन्त्राभ्यामप्युक्तमाहुरित्याह — हस्मेति । ब्रह्मवादिन इति शेषः । किमिति—विद्याह वा इति । कस्मै वक्तव्येत्यत्र— यमिति । देशिकं ये न बहुमन्यन्ते तद्भुक्तगृहे यतयो भिक्षां न गृह्णीयुरित्याह— अध्यापिता इति । ये विप्रा यतयो येन गुरुणा प्रणवमहावाक्यादिकमध्यापि-तास्सन्तो मनोवाकायकर्मभिः स्वोपदेष्टारं गुरुं नाद्रियन्ते न बहुमन्यन्ते हेलनं परिभवं वा कुर्वन्ति यथैव तेन तेर्गुरुदूषकै: साकं श्रेयोऽर्थिभि: गृहिभि: न कदापि गुरुः भोजनीयः गुरुरिप तद्गृहे कदापि न भुङ्क्ते तथैव तदत्रं तेषां गुरुदूषकभिक्षादायिनां निर्दुष्टानामपि तद्गृहेऽन्नं मन्ये संप्रदायप्रवर्तकाः सद्यतयो न भुनक्ति शिष्येषु गुरुप्रसादावधि न भुनक्ति न भुञ्जते "एकाक्षरप्रदातारं" इति मन्त्रेण श्रुतं तत् इत्थंप्रभाववान् गुरुः कीदश इत्यत्र—गुरुरेवेति। ''ओमित्येकाक्षरं परं ब्रह्म'' इति श्रुतिसिद्धे एकाक्षरप्रदातारम् । तत्पक्षीया-णामपि फलं समानमित्यर्थ: । तद्विपरीतसच्छिष्यगुरुसेवापरमफलं दर्शयन्तुप-संहरति—यस्येति । यो विष्णोर्व्यक्ताव्यक्तिङ्किदेशिकः छन्दानुवर्ती स ब्रह्म-विद्भूत्वा सर्वापह्नवसिद्धं परं ब्रह्म स्वमात्रमिति प्रकर्षेणेयात् प्राप्नुयात् इति यत्तद्वेदानुशासनं सर्ववेदान्तनिश्चितमित्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः शाव्यायनी-योपनिषत्समात्यर्थः ॥ ३२-४० ॥

> श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्धसयोगिना । शाट्यायनीयोपनिषद्धाख्यानं लिखितं लघु । शाट्यायनीवृत्तिजातं चत्वारिंशाधिकं शतम् ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे एकोनशतसंख्यापूरकं शाट्यायनीयोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

# संन्यासोपनिषत्

### आप्यायन्तु — इति शान्तिः

#### संन्यासविधिः

अथातः संन्यासोपनिषदं व्याख्यास्यामः । योऽनुक्रमेण संन्यस्यित स संन्यस्तो भवति । कोऽयं संन्यास उच्यते । कथं संन्यस्तो भवति । य आत्मानं क्रियाभिः गुप्तं करोति मातरं पितरं भार्यो पुत्रान् बन्धूननुमोदियत्वा । ये चास्यित्वक्रस्तान्सर्वाश्च पूर्ववद्वृणीत्वा वैश्वानरेष्टिं निवेपेत् । सर्वस्वं दद्यात् यजमानस्य । गा ऋत्विजः । सर्वेः पात्रैः समारोप्य यदाहवनीये गाईपत्ये वान्वाहार्यपचने सम्चावसथ्ययोश्च प्राणापानव्यानोदानसमानान्सर्वात् सर्वेषु समापयेत् । सिशाखान्केशान् विस्त्र्य यज्ञोपवीतं छित्त्वा पुत्रं दृष्ट्वा, त्वं ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वं सर्वमित्यनुमन्तयेत् । यद्यपुत्रो भवत्यात्मानमेवेमं ध्यात्वानवेक्षमाणः प्राचीमुदीचीं वा दिशं प्रवजेत् । चतुर्षु वर्णेषु भैक्षाचर्यं चरेत् । पाणिपात्रेणाशनं कुर्यादौषधव-दशनमाचरेदौषधवदशनं प्राश्नीयाद्यथालाभमश्नीयात्प्राणसंधारणार्थं दशनमाचरेदौषधवदशनं प्राश्नीयाद्यथालाभमश्नीयात्प्राणसंधारणार्थं

यथा मेदोवृद्धिर्न जायते। क्रशीभृत्वा श्रामैकरात्रम्, नगरे पश्चरात्रम्, चतुरो मासान्वार्षिकान्श्रामे वापि नगरे वापि वसेत् पक्षा वै मासा इति द्वौ मासौ वा वसेत्। विशीर्णवस्त्रं वल्कलं वा प्रतिगृह्णीयात् नान्यत्प्रतिगृह्णीयात्। यद्यशक्तो भवति क्षेशतस्तप्यते तप इति । यो वा एवं क्रमेण संन्यस्यति यो वा एवं पश्यति किमस्य यज्ञोपवीतं कास्य शिखा कथं वास्योपस्पर्शनमिति । तं होवाच । इदमेवास्य यज्ञोपवीतं यदात्मध्यानम्, विद्या सा शिखा, नीरैः सर्वत्रावस्थितैः कार्यं निर्वर्तयन्तुदरपात्रेण । जलतीरे निकेतनम् । अस्तमित आदित्ये कथं चास्योपस्पर्शनमिति ।

यथाहिन तथा रात्रों नास्य नक्तं न दिवा। तद्प्येतदृषि-णोक्तम्। सकृद्दिवा है वास्मै भवति। य एवं विद्वानेतेनात्मानं संघत्ते॥१॥

> संन्यासोपनिषद्वेद्यं संन्यासिपटलाश्रयम् । सत्तासामान्यविभवं स्वमात्रमिति भावये ॥

इह खल्ज सामवेदप्रविभक्तयं संन्यासोपनिषत् कुटीचकादिषड्भेदधर्म-प्रकटनव्यम्रा ब्रह्ममात्रपर्यवसना विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । यथोक्ताधिकारसाधनसम्पन्नानुपल्लभ्य श्रुतयः स्वयमेव संन्यासोपनिषद्भुपन्यस्यन्तीत्याह—अथेति । अथशब्दः अधिकारिलाभानन्तर्यार्थः । यतः स्वातिरिक्त-सामान्यसंन्यासं विना निष्प्रतियोगिकस्वमात्रज्ञानं नोदेत्यतः तदुपायतया श्रुतयो वयं संन्यसोपनिषदं व्याख्यास्यामो विस्पष्टमाख्यास्यामो वदाम इत्यर्थः । तत्प्रकारः कथिमत्यत्र—य इति । ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् इत्यादि कुटीचको बहूदकत्वं प्राप्येत्यादि चानुक्रमेण य एषणात्रयं संन्यस्यति स एव

संन्यासी भवतीत्पर्थः । संन्यासं संन्यासिनं चाक्षिपति-क इति । स्वाजङ्कोत्तरं स्वयमेवाहः - य इति । य आत्मानं वक्ष्यमाणिकयाभिर्भप्तं करोति । मात्राद्यनुमोदनादिवक्ष्यमाणविधिना संस्करोतीत्यर्थः । तत् कथमित्यत्र— मातरं पितरं भार्यी पुत्रान् बन्धूननुमोद्यित्वा संन्यासं कर्तुमिच्छामि भवद्धिराज्ञा देयेति चरमेष्टिनिर्वपनार्थं ऋत्विग्वरणं कर्तव्यमित्याह — ये चेति । ये चास्यर्तिवजः सन्ति तान् सर्वीश्च पूर्ववन् वृणीत्वा अथ तैः सह वैश्वानरेष्टिं निर्वपेत् इति । ततो यजमानस्य यावन्तः पुत्राः स्युः आत्मना सह स्वार्जितं धनं यथाविभागं विधाय स्वभागप्राप्तसर्वस्वं ऋत्विग्भ्यो देयिमित्याह — सर्वस्विमिति । यजमानस्य स्वस्य सर्वस्वं ऋत्विग्भ्यो यजमानः स्वयं द्वादित्यर्थ: । ततः किमित्यत्र याज्ञीयपात्रतोऽग्निसमारोपणं कुर्यादित्याह— सर्वेरित । ब्राह्मणजातिप्रविभक्तबाह्मणाबाह्मणादिचतुर्ष वर्णेषु भैक्षाचर्य चरेत । यद्यशक्तो भवति तदा शीतादिवाधावाधकं वस्त्रं प्रतिगृह्णीयात् ; नोचेत् शीतादि-जन्यक्केशतस्तप्यते तप इति । स्वोचितवस्त्रादिप्रतिप्रहे तु स्वाश्रमोचितं तपस्सुखं तप्यत इत्यर्थः । तृषादिकार्यं निर्वर्तयन् नीरस्य सर्वत्र विद्यमानत्वात् तद्याञ्चा न कार्या (कामो मद उदपानं) इति श्रुते: उदरपान्नेण यथालाभमश्रन् जलतीरे निकेतनं अस्ति चेत्तत्र वस्तव्यमित्यर्थः । अस्तमित आदित्ये कथं वास्योप-स्पर्शनमिति । रात्रौ जलाशयस्पर्शननिषेधात् एवं चिदादित्यभावमापन्नस्य यथाहनि तथा रात्रौ । तदप्येतदृषिणा मन्त्रेण उक्तम् । किमिति । सकृदिवा हैवास्मै भवतीति । सदास्य दिवा भवतीत्यर्थः । इतिशब्दो मन्त्रपरिसमात्यर्थः । य एवं विद्वानेतेनात्मानं संधत्ते यः संन्यासज्ञानयोगेनानसंधानं करोति स कृतकृत्यो भवतीत्पर्थः । शिष्टं आरुणिकनारदादौ सम्यक प्रपश्चितमित्पर्थः ॥ ।

इति प्रथमोऽध्यायः

#### द्वितीयोऽध्याय:

#### संन्यासाधिकारी

चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशा-सूयेष्याहंकारं दग्ध्वा साधनचतुष्टयसंपन्न एव संन्यस्तुमर्हति ॥ १ ॥

कः संन्यस्तुमर्हतीत्याकाङ्क्षायां आदौ संन्यासाधिकारिणं निरूपयित— चत्वारिंशदिति । साधनचतुष्टयसम्पन्न एव संन्यस्तुमर्हति इत्येतत् नारदपरिव्राजके व्याख्यातम् ॥ १॥

#### पतितलक्षणम्

संन्यासे निश्चयं कृत्वा पुनर्न च करोति यः । स कुर्योत्कृच्छ्मात्रं तु पुनः संन्यस्तुमर्हति ॥ २ ॥ संन्यासं पातयेद्यस्तु पतितं न्यासयेतु यः । संन्यासविद्यकर्ता च त्रीनेतान्पतितान्विदुः ॥ ३ ॥

किंच संन्यासं करोमीति संन्यासे निश्चयं कृत्वा । यः संन्यासम-धिक्षिपति पतितं न्यासयित संन्यासिविश्नमाचरित ते प्रत्यवायिनो भवन्तीत्याह— संन्यासिमिति ॥ २, ३ ॥

#### संन्यासानधिकारिण:

अथ षण्डः पिततोऽङ्गविकतः स्त्रैणो विधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चकी लिङ्गी वैखानसहरिद्धजो भृतकाध्यापकः शिपिविष्टो-ऽनिश्चको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः । संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः ॥ ४ ॥

> आरूढपतितापत्यं कुनखी श्यावदन्तकः । क्षयी तथाङ्गविकलो नैव संन्यस्तुमईति ॥ ९ ॥

संप्रत्यविसतानां च महापातिकनां तथा । व्रात्यानामभिशस्तानां संन्यासं नैव कारयेत् ॥ ६ ॥ व्रतयज्ञतपोदानहोमस्वाध्यायविजितम् । सत्यशौचपरिश्रष्टं संन्यासं नैव कारयेत् ॥ एतं नाईन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥ ७ ॥

संन्यासानधिकारिणो निर्दिशति—अथेति । **शिपिनिष्टः** विकसित-शेफः ॥ ४–७॥

#### संन्यासस्वीकारप्रकार:

ओं भूः स्वाहेति शिखामुत्पाट्य यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत्। यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेघां प्रयच्छेति यज्ञोपवीतं छित्वा ओं स्वाहेत्यप्सु वस्त्रं कटिसूत्रं विसृज्य संन्यस्तं मयेति त्रिवार-मभिमन्त्रयेत्॥ ८॥

उत्तदोषरिहताः संन्यासाधिकारिणो भवन्तीत्यधिकारिनिर्णयानन्तरं तत्करण-प्रकारमाह—ओमिति ॥ ८॥

#### संन्यस्तपुरुषस्तवः

संन्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाचलित भास्करः । एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छिति ॥ ९ ॥ षष्टिं कुलान्यतीतानि षष्टिमागामिकानि च । कुलान्युद्धरते प्राज्ञः संन्यस्तमिति यो वदेत् ॥ १० ॥ ये च संतानजा दोषा ये दोषा देहसंभवाः । प्रेषाप्तिर्निर्देहेत्सर्वोस्तुषाप्तिरिव काञ्चनम् ॥ ११ ॥

एवं विधिवत् संन्यस्तपुरुषं ज्ञानाधिकारिणं स्तौति—संन्यासिनिमिति । किं च—षष्टिमिति । सन्तानजा दोषाः दुष्पुत्रसंजाताः ॥ ९-११ ॥

#### दण्डपरिग्रह:

सखा मा गोपायेति दण्डं परिग्रहेत् ॥ १२ ॥

यद्यातुरो जीवति तदा तेन यथोक्तळक्षणं दण्डादिकं स्वीकार्यमित्याह— सखा मा गोपायेति दण्डं परिमहेदिति ॥ १२ ॥

#### दण्डलक्षणम्

दण्डं तु वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम् । पुण्यस्थलसमृत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम् ॥ १३ ॥ अद्ग्धमहतं कीटैः पर्वप्रन्थिवराजितम् । नासादश्नं शिरस्तुल्यं श्रुवोर्वा विभृयाद्यतिः ॥ १४ ॥ दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते । न दण्डेन विना गच्छेदिषुक्षेपत्रयं बुधः ॥ १९ ॥

दण्डलक्षणमाह--दण्डमिति ॥ १३-१५ ॥

#### कमण्डलुपरिग्रहः

जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं माते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्येति कमण्डलुं परिगृद्य योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा यथा-सुखं विहरेत् ॥ १६ ॥

### त्यन धर्ममधर्म च उमे सत्यानृते त्यन । उमे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यनिस तत्त्यन ॥ १७ ॥

कमण्डलुं च परिगृह्य देशिकमुखात् प्रणवमहावाक्योपदेशं लब्ध्या स्वाश्रमाचारपरो भूत्वा संश्वापदिपञ्चदोषशान्त्यन्तं वेदान्तश्रवणं कृत्वाथ योगपट्टामिषिक्तो मुनिः गुर्वनुङ्गया यथासुखमाप्रारब्धं विहरेदित्याह— जगदिति। ततस्तेन धर्मादिकर्तव्याकर्तव्यबुद्धिस्त्याज्येत्याह—त्यजेति॥१६,१७॥

#### संन्यासिनां चातुर्विध्यम्

वैराग्यसंन्यासी ज्ञानसंन्यासी ज्ञानवैराग्यसंन्यासी कर्म-संन्यासी चेति चातुर्विध्यमुपागतः ॥ १८ ॥

संन्यासः कतिविध इत्यत आह—वैराग्येति ॥ १८॥

#### वैराग्यसंन्यासी

तद्यथेति । दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्म-वज्ञात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥ १९ ॥

दृष्टानुअविकविषयवैतृष्ण्यमेस्य इहामुत्रार्थभोगतृष्णाविरतिमेस्य ॥ १९॥

#### ज्ञानसंन्यासी

शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतो देहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां च त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रवृत्तिं सर्वी हेयां मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञान-संन्यासी ॥ २० ॥

#### ज्ञानवैराग्यसंन्यासी

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानु-संघानेन देहमात्राविशष्टः संन्यस्य जातरूपवरो भवति स ज्ञान-वैराग्यसंन्यासी ॥ २१ ॥

#### कर्मसंन्यासी 1

ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्या-भावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी ॥ २२ ॥ षड्विधसंन्यासः

संन्यासः षड्विघो भवति कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसतुरीया-तीतावधूताश्चेति ॥ २३ ॥

#### कुटीचक:

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनशाटी-कन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्चादिमन्त्रसाधन-पर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्डूधारी त्रिदण्डः ॥ २४ ॥

#### बहुदकः

बहृद्कः शिखादिकन्थाघरस्त्रिपुण्डूघारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकबलाशी ॥ २५ ॥

#### हंस:

हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोध्वंपुण्ड्रधार्यसंक्लप्तमाधूकरात्राशी कौपीनखण्डतुण्डधारी ॥ २६ ॥

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> कमसंन्यासी इत्यपि उपादेय: पाठ: स्यात् ,

#### परमहंस:

परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्र्येक-कौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मो-द्भूलनपरः सर्वत्यागी ॥ २७ ॥

#### तुरीयातीतः

तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी, अन्नाहारी चेद्गृहत्रये, देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥ २८ ॥

#### अवधूत:

अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिशस्तवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगर-वृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः ॥ २९ ॥

''वैराग्यसंन्यासी '' इत्यारभ्य ''स्वरूपानुसन्धानपरः '' इत्यन्तं प्रायशो नारदपरिव्राजकोपनिषदि व्याख्यातम् ॥ १९–२९ ॥

#### प्रत्यग्ब्रह्मेक्यभावना

जगत्तावदितं नाहं सवृक्षतृणपर्वतम् ।
यद्वाद्वां जडमत्यन्तं तत्स्यां कथमहं विमुः ।
कालेनाल्पेन विलयी देहो नाहमचेतनः ॥ ३० ॥
जडया कर्णशष्कुल्या कल्यमानक्षणस्थया ।
शून्याकृतिः शून्यभवः शब्दो नाहमचेतनः ॥ ३१ ॥
त्वचा क्षणविनाशिन्या प्राप्योऽप्राप्योऽयमन्यथा ।
चित्प्रसादोपलब्धात्मा स्पर्शो नाहमचेतनः ॥ ३२ ॥

लब्धातमा जिह्नया तुच्छो लोलया लोलसत्तया। स्वल्पस्पन्दो द्रव्यनिष्ठो रसो नाहमचेतनः ॥ ३३ ॥ हरयदर्शनयोलीनं क्षयि क्षणविनाशिनोः। केवले द्रष्टरि क्षीणं रूपं नाहमचेतनः ॥ ३४ ॥ नामया गन्धज्ञह्या क्षयिण्या परिकल्पितः । पेलवोऽनियताकारो गन्धो नाहमचेतनः ॥ ३५ ॥ निर्ममोऽमननः ज्ञान्तो गतपञ्चेन्द्रियभ्रमः। शुद्धचेतन एवाहं कलाकलनवर्जितः ॥ ३६ ॥ चैत्यवर्जितचिन्मात्रमहमेषोऽवभासकः । सबाह्याभ्यन्तरे व्यापि निष्कलोऽहं निरञ्जनः । निर्विकल्पचिदाभास एक एवास्मि सर्वगः ॥ ३७ ॥ मयैव चेतनेनेमे सर्वे घटपटादयः । सर्यान्ता अवभास्यन्ते दीपेनेवात्मतेजसा ॥ ३८ ॥ मयैवैताः स्फ्ररन्तीह विचित्रेन्द्रियपङक्तयः। तेजसान्तःप्रकारोन यथाभ्रिकणपङक्तयः ॥ ३९ ॥ अनन्तानन्दसंभोगा परोपशमशालिनी । शुद्धेयं चिन्मयी दृष्टिर्जयत्यसिलदृष्टिषु ॥ ४० ॥ सर्वभावान्तरस्थाय चैत्यमुक्तचिदात्मने । प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥ ४१ ॥

कुटीचकादेः स्वरूपानुसन्धानवृत्तिः केनोपायेन जायते इत्यत्र संशयादि-पञ्चदोषशान्त्यन्तमीशाद्यशेत्तरशतवेदान्तश्रवणं कृत्वा श्रुतार्थमननतोऽनुसन्धा- नाख्यनिद्ध्यासनवृत्तिरुदेति इत्याह—जगदिति । जगतप्रविभक्तदेहः शब्दादयो वा त्वमसीत्यत आह—कालेनेति । लोलसत्त्या लोलमनोविशिष्टया । क्षियण्या क्षयशील्या । अचेतनः स्वातिरिक्तेन्द्रियोभ्वेरेल्यात् । चिन्मय-दृष्टाबुदितायां प्रत्यब्रह्मैक्यं भवतीत्याह—सर्वेति । पूर्वार्धस्तत्पदार्थः । उत्तरार्ध-प्रविभक्तद्वादशारस्त्वंपदार्थः । तदुपरि विद्यमानाक्षरचतुष्टयं तु असिपदार्थः । "नमस्त्वेक्यं प्रवदेत् " इति श्रुतेः ॥ ३०-४१ ॥

चितिशक्तिः तत्स्तुतिश्व

विचित्राः शक्तयः स्वच्छाः समा या निर्विकारया।
चिता क्रियन्ते समया कलाकलनमुक्तया।। ४२॥
कालत्रयमुपेक्षित्र्या हीनायाश्चैत्यबन्धनैः।
चितश्चैत्र्यमुपेक्षित्र्याः समतेवावशिष्यते॥ ४३॥
सा हि वाचामगम्यत्वादसत्तामिव शाश्वतीम्।
नैरात्म्यसिद्धान्तदशामुग्यातेव शिष्यते॥ ४४॥
ईहानीहमयैरन्तर्या चिदावलिता मलैः।
सा चिन्नोत्पादितुं शक्ता पाशबद्धिव पक्षिणी॥ ४५॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः।
धराविवरमग्नानां कीटानां समतां गताः॥ ४६॥

चिद्विकालिपतं सर्व चिद्वेत्याह—विचित्रा इति । उक्तविशेषणविशिष्टया चिता यतः पृथिव्यादिपञ्चभूतभौतिकगताः काठिन्यादिनानाविचित्रशक्तयो वर्तन्ते समा याः खात्मशक्तिमयाः क्रियन्ते "तत्सृष्ट्वा सच त्यचाभवत् " इति श्रुतेः । चिद्विकालिपतकाठिन्यादिशक्तयश्चिदेवेत्यर्थः । काल्त्रयकलनाकलितविचित्रशक्तीनां विषमरूपाणां चैत्यत्वेन विद्यमान्त्वात् विचित्रशक्तिहेतुश्चिदपि विषमा भवितुमर्हतीत्यत आह—कालेति । कालत्रयाविष्ठित्रनानावैषम्यविशिष्टचैत्य-पटलमस्तिनास्तीति विभ्रमापहृवकलनामप्युपेक्षित्र्याश्चितः कुतो विषमप्रसित्तः किंत्वचिदपहृवसिद्धचितः समतेव निष्प्रतियोगिकमवशिष्यते इत्यर्थः। विषम-वाग्गम्यचितः समता कुतः इत्यत आह— सा हीति । "यतो वाचो निवर्तन्ते" इति श्रुत्यनुरोधेन यस्याश्चितेर्वाचामगम्यत्वात् या हि पुनश्चित् स्वाङ्गदशायां देहाचितिरेकेण शाश्चतीमसत्तामापन्नेव दृष्टा या हि च पुनः स्वज्ञस्वाङ्गदृष्टि-विकल्पितसप्रतियोगिकात्मानात्मकलना यस्मान्निर्गतापहृवतां गता स निरात्मा तद्भावो नैरात्म्यम्।

> ''इदं चैतन्यमेवेति अहं चैतन्यमित्यपि । यस्य प्रपञ्चभानं न ब्रह्माकारमपीह न ॥''

इत्यादिश्रुत्यनुरोधेन निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया स्थितिरेव नैरात्म्यसिद्धान्तद-शेत्युच्यते । स्वाज्ञदृष्ट्या तु सा हि चित् नैरात्म्यसिद्धान्तदशां स्वरूपशृन्यता-मुपयातेव न हि परमार्थदृष्ट्रेस्तथा भिवतुमहित इवशब्दद्वयस्य परमार्थदृष्ट्यनु-कूलत्वात् । एवं द्योत्यते हीवशब्दद्वयतः स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसित निष्प्रतियोगिकं चिन्मात्रमवशिष्यत इत्यत्र—"स्वाज्ञस्वज्ञदशायां यदेकरूपतया स्थितम् । तिद्ध नैरात्म्यसिद्धान्तसत्तासामान्यमुच्यते ॥" इति स्मृतेः । एवं निष्प्रति-योगिकचिन्मात्रमबुध्वा ये स्वातिरिक्तेहानीहादिकलनाकलितं जगन्मात्रं मन्यन्ते ते धराविवरनिमग्नकीटतुल्या भवन्तीत्याह—ईहेति । निर्विशेषतया सा चिन्नो-त्पादितुं शक्ता । येषामेवं ते ॥ ४२-४६ ॥

#### अभेदानुभव:

आत्मनेऽस्तु नमस्तुभ्यमविच्छिन्नचिदात्मने । परामृष्टोऽस्मि बुद्धोऽस्मि प्रोदितोऽस्म्यचिरादहम् ॥ ४० ॥ उद्भृतोऽस्मि विकल्पेभ्यो योऽस्मि सोऽस्मि नमोऽस्तु ते । तुभ्यं मह्ममनन्ताय तुभ्यं मह्यं चिदात्मने ॥ ४८ ॥

नमस्तभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च। तिष्ठन्नपि हि नासीनो गच्छन्नपि न गच्छति । शान्तोऽपि व्यवहारस्थः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ४९ ॥ सलम्बायमत्यन्तं सज्जेयश्वाप्तवन्धवत् । शरीरपद्मकुहरे सर्वेषामेव षटपदः ॥ ५० ॥ न में भोगस्थितौ वाञ्छा न में भोगविसर्जने । यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत् ॥ ५१ ॥ मनसा मनसि च्छिन्ने निरहंकारतां गते। भावेन गलिते भावे स्वस्थितिष्ठामि केवलः ॥ ५२ ॥ निर्भावं निरहंकारं निर्मनस्कं निरीहितम् । केवलस्पनदशुद्धातमन्येव तिष्ठति मे रिपुः ॥ ५३ ॥ तृष्णारज्जुगणं छित्त्वा मच्छरीरकपञ्जरात । न जाने क गतोड़ीय निरहंकारपक्षिणी ॥ ५४ ॥ यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । यः समः सर्वभूतेषु जीवितं तस्य शोभते ॥ ५५ ॥ योऽन्तःशीतलया बुद्धचा रागद्वेषविमुक्तया । साक्षिवत्परयतीदं हि जीवितं तस्य शोभते ॥ ५६ ॥ येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता । चित्तस्यान्तेऽपितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ॥ ५७ ॥ याह्ययाहकसंबन्धे क्षीणे शान्तिरुदेत्यलम् । स्थितिमभ्यागता शान्तिर्मोक्षनाम्नाभिधीयते ॥ ५८॥

भ्रष्टबीजोपमा भूयो जनमाङ्कुरविवर्जिता। हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना ॥ ५९ ॥ पावनी परमोदारा शुद्धसत्त्वानुपातिनी । आत्मध्यानमयी नित्या सुष्तिस्थेव तिष्ठति ॥ ६० ॥ चेतनं चित्तरिक्तं हि प्रत्यक्चेतनमुच्यते । निर्मनस्कस्वभावत्वान्न तत्र कलनामलम् ॥ ६१ ॥ सा सत्यता सा शिवता सावस्था पारमात्मकी । सर्वज्ञता सा संतृप्तिर्नेनु यत्र मनः क्षतम् ॥ ६२ ॥ प्रलपन्विसृजन्गृह्यञ्चनिमषन्निमिषन्नपि । निरस्तमननानन्दः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६३ ॥ मलं संवेद्यमुत्स्रन्य मनो निर्मूलयन्परम् । आशापाशानलं छित्वा संविनमात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६४ ॥ अञ्चभाञ्चभसंकल्पः संशान्तोऽस्मि निरामयः। नष्टेष्टानिष्टकलनः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६५ ॥ आत्मतापरते त्यक्त्वा निर्विभागो जगितस्थतौ । वज्रस्तम्भवदातमानमवलम्बय स्थिरोऽसम्यहम् । निर्मलायां निराशायां स्वसंवित्तौ स्थितोऽसम्यहम् ॥ ६६ ॥ ईहितानीहितैर्भुक्तो हेयोपादेयवर्जितः। कटान्तस्तोषमेष्यामि स्वप्नकाशपदे स्थितः ॥ ६७ ॥ कदोपशान्तमननो धरणीधरकोटरे । समेष्यामि शिलासाम्यं निर्विकल्पसमाधिना ॥ ६८॥

निरंशध्यानविश्रान्तमूकस्य मम मस्तके ।
कदा तर्ण करिष्यन्ति कुलायं वनपत्रिणः ॥ ६९ ॥
संकल्पपादपं तृष्णालतं कित्त्वा मनोवनम् ।
विततां भुवमासाद्य विहरामि यथासुखम् ॥ ७० ॥
पदं तद्वुयातोऽस्मि केवलोऽस्मि जयाम्यहम् ।
निर्वाणोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि निरीप्सितः ॥ ७१ ॥
स्वच्छतोर्जितता सत्ता हृद्यता सत्यता ज्ञता ।
आनन्दितोपशमता सदाप्रमुदितोदिता ।
पूर्णतोदारता मत्या कान्तिसत्ता सदैकता ॥ ७२ ॥
इत्येवं चिन्तयन्भिश्चः स्वरूपस्थितिमञ्जसा ।
निर्विकलपखरूपज्ञो निर्विकलपो बमृव ह ॥ ७३ ॥

यत एवमविद्वांसो हीयन्ते अतः प्रस्माभित्नं ब्रह्मास्मीति बोधेन निर्विकल्पकब्रह्माहमस्मीत्याह आत्मन इति । एवं प्रस्मवप्रचिद्येक्यं ब्रह्म भवामीति परामृष्टोऽस्मि । एवं प्रस्माभेदेन य आस्ते सोऽयं स्वाज्ञलोकवत् तिष्ठन्नपीति । यज्ज्ञानेन मुनिर्लको भवति सोऽयमात्मा ब्रह्माहमस्मीति ज्ञातुं सुलभः । सः कुत्रासनमईतीस्त्र रारीरेति । एवमात्मानं जानतो न मे भोगस्थितौ वाञ्छा । कालकर्मसंयोगवद्यात् यदायाति तदायातु । एवं मनसा । पुरा स्वाज्ञदशायां स्वातिरिक्तं स्वरूपं शून्यमपि सत्यवदात्मिन प्रतिभातं इदानीं स्वज्ञदशायां तत् क गतं अहमेक एवाविश्वाण्यामीत्याह निर्मावमिति । विज्ञार्यमाणपुरानुभूतस्वातिरिक्तं निर्मावं अवस्तुत्वात् निरहङ्कारं देहाभावात् निर्मनस्कं अमनस्कत्वात् निरीहतं ईहनीयस्य मृग्यत्वात् तथापि स्वातिरिक्तन्नः सत्यवत् केवलस्पन्दशुद्धात्मन्येव तिष्ठति मे रिपुः । स्थित इति वर्तमानप्रयोगः छान्दसः । इदानीं श्रुत्याचार्य-

प्रसादतो निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रज्ञाने जातेऽथ स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रान्तितृषणा-रज्जुगणं छित्त्वा । देहादौ नितरामहंकारममकारपक्षौ यस्याः स्वातिरिक्तभानतेः सेयं निरहंकारपक्षिणी क गता अहमेक एवाविशाष्य इत्यर्थ:। यस्यैवं देहादावहंभावो नोदेति तजीवितं सफलिमलाह—यस्येति। शीतलया बुद्धया स्वातिरिक्ततापश्र्न्थया रागादौ सति धियस्तथात्वं कुत: इत्यत्र — रागेति । चित्तस्यान्ते चित्तावसाने ब्रह्मणि । स्वातिरिक्तवृत्त्यनुद्भूतिरेव तन्मोक्ष इत्याह— श्राह्येति । सर्वप्राणिनां वासनाविशिष्टत्वेन प्राह्यादिज्ञान्तिः कृतः शुद्धवासनावज्जीवन्मुक्तदृष्ट्या तच्छान्तिरुदेतीत्याह—भ्रष्टेति । प्राह्यादिकलना-संभवं मन्यमाना ग्रुद्धा भवति । यत्र चित्तं न संभवति तदेव चेतनिमत्याह— चेतनमिति। यस्यां चिति असत्यं मनोन्मनीभावं भजति सा सन्मात्र-रूपिणीत्याह—सेति । मानसतानवे देहादिव्यापृतौ सत्यसति संविन्मात्रोऽस्भी-त्याह—प्रलपन्निति । स्वातिरिक्तमननानन्दः विषयजातं उत्सुज्य । किंच— निर्मेळायामिति । तणी तृणरचितम् । अचिन्मात्रापह्नवसिद्धचिन्मात्रस्य निष्प्रतियोगितैव स्वच्छतादिस्वमात्रमवशिष्यत इति ज्ञानान्निर्विकल्पब्रह्मैव भव-तीत्याह—स्वच्छतेति । भिक्षुः स्वरूपस्थितिमञ्जसा प्राप्य । एवं सर्व-वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनप्रभवसम्यग्ज्ञानाप्तिसमकालमेव स्वातिरिक्तविकलपा-पह्नवसिद्धनिष्प्रतियोगिकनिर्विकल्पात्मना विद्वानवशिष्यत इति सर्ववेदान्तसिद्धान्त-सङ्ग्रहोऽर्थः ॥ ४७–७३ ॥

आतुरसंन्यासः, संन्यासिनां प्राप्यस्थानानि च

आतुरो जीवित चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः । न शूद्रस्त्री-पतितोदक्यासंभाषणम् । न यतेर्देवपूजा नोत्सवदर्शनम् । तस्मान्न संन्यासमेकल्लोकः । आतुरकुटीचकयोर्भूल्लोकभुवलीकौ । बहूदकस्य स्वर्गलोकः । हंसस्य तपोल्लोकः । परमहंसस्य सत्यलोकः । तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव केवल्यं स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ॥ ७४ ॥ आतुरो यदि जीवित तदा तेन किं कार्यमित्यत्राह—आतुर इति । क्रमसंन्यासमुपेयुषः परमहंसस्य चर्या कीद्दशीत्यत आह—नेत्यादि । कुटीच-कादिषणणां समानमेव तुरीयातीतादेः अयं विशेष इत्याह—न यतेरिति । यस्मादेवं तस्मात् । कुटीचकत्वादिसंन्यासभेदानुरोधेन तत्तज्ज्ञानानुरोधेन च तत्तत्प्राप्यलोकभेदोऽपि युज्यत इत्याह—आतुरेति । मुनिः ब्रह्म संपद्यत इत्यंः ॥ ७४ ॥

संन्यासिभिः स्वरूपानुसंधानं विना नान्यत्किमपि कार्यम्
स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रकुङ्कुमभारवद्वचर्थः । न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्वव्यापारो नेतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरिन्ति, अस्ति चेच्छवास्रंकारवत् ।
चर्मकारविद्यादूरः । न परित्राण्णामसंकीर्तनपरः । यद्यत्कर्म करोति
तत्तत्फलमनुभवति । एरण्डतैलफेनवत्सर्व परित्यजेत् । न देवताप्रसादग्रहणम् । न बाह्यदेवाभ्यर्चनं क्रयीत् ॥ ७५ ॥

यत एवमतः स्वरूपानुसन्धानव्यितिरक्तान्यशास्त्राभ्यासेः तत्तिसद्धान्तानुरूपं फलमेति न परमार्थफलं स्पृशति "अधीत्य गौतमीं विद्यां सार्गालीं योनिमाप्नुयात्" इत्यादिकुत्सितजन्मश्रवणात् । अतः शास्त्रान्तराभ्यासस्तु उष्ट्रकुङ्कुमभारवद्यर्थः । यथा चर्मकारो विद्यादूरस्तथाऽयं परमार्थविद्यातत्फलित्लो भवतीत्यर्थः । एतन्नामाहमाश्रमान्तर इति परिव्राण्णामसंकीर्तनपरः इत्यत्र "नामगोत्रादिवरणं देशं कालं श्रुतं कुलम् । वयो वृत्तं वतं शीलं ख्यापयेन्नेव सद्यतिः ॥" इति श्रुतेः । न ह्यस्य वाक्यस्य भगवन्नामनिषेधोऽर्थो भवितुमर्हति । तथाच श्रुतिस्मृती भवतः ।

''एकाकी निस्पृहस्तिष्ठेन हि केन सहालपेत्। दद्यानारायणेत्येवं प्रतिवाक्यं सदा यति:॥'' इति, ''सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः। नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥'' इति। किंच भगवन्नामस्मृतिविरतौ प्रत्यवायश्रवणाच्च।

> ''निवृत्ततेर्षेरुपगीयमानात् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् । क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुप्नात् ॥ ''

इति । भगवनाम्नः प्रत्यगभिन्नब्रह्मार्थत्वात् यतिभिर्विशेषतः सदानुसंधेयमित्यत्र --

" राज्ञब्दस्त्वीज्ञावाची स्यान्मज्ञब्दो जीववाचक: । तयोरेक्यं परं ब्रह्म राम इत्यमिधीयते ॥"

इत्यादिश्चते:,

''स्वान्या श्र्यपह्नवात् सिद्धा या मुक्तिश्रीर्विजृंभते । तद्रूपतो राजमानं महः श्रीराम ईरितम् ॥''

इति नामार्थविवेकोत्तेश्व । इत्यंभूतब्रह्मनिष्ठां विना यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फल-मनुभवित एरण्डतैल्फेनवत् अतः सर्व परित्यजेत् इहामुत्रभोगसाधने-च्ल्यात्युग्नं तपः कृत्वा तदनुकूलेन न देवताप्रसादग्रहणं कार्य इत्यर्थः । निष्कामबुद्धयानुष्ठिततपसोऽनन्तफलत्वात् न बाह्यदेवार्चनं कुर्यात् । यत्प्रत्यग-भिन्नब्रह्मबाह्यं प्रत्यगभिनं ब्रह्म यत्र नावाह्यते तद्वाह्यदेवार्चनं तत् कदापि न कुर्यात् 'सोऽहंमावेन पूजयेत् ' इति श्रुतेः ॥ ७९ ॥

#### तेषां चर्यादिकम्

स्वव्यतिरिक्तं सर्वे त्यक्तवा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन्कृशो भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्विहरेत् । माधूकरेण करपात्रेणास्यपात्रेण वा काळं नयेत् । आत्मसंमितमाहारमाहरेदात्मवान्यतिः ॥ ७६ ॥ आहारस्य च भागौ द्वौ तृतीयमुद्कस्य च । वायोः संचरणार्थीय चतुर्थमवशेषयेत् ॥ ७७ ॥ मैक्षेण वर्तयेक्तित्यं नैकान्नाशी भवेत्कचित्। निरीक्षन्ते त्वनुद्विप्रास्तद्गहं यत्नतो व्रजेत् ॥ ७८ ॥ पञ्चसप्तगृहाणां तु भिक्षामिच्छेत्रियावताम् । गोदोहमात्रमाकाङ्क्षेत्रिष्कान्तो न पुनर्वजेत् ॥ ७९ :। नक्ताद्वरश्चोपवास उपवासादयाचितः। अयाचिताद्वरं भैक्षं तस्माद्भैक्षेण वर्तयेत् ॥ ८० ॥ नैव सञ्यापसञ्येन भिक्षाकाले विशेद्गहान् । नातिकामेद्रहं मोहाद्यत्र दोषो न विद्यते ॥ ८१ ॥ श्रोत्रियात्रं न भिक्षेत श्रद्धाभक्तिबहिष्कृतम्। त्रात्यस्यापि गृहे भिक्षेच्छ्रद्वाभक्तिपुरस्कृते ॥ ८२ ॥ माधूकरमसंक्लसं प्राक्प्रणीतमयाचितम्। तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ ८३ ॥ मनःसंकल्परहितांस्त्रीनगृहान्पञ्च सप्त वा । मधुमक्षिकवत्कृत्वा माधूकरमिति स्मृतम् ॥ ८४ ॥ प्रातःकाले च पूर्वेद्यर्यद्भक्तः प्रार्थितं मुहः । तद्भैक्षं प्राक्प्पणीतं स्यात्स्थितं कुर्यात्तथापि च ॥ ८५ ॥ मिक्षाटनसमुद्योगाद्येन केन निमन्त्रितम् । अयाचितं तु तद्भैक्षं भोक्तव्यं च मुमुक्षुभिः ॥ ८६ ॥ उपस्थानेन यत्प्रोक्तं मिक्षार्थं ब्राह्मणेन तत्। तात्कालिकमिति ख्यातं भोक्तव्यं यतिभिस्तदा ॥ ८७ ॥ सिद्धमन्त्रं यदा नीतं ब्राह्मणेन मठं प्रति । उपपन्नमिति प्राहुर्मुनयो मोक्षकाङ्क्षिणः ॥ ८८ ॥ चरेन्माधूकरं भैक्षं यतिम्लेंच्छकुलाद्पि । एकान्नं न तु भुञ्जीत बृहस्पतिसमादपि। याचितायाचिताभ्यां च भिक्षाभ्यां कल्पयेतिस्थतिम् ॥ ८९ ॥ न वायुः स्पर्शदोषेण नाग्निर्दहनकर्मणा । नापो मूत्रपुरीषाभ्यां नान्नदोषेण मस्करी ॥ ९० ॥ विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भूक्तवज्जने । कालेऽपराह्वे भूयिष्ठे भिक्षाचरणमाचरेत् ॥ ९१ । अभिशस्तं च पतितं पाषण्डं देवपूजकम् । वर्जियित्वा चरेद्भैक्षं, सर्ववर्णेषु चापदि ॥ ९२ ॥ घृतं श्वमूत्रसदृशं मधु स्यात्सुरया समम्। तैलं सूकरमूत्रं स्यात्सूपं लञ्जनसंमितम् ॥ ९३ ॥ माषापूपादि गोमांसं क्षीरं मूत्रसमं भवेत्। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन घृतादीन्वर्जयेद्यतिः ॥ ९४ ॥ घृतस्पादिसंयुक्तमन्नं नाद्यात्कदाचन। पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकद्भैक्षमाचरेत ॥ ९५ ॥ आस्येन तु यदाहारं गोवनमृगयते मुनिः। तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ९६ ॥

माधूकरेणेत्युक्तार्थं श्रुतिरेव व्याकरोति—आत्मेति । भिक्षानियममाह— निरीक्षन्त इति । भिक्षां दत्वैव भोक्तव्यमिति ये निरीक्षन्ते । यथावच्छूति- स्मृत्युक्तसंस्काररिहतो हि ब्रात्यः । भिक्षां पञ्चधा विभज्य तत्रैकेन स्थिति नयेदित्याह—माधूकरिमिति । तत्र माधूकरलक्षणमाह—मन इति । प्राक्षपणीत-लक्षणमाह—प्रातिदिति । अयाचितलक्षणमाह—भिक्षेति । तात्कालिकलक्षणमाह—उपस्थानेनेति । उपपन्नलक्षणमाह—सिद्धिमिति । एकान्नापेक्षया भिन्न-जातिमाधूकरं श्रेष्ठमेवेत्याह—चरेदिति । यतीनां अन्नदोषो नास्तीत्यत्रोप-पित्तमाह—नेति । भिक्षाविधिः प्रामैकरात्राटनयतिविषयः । यतिरिदं मे स्यादिति इच्छापूर्वकं घृतादीन्नाश्चीयादित्याह—घृतिमिति । करोदरपात्रलक्षण-माह—पाणीति ॥ ७६–९६ ॥

#### यतीनां वर्ज्यानि

आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं परुष्ठमिव गन्धरुपनमशुद्ध-रुपनमिव क्षारमन्त्यजमिव वस्तमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव मित्राह्णाद्कं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरदेशं चण्डाल-वाटिकामिव स्त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं रमशान-स्थलमिव राजधानीं कुभ्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नम् । न देवतार्चनम् ॥ प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य जीवनमुक्तो भवेत् ॥ ९७ ॥

मन्त्रोक्तार्थं ब्राह्मणोऽप्यनुवदति आज्यमिति । ब्रह्मातिरेकेणाज्यादिकं नास्ति ब्रह्मेव सर्वमिति सर्वात्मभावारूढो मुनिः जीवन्मुक्तो भवतीत्पर्थः ॥ ९७॥

षञ्चितिपातकानि; पातित्ये दोषनिरूपणं च आसनं पात्रलोपश्च संचयः शिष्यसंचयः। दिवास्वापो वृथालापो यतीनां पातकानि षट्॥ ९८॥ वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम्। उक्तालाब्वादिपात्राणामेकस्यापीह सङ्ग्रहः॥ ९९॥ यतेः संव्यवहाराय पात्रलोपः स उच्यते । गृहीतस्य त दण्डादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः ॥ १०० ॥ कालान्तरोपभोगार्थं संचयः परिकीर्तितः । शुश्रुषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः ॥ १०१ ॥ शिष्याणां न त कारुण्याच्छिष्यसंग्रह ईरितः । विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते ॥ १०२ ॥ विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते । आध्यात्मिकीं कथां मुक्तवा मिक्षावार्त्तो विना तथा। अनुग्रहं परिप्रश्नं वृथाजल्पोऽन्य उच्यते ॥ १०३ ॥ एकान्नं मदमात्सर्यं गन्धपुष्पविभषणम् । ताम्बूलाभ्यञ्जने क्रीडा भोगाकाङक्षा रसायनम् ॥ १०४॥ कत्थनं कुत्सनं स्वस्ति ज्योतिश्च क्रयविक्रयम् । किया कर्मविवादश्च गुरुशास्त्रविलङ्घनम् ॥ १०५ ॥ संधिध विप्रहो यानं मञ्जकं शुक्कवस्रकम्। शुक्रोत्सर्गो दिवास्वापो भिक्षाधारस्तु तैजसम् ॥ १०६ ॥ विषं चैवायुधं बीजं हिंसां तैक्ष्ण्यं च मैथुनम् । त्यक्तं संन्यासयोगेन गृहधर्मादिकं व्रतम् ॥ १०७ ॥ गोत्रादिचरणं सर्वे पितमात्कुलं धनम् । प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो त्रजेदधः ॥ १०८ ॥ सुजीर्णोऽपि सुजीर्णासु विद्वान्स्रीषु न विश्वसेत्। सुजीर्णास्विप कन्थास सज्जते जीर्णमम्बरम् ॥ १०९ ॥

स्थावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम् । क षडेतानि न गृह्णीयाद्यतिर्मूत्रपुरीषवन् ॥ ११० ॥ नैवाददीत पाथेयं यतिः किंचिदनापदि । पक्तमापत्सु गृह्वीयाद्यावदंशं न लभ्यते ॥ १११ ॥ नीरुजश्च युवा चैव मिश्चनीवसथे वसेत्। परार्थ न प्रतिग्राह्यं न द्याच कथंचन ॥ ११२ दैन्यभावात्तु भूतानां सौभगाय यतिश्चरेत्। पकं वा यदि वापकं याचमानो व्रजेद्धः ॥ ११३ ॥ अन्नदानपरो भिक्षुर्वस्रादीनां प्रतिप्रही । आविकं वानाविकं वा तथा पटुपटानिष ॥ ११४ ॥ प्रतिगृह्य यतिश्चेतान्पतत्येव न संशयः। अद्वैतं नावमाश्रित्य जीवनमुक्तत्वमाप्नुयात् ॥ ११५ ॥ वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्कायदण्डे त्वभोजनम्। मानसे तु कृते दण्डे प्राणायामो विधीयते ॥ ११६ ॥ कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥ ११७॥ रथ्यायां बहुवस्त्राणि भिक्षा सर्वत्र रूभ्यते । भूमिः राज्यास्ति विस्तीर्णा यतयः केन दुःखिताः ॥ ११८ ॥ प्रपञ्चमितलं यस्तु ज्ञानामौ जुहुयाद्यतिः। आत्मन्यश्रीनसमारोप्य सोऽशिहोत्री महायतिः ॥ ११९ ॥

प्रवृत्तिर्द्धिविधा प्रोक्ता मार्जारी चैव वानरी।

ज्ञानाभ्यासवतामोतुर्वानरी भाक्तमेव च ॥ १२०॥
नाष्ट्रशः कस्यचिद्ब्र्यात्र चान्यायेन पृच्छतः।
ज्ञानन्नपि हि मेधावी जडवङ्कोकमाचरेत्॥ १२१॥
सर्वेषामेव पापानां संघाते समुपस्थिते।
तारं द्वादशसाहस्रमभ्यसेच्छेदनं हि तत्॥ १२२॥
यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम्।
तस्य द्वादशिमासिः परं ब्रह्म प्रकाशते॥ १२३॥
इत्युपनिषत्॥

मुनेरपीदं आसनादिषद्कं बन्धंकं भवतीत्याह—आसनिमित्। स्वकृत-सूत्रार्थं श्रुतिः स्वयमेव व्याच्छे—वर्षाभ्य इति। एकान्नादिप्रतिषिद्धधर्मा-चरणफलमाह—एकान्नमिति। स्वस्ति प्रियवाक्यम्। ज्योतिश्च दैवज्ञत्वम्। एतत्सर्व त्यक्तम्। एकान्नादिनिषिद्धाचरणं कदापि स्त्रियं वीक्ष्य तया सह रहिस न संवदेदित्यत्रोपपत्तिमाह—सुजीणोंऽपीति। केदारभृत्यबीजसुवर्ण-विषायुधपरिग्रहं कदापि न कार्यमित्याह—स्थावरिमिति। अनापदि पाथेयं न ग्राह्ममित्याह—नैवेति। पुनर्थतेहेंयोपादेयावाह—नीरुजश्चेत्यादि। आवसथे संसारिगृहे। धाष्टर्यभावं विहाय यस्तिष्ठति स्वस्मिन् दीनोऽयं साधुरित्यनुकम्पा भित्तः श्रद्धा वा भूतानां यथा भवेत् तथा देन्यभावात् साधुभावात् यतिर्भूतानां सौभगाय श्रेयसे चरेत् कदाप्युद्धेजनं न कुर्यादित्यर्थः। यदा भूतानां देन्यभावात् तेष्वार्तत्वमवगम्य तच्छ्रेयसे यतिश्चरेदित्यर्थः। कदापि स्वदेहधारण-मात्रेतरप्रतिग्रहं दानं वा न कुर्यादित्याह—पक्रमिति। द्वेतनदीमद्वैतनौकया तीर्त्वा तत्पारब्रह्मभावमेत्य जीवन्मुक्तो भवेदित्याह—अद्वैत्तिपिति। वाङ्मनः-कायवृत्तो सत्यां जीवन्मुक्तता कृत इत्यत्र तिन्त्रग्रहोपायमाह—वागिति। बन्धहेतुः कर्मेति विदित्वा कर्मसंन्यासं कुर्वन्तीत्याह—कर्मणेति। यस्मादेवं

तस्मान् । यतीनां दु:खाभावमाह—रथ्यायामिति । निरम्नेरप्यिमहोत्रित्वमाह—प्रपश्चमिति । परापरब्रह्मविषयकप्रवृत्तिः द्विधा भियत इत्याह—प्रवृत्तिरित । ज्ञानाभ्यासवतां निर्विशेषब्रह्ममात्रज्ञानिनां ज्ञानसमकालस्वभावापत्तिदृष्टान्तोऽयं ओतुः विडालः तस्य क्षणध्यानमात्रतो लक्ष्यप्रासत्वात् । अपरब्रह्मविषया प्रवृत्तिस्तु वानरी भाक्तमेव च मर्कटमुष्टिन्यायेन क्रमेण कार्यसाधिका भवतील्यर्थः । विद्वान् जडवलोकमाचरेदित्याह—नेति । पापराशौ सित विद्वत्ता कृतः इत्यत्र प्रणवनिष्टामिना पापकुलपर्वते भस्मावशेषितेऽथ विद्वान् भृत्वा ब्रह्ममत्रपर्यवसत्रो भवतीति शास्त्रमुपसंहरित— सर्वेषामिति । अर्थानुसन्धान-पूर्वकं तारं द्वादशसाहस्तं अभ्यसेत् । तस्य द्वादशिममितेः चित्तशुद्धिन्प्राप्यज्ञानद्वारा परं व्रद्धा स्वावशेषिया प्रकाशते इत्युपनिषन् इति । द्वादशसहस्त्रपणवजपतिश्वत्तशुद्धिरदेति ततः श्रुत्याचार्यप्रसादलब्बज्ञानं भवति । निर्विशेषसम्यग्ज्ञानसमकालं विद्वान् कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः संन्यासोपनिषत्समाह्यर्थः ॥ ९८-१२३ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्गह्मयोगिना । संन्यासोपनिषद्धाख्या लिखिता ब्रह्मगोचरा । संन्यासोपनिषद्धाख्याप्रन्थस्तु द्विशतं स्मृत: ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे पञ्चषष्टिसंख्यापूरकं संन्यासोपनिषद्विवरणं संपूर्णम्

## नामधेयपदसूची

## यत्र पुटसंख्यानन्तरं तिर्यप्रेखायाः परं संख्या वर्तते तत्र तावती पदावृत्तिर्वोध्या

| पदम्   |         | Ç         | <b>ुटसं</b> ख्या     | पद्म्         |  |              | पुट     | संख्या |
|--|---------|-----------|----------------------|---------------|--|--------------|---------|--------|
| अत्रि: .   | •       | .80, 85   |                      |               |  |              |         |        |
| आदित्य:.   |         |           | 906                  |               |  | •            |         |        |
| आदिनारायण:   |         |           |                      | परब्रह्मपुरम् |  |              |         |        |
| आरुणि: .   |         |           |                      | परमेष्ठी .    |  |              |         |        |
| ईश्वर: .   |         |           |                      |               | The state of the s |              |         |        |
| ऋभुः .   | •       | .४७, ७६   | , २१५                | ८७-२,         |  |              |         |        |
| ऋषभः .   |         |           |                      |               |  |              | 939,    | 969    |
| ऐक्ष्वाक:.   |         |           |                      | पिप्पलाद:     |  |              |         |        |
| केंलास: .  | •       |           | 999                  | प्रजापति:     |  |              |         |        |
| गौतमः  |         |           | 950                  | बृहद्रथ: .    |  |              |         |        |
| जडभरत:.  | •       | . ४७      | . 989                | बृहस्पति:     |  |              |         |        |
| जनकः .   |         |           |                      | ब्रह्मा .     |  | 9६६,         |         |        |
| दत्तात्रेय:. १-  | -२, ४७, | , ७६, १९१ | , २१५                | भरद्वाज: .    |  |              | Name of |        |
| दुर्वासाः .  |         | . ४७, ७६  | , २१५                | महादेवः.      |  |              |         |        |
| नारदः ५७,  |         |           |                      | मैत्रेयः .    |  |              |         |        |
| ८२, ८  | o, 90°  | ४, ११०,   |                      | याज्ञवल्क्य:  | ₹८–३   | , <b>४</b> ० | –ર,     |        |
| 하게 되는 사람들은 그들 때문에 다른 사람들이 가장 그렇게 되었다. 그 사람들은 사람들이 되었다. 그 사람들이 나를 다 살아 되었다. |         |           | ४२-३, ४५, ४६-४, १९०, |               |  |              |         |        |
| नारायण:  |         | ३४, ५१–३  | ५, १६६               |               |  | ₹'           | 1३, २   | १४–२   |

#### नामघेयपदसूची

| पदम्           | पुटसंख्या         | पद्म्        | पुटसंख्या          |
|----------------|-------------------|--------------|--------------------|
| ₩: .           | 944, 902          | शौनक: .      | १४९, १६०           |
| रेवतक: .       | ४७, ७६            | श्वेतकेतुः . | . ४७, ७६, १९१, २१५ |
| वसिष्टः .      | 990               | सहस्र: .     | 99३                |
| वामदेव:        | 99,9, 294         | साङ्कृति:    | •                  |
| विष्णुः .      | . १५६, १६८, १७८–२ | संवर्तक:     | . ४७, ७६, १९१, २१७ |
| शाकायन्य:      | 9९३, १९५          | हारीतक:      | 999, 294           |
| <b>গু</b> ক: . | 9९9, २१५          |              |                    |

1...

> errána Prince Prince

## विशेषपद सूची

F-50 14.1

## यत्र पुटसंख्यानन्तरं तिर्यग्रेखायाः परं संख्या वर्तते तत्र तावती पदावृत्तिबॉध्या

| पदम्              |    | • | q       | टसंख्या | पद्भ                     |  |                   |
|-------------------|----|---|---------|---------|--------------------------|--|-------------------|
|                   |    |   | •       |         |                          |  | पुरसंख्या         |
| अकल्पितमिक्षाः    | शा | • | •       | 938     | अनश्वरस्वरूपम्           |  | . 939             |
| अकार: .           |    | • | •       | 929     | अनाहतमन्त्रः             |  | . 986             |
| अकारांश:          | •  |   | •       | 950     | अनाहताङ्गी               |  | . 136             |
| अक्षयम् .         |    |   | •       | 938     | अनिमित्तसंन्यासः         |  | . ९०-३            |
| अभिवर्णम्         |    |   | •       | २९      | अनियामकत्वनिर्म          | ल्हांकि.                               | 934               |
| अप्रिष्टोम:       | •  | • | •       | 98      | अनुसन्धानम्              |  | 900, 990          |
| अग्निहोत्री       | •  | • |         | २५८     | अन्तर्जीवब्रह्म          |  | . ૧૫૬             |
| अङ्कुश: .         | •  |   |         | १३५     | अन्तरिशखोपवीति           |  | 948               |
| अजगरवृत्तिः       |    |   |         | 995     | अन्तस्तत्त्वमेलनम्       | The state of the state of the state of | . 178<br>. 948    |
| अजपा .            |    |   |         | 934     | अन्तःप्रणवः              |  |                   |
| अजिनम्            |    |   |         | 995     | अन्धः .                  |  | १७, १२०–२<br>े ७१ |
| अजिह्व:           |    |   | * × 100 |         | अपरसन्धि                 |  |                   |
| अज्ञाननिर्मान्यम् |    |   |         | १९९     | अभयम्                    |  | . 949             |
| अतिवर्णाश्रमी     |    | • |         |         |                          |  | . 17              |
| अद्वैतग्रन्थिः    |    |   |         | 990     | अभोजनम् .                |  | . २५८             |
|                   | •  |   |         | १५६     | अभ्यङ्गम् .              |  | . २५६             |
| अद्वेतसदानन्दः    | •  | • | •       | १३५     | <b>अ</b> श्रगजादितुल्यम् |  | : 1934            |
| अध्यात्ममन्त्राः  |    |   |         | 3.9     | अमरपदम् .                |  | 934               |
| अनन्तावयवाकारः    |    |   |         | 920     | अमृतः , .                | ४२,                                    | २२८, २३०          |

| पदम्                   | पुरसंख्या | पदम्                   |      |      | पुटसंख्या |
|------------------------|-----------|------------------------|------|------|-----------|
| अमृतक्लोलनदी           | . 9३४     | आत्मनिष्ठा             |      | •    | . २३४     |
| अमृतकहोलानन्दिकया .    | . 934     | आत्मविद्यातपोमृ        | लम्  | •    | . 9८७     |
| अमृतत्वम्              | ३, १२७    | आत्मश्राद्वम्          |      | •    | . 9६३     |
| अयज्ञोपवीती            | . ৬४      | आत्महा                 | •    |      | . १७३     |
| अयनक्षौरम्             | . 99६     | आत्मा .                | .80- | ٦. ٩ | २९, १९५–२ |
| अयाचितम्               | . 248     | आत्माराम:              |      | •    | ू ३७      |
| अयुतावयवान्वित: .      | . १२०     | आदानम्.                |      | •    | , १०६     |
| अर्थाः : ः .           | . १९५     | आदिब्रह्म              |      |      | . 9३५     |
| अर्धमात्रः             | . 9२9     | आनन्द:                 | •    |      | २, १८७    |
| अर्धमात्राप्रणवः       | . 99७     | आनन्दग्रहणम्           |      | •    | . १०६     |
| अर्थमात्रांशम्         | . १६७     | आनन्दभिक्षाशी          | •    | •    | . 934     |
| अलाबुपात्रम्           | . 9३      | आनन्दमाला              |      |      | . 9३४     |
| अव्यूतः १-२, २, ५२, ९२ | , ९४, २४४ | आनन्दवनम्              |      |      | . 9३५     |
| अवधूतमार्गस्थः         | 49        | आन्तरप्रणवः            |      | •    | . 99६     |
| अवस्था १०४,            | 904, 900  | आरूढच्युत:             | •    |      | . २३२     |
| अविमुक्तम् . ३८-२,     | ४०–३, ४१  | आर्षप्रणवः             |      |      | . 996     |
| अन्यक्तम्              | . २२४     | आसनम् .                |      | •    | . २५६     |
| अष्टश्रादम्            | . ८३      | उकारांश:               | •    | •    | . 950     |
| असिपत्रवनश्रेणी        | . ६८      | उत्पत्तिप्रणवः         |      |      | . १२०     |
| अस्त्रप्र: ,           | . 154     | वत्सर्गः .             | •    | •    | . 904     |
| अहंबहा                 | . 92      | उदरपात्रम्             |      | •    | . 98      |
| आकाशाधारम्             | . १३५     | <b>उदासीनकौपीनम्</b>   |      |      | . 9३४     |
| आग्नेयी                | . १६२     | उन्मनी .               | •    | •    | १२१, १३५  |
| आज्यम्                 | . २५६     | उन्मन्यवस्था           |      |      | . 9३५     |
| आतुरः                  | ६३, ९०    | उपदेशाधिकार:           | •    |      | . 99€     |
| आतुरकालः               | . ६२      | उपपन्नम् .             |      |      | . २५५     |
| आतुरकुटीचको            | . ९४      | उपस्पर्शनम्            | •    | •    | . २३७     |
| आत्मचिन्ता             | . १०६     | <b>अर्ध्वपुण्ड्</b> म् | •    |      | . 99६     |

| पदम्                             | पुटसंख्या      | पदम्                 | पुटसंख्या        |
|----------------------------------|----------------|----------------------|------------------|
| <b>ऊर्ध्वपुण्ड्</b> त्रिपुण्ड्म् | 99६            | कल्पविदूरगः          | . ३४             |
| ऊर्घ्वाम्रायः .                  | 9३४            | काठिन्यदृढकोपीनम् .  | . १४६            |
| ऋतुक्षौरम् .                     | 99६            | कामकामी              | . ४              |
| ऋतुद्रयक्षौरम् .                 | 996            | कामादिवृत्तिदहनम् .  | . <b>૧</b> ૪૬    |
| ऋषिः                             | ৭३४            | कालसूत्रपदवी         | . ६८             |
| एककौपीनम् .                      | 99६            | कुटीचकः ९१,९३,१९०,२२ | <b>५–२, २४३</b>  |
| एकत्रान्नम् .                    | २५६            | कुण्डलिनीबन्धः       | . 934            |
| एकदण्डी .                        | ८०, ९७, १७३–२  | कुरक्षेत्रम्         | . ३८–३           |
| एकयज्ञोपवीती .                   | 9६०            | कृतकृत्यत्वम्        | ٠ 4              |
| एकवारम् .                        | 994            | केलि:                | . १३४            |
| एकशाटी                           | 99६            | केशलः                | . २४८            |
| एकान्तम् .                       | २०२            | कैवल्यम् .८१, ९४,    | १३२, २५१         |
| एकान्तस्थानमठम्                  | 934            | कैत्रल्याश्रम:       | . ६५-४           |
| एकान्नम् .                       | . ११६, २५५     | कोपीनम्              | . 9२             |
| एकासनगुहा .                      | . , ৭३४        | कौपीनाधारम्          | . 28             |
| ओम् हि .                         | १४–३           | कमसंन्यासः           | ९०, २५१          |
| कथा                              | १३६            | क्रीडारतिः           | . <b>9</b> 0६    |
| कन्था                            | ৭३५            | कौर्यबुद्धः          | . 906            |
| करपात्रम् .                      | 198            | क्षारम्              | . २५६            |
| करुणा                            | ৭३४            | क्षीरम्              | . २५५            |
| कर्म                             | ६४             | खण्डम् ,             | . <b>૧</b> ૧૬    |
| कर्मनिर्मूलनम् .                 | १३६            | खेचरीमुद्रा          | . १३५            |
| कर्मभक्तिज्ञानवैराग्यम्          | 908            | गगनसिद्धान्तः        | . १३४            |
| कर्ममर्भज्ञाता .                 | ৭४९            | गतिः १३              | <b>५, १९४</b> –२ |
| कर्मसंन्यास:                     |                | गन्धः                | . २४५            |
| कर्मसंन्यासी ८९,                 | , ९०, २४२, २४३ | गन्धलेपनम्           | . २५६            |
| কতা                              | 929            | गायत्री              | . १३५            |
| कळातीता .                        | 929            | गाईस्थ्यम् , ,       | , ५६             |

| पदम्                      | पुटसंख्या  | पदम्                              | पुटसंख्या     |
|---------------------------|------------|-----------------------------------|---------------|
| गुहा                      |            | जायत्तेजसः .                      | 9 ६ ७         |
| गुहाच्छादकम् .            |            | जायत्प्राज्ञः .                   | 9६७           |
| गोदोहमात्रम् .            | ২५४        | जायत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाः        | 908           |
| गोत्रालसद्शम् .           |            | जात्रद्विश्व: .                   | 9६७           |
| गोमुखम्                   | , ९४, १२६  | जातरूपधरत्वम् .                   | 996           |
| याम:                      | 🐔 ६९, ११४  | जितेन्द्रिय: .                    | . ६७, १००–२   |
| ष्टुतम्                   | २५५        | जीव: २५-२, १०६-                   |               |
| चतस्रोऽग्स्थाः .          | १६७        |                                   | १८६, १९९      |
| चतुरङ्गुलवेष्टनम् .       | 948        | जीवत्वम् .                        | . ৭০৩–২       |
| चतुरवस्था .               | . , १५६    | जीशन्मुक्तः ९६,                   | :०४, १३५, २५६ |
| चतुर्दशकरणप्रवृत्तिः      | १६३        | जीवन्मुक्तत्वम् .                 | २५८           |
| चतुर्विधब्रह्मचर्यम् .    | ٠ , ٧٠     | जीवितम् .                         | . २४८–३       |
| चतुष्पदम् .               |            | ज्ञातचरदेश: .                     | २५६           |
| चतुष्पादं ब्रह्म .        | 9७७        | ज्ञानम् ६४, १०४                   | , १०६,        |
| चत्वारि स्थानानि          | ় ৰুডড     | १५९–ः                             | २, १८३–२, १९९ |
| चातुर्विध्यवानप्रस्थधर्मः | 40         | ज्ञानदण्डा: .                     | २२७           |
| चित्                      | २१९–६, २४६ | ज्ञानपर:                          |               |
| चित्तम्                   | १९५–३, २२२ | ज्ञानमयी                          | 9६०           |
| चिन्मयम् .                | 934        | ज्ञानमयीशिखा .                    | १८३           |
| चिराजिनदासः .             | 9४६        | ज्ञानयज्ञ:                        | २२७           |
| जगजीश्नम् .               | . ८६, २४१  | ज्ञानयज्ञोपवीतिन: .               | २२७           |
| जडवत्                     | ২५९.       | ज्ञानमृद्धः                       | २०४           |
| जन:                       | २३         | ज्ञानवैराग्यसंन्यासः              | ८८-२          |
| जन्ममृत्युप्रहाणिः        | 192        | ज्ञानवैराग्यसंन्यासी              | ८९, २४२, २४३  |
| जल्काभावदत् .             | 949        | ज्ञानशिखाः .                      | २२७           |
| जागरितम् .                | . ९५, १८६  | ज्ञानसंन्यासी . ८                 | :९, ९०, २४२–२ |
| जायत्                     | ৭০৭        | बाज़ी                             | . ં. ૧૨૮      |
| जात्रतुरीयः .             | 9६७        | ज्येष्ठा <b>्ये</b> हव्यवधानरहितः |               |

| पदम्                     |       |     | D)  | <b>,टसं</b> ख्या | पदम्                            |      |         | 9    | <sub>टिसंख्या</sub> |
|--------------------------|-------|-----|-----|------------------|---------------------------------|------|---------|------|---------------------|
| तस्वचिन्ता               | •     | •   |     | २०३              | त्रिषदणस्नानम्                  |      |         |      | ११५                 |
| तत्स्वरूपम्              |       | •   | •   | १३५              | त्रेघातवीया                     |      | ४४, ७३, | १६२  |                     |
| तप: .                    |       |     |     | ३५               | त्वं ब्रह्म.                    |      |         |      | 9-6                 |
| तपोयज्ञ: .               |       |     |     | २२७              | दण्डः                           |      |         |      | १२                  |
| तपोलोक:                  |       |     | ९४, | , २५१            | दारपात्रम्                      | •    |         |      | 93                  |
| तात्का लिकम्             |       |     |     | २५४              | दिगम्बरम्                       |      | •       |      | 996                 |
| तारम् .                  |       |     |     | २५९              | दिशस्वापः                       |      |         |      | २५७                 |
| तारकम् .                 |       |     |     | 990              | दीक्षा .                        |      |         | •    | ३२                  |
| तारकं ब्रह्म             |       | į   |     | ३८               | दीक्षासंतोषपादन                 | ाम्  |         |      | 938                 |
| तारकोपदेश:               | ,     |     |     | १३५              | देवता .                         | •    | •       |      | १३४                 |
| तिलकपुण्ड्रम्            |       |     | •   | 995              | देवयजनम्                        |      |         |      | ३८–३                |
| तीर्थभ्रान्ति:           |       |     |     | २०३              | देवात्मशक्तिः                   | •    |         | •    | 920                 |
| तुरीयम् .                |       |     | ९५, | 928              | देवार्चनम्                      | ٠    |         |      | 998                 |
| तुरीयतेजस:               |       |     | •   | १६७              | देह: .                          | •    | १९९, २० | o->, | 288                 |
| तुरीयप्राज्ञ:            | •     |     | •   | १६७              | द्वा त्रिंशतत्त्व <b>नि</b> ष्क | र्षः |         | •    | १५६                 |
| तुरीयविश्वः              | •     |     |     | १६७              | द्वादशादित्यादलो                | कता  | ι.      |      | 1 ३४                |
| तृरीयस्य चातुर्विध       | व्यम् |     |     | १६७              | द्वितीय: पाद:                   |      |         |      | १२४                 |
| तुरीयातीत:               |       | ९२, | 98, | २४४              | द्विशारम् .                     |      |         |      | ११५                 |
| तुर्यतुरीय:              |       |     | •   | १६७              | द्वैतभावनम्                     | •    | •       | •    | २०१                 |
| <b>तुर्या</b> तीतत्त्रम् | •     | •   |     | १०५              | धनवान् .                        | •    | •       | •    | १३२                 |
| तृतीय: पादः              |       | •   | •   | १२५              | धन्योऽहम्                       |      |         | ٠. ७ | , १६                |
| तैजस: .                  |       |     | •   | ९५               | धर्मलक्षणम्                     | •    |         |      | ६५                  |
| तैजसस्य चातुर्विध        | यम्   | •   |     | १६७              | धीर: .                          | •    |         |      | १२९                 |
| तैलम् .                  |       |     |     | २५५              | धैर्यकन्था                      | •    | •       |      | १३४                 |
| त्यागः .                 |       |     |     | १३५              | ध्यानम् .                       |      | •       | •    | 988                 |
| রি <b>द</b> ण्डी .       | •     | •   | •   | 908              | घ्याननिष्ठा                     | •    |         |      | १६९                 |
| त्रिपुण्ड्रम्            |       | •   |     | 998              | ध्यानाधिकारः                    | į    |         |      | 996                 |
| त्रिवृतस्त्रम्           |       | •   |     | 9.60             | ध्रुवशील:.                      | •    | •       | •    | 93                  |

| पदम्                          |         |   | पुट  | संख्या       | पदम्               |                       |      |               | पुट    | संख्या          |
|-------------------------------|---------|---|------|--------------|--------------------|-----------------------|------|---------------|--------|-----------------|
| नगरम् .                       | •       | • | 90   | <b>१४</b> −२ | पङ्गु:             | •                     |      |               | •      | ७१              |
| नगरायते.                      | •       | • |      | ६९           | पञ्चपादव           | ह्म                   | •    | •             |        | 944             |
| नर: .                         | •       | • | •    | २३           | पश्चमात्रा         |                       | •    |               |        | २२४             |
| नवतत्त्वम्                    |         | • |      | १५६          | पश्चयज्ञाः.        |                       | •    |               | २६५,   | २२६             |
| नाडीत्रयम्                    |         | • |      | १५१          | पंचविंशि           | तेत <del>र</del> वार् | ने   | •             | •      | 908             |
| नादः .                        | •       | • | १२१, | १५७          | पण्डक:             | •                     | •    |               |        | ৩০              |
| नारकी .                       |         | • |      | ७९           | पतितः              | vojije<br>•u jeju     |      |               | २०३,   | २३९             |
| नासी .                        |         |   | ४०   | , ४१         | पत्राक्षाक्षि      | <b>क्स</b> ण्ड        | लभाव | भावदह         | ्नम् . | १३५             |
| नित्यविनिश्वलः                |         | • | •    | ३४           | पन्थाः             |                       | •    |               |        | १६३             |
| निदिध्यासनम्                  | •       |   | ३१,  | 99७          | परमहंसः            | 88,                   | 99,  | ९३,           | 98,    |                 |
| निद्रालस्यौ                   |         |   | •    | १०६          | १३४                | , ৭৩३                 | ≀, ٩ | <b>૭</b> ૨, ' | 189,   |                 |
| निमित्तसंन्यासः               | •       |   | . 9  | ,0-9         |                    | २९                    | 14-3 | , રચ          | ५–२,   | २४४             |
| निरज्जनम्                     | •       |   |      | १३४          | परमहंसपा           | रिव्राजक              | :    | •             | १६५,   | १६९             |
| निरहङ्कारपक्षिणी              | •       |   |      | २४८          | परमहंसप            | रिवाट्                | •    | •             | •      | 948             |
| निरालम्बपीठम्                 | •       | • | १३४, | १३५          | परमानन्द           | पूर्ण:                | •    | •             |        | 4               |
| निर्गुणगुणत्रथम्              |         |   | •    | १३५          | परमानन्दं          | î                     |      | •             | •      | १३५             |
| निर्गुणप्रणत्र:               |         | • | •    | 920          | परमार्थता          | ibi.                  | •    |               |        | 8               |
| निर्देशभृतकन्यायः             | •       |   |      | ९६           | परमेश्वर:          |                       | •    | •             | १९५,   | २,१६            |
| निर्मलगात्रम्                 |         | • | •    | १३५          | पर <b>मे</b> श्वरस | ता                    | •    | •             |        | १३५             |
| निर्वाण:                      | •       |   | १३४, | १७९          | परसन्धि            |                       | •    |               |        | 949             |
| निर्नाणदर्शनम्                | •       | • | •    | 986          | परा .              |                       | •    | •             |        | १२१             |
| निर्विकल्पः                   | •       |   |      | २५०          | परापरविद           |                       |      | •             |        | ३६              |
| निष्कुलप्रवृत्तिः             | •       | • | •    | १३४          | परापवाद्र          | ुक्तः                 | •    |               |        | १३५             |
| निष्केत्रलज्ञानम्             | •       | • | •    | १३४          | परावरसंय           |                       | •    |               |        | १३५             |
| निस्नैगुण्यस्त्ररूपानु        | सन्धानम | Į | •    | १४६          | परावरैक्य          | रसास्त्रा             | दनम् | •             |        | १३५             |
| निस्संशयः                     | •       |   | ·    | १३४          | परिव्राजक          | ĭ:                    | •    |               | •      | १३४             |
| नीचयतिः                       |         |   |      | 909          | परित्राट्          |                       | . :  | 9, 9          | ३२-२,  | २३३             |
| <b>नैरात्म्</b> यसिद्धान्तद्व | π       |   |      | २४६          | परेच्छा चर         | णम्                   |      |               |        | १३४             |
|                               |         |   |      |              |                    |                       |      |               |        | William Control |

| परंत्रहाड्यवदाचरणम् १ १४७ पवित्रम्  | पदम्              |           |   | पुटसंख्या | पदम्                 |       |                | पुटसंख्या |
|---|-------------------|-----------|---|-----------|----------------------|-------|----------------|-----------|
| पश्चिमिळ्डाः . १२४ प्राज्ञः   | परंब्रह्मप्रववदाच | रणम्      |   | . १४७     | प्राक्प्रणीतम्       |       | •              | . २५४     |
| पश्चिमिल्काः . १ १ १४ प्राज्ञः . १ ९५ प्रत्यन्ती . १ ११ प्राण्णायम् . १४ प्राण्यायम् . १४ प्राण्वेवताः . १५५ प्राण्वेवताः . १५७ प्राण्वेवतिम् . १५७ प्राण्वेवतिम् . १५७ प्राण्वेवतिम् . १५७ प्राण्वेवतिन् . १५५ च्राण्वेवतिन् . १५५ च्राण् | पवित्रम् .        |           |   | . ३२      | प्राजापत्या          |       |                | ४४,१६२    |
| पाणिपात्रम्   | पश्चिमलिङ्गाः     |           |   | . ৭३४     | प्राज्ञ: .           |       |                |           |
| पाण्डरगगनमहासिद्धान्तः  | पश्यन्ती .        |           | • | . 929     | प्राज्ञस्य चातुर्विध | यम्   |                | . १६७     |
| पातकानि . ७१, २५६ प्राणायामः २५८ पातित्यम्  | पाणिपात्रम्       |           |   | . 9४      | प्राणदेवताः          |       |                | . 949     |
| पातित्यम्   | पाण्डरगगनमहा      | सिद्धान्त |   | . १३५     | प्राणहंस:            |       |                | . १५२     |
| पात्रलोपः १५७ प्रियम् १ १ पापबुद्धिः  | पातका <b>नि</b>   |           |   | ७१, २५६   | प्राणायाम:           |       | •              | . २५८     |
| पापबुद्धिः  | पातित्यम्         |           |   | . ६३      | प्रापश्चिकशिखोप      | शीतम् | ٠              | . ৭५७     |
| पारविवर्जितः  | पात्रलोप:         |           | • | . २५७     | प्रियम् '            |       |                | . ૧       |
| पारविवर्जितः  | पापबुद्धिः        |           |   | . 908     | प्रैषाभिः .          | •     |                | . २४१     |
| पुण्यात्रत्तिः  |                   |           |   | . 38      | प्रैषोचारणम्         |       | •              | . १६४     |
| पुरी  | पारहंस्यम्        |           |   | . २२०     | फलम् .               |       |                | . २५–२    |
| पूजा  | पुण्यावृत्तिः     |           |   | . १०६     | बधिर: .              |       |                | , ৬৭      |
| पूजा  | पुरी .            |           | • | . 9२9     | बहिस्सूत्रम् '       | 949,  | 950,           | 9८9, 9८२  |
| प्रणव:  | पूजा .            | •         |   | . २०४     |                      | •     | •              | . ४       |
| प्रजापतिः   | पौल्कस:           |           |   | . ৭৬३     | बहूदकः ९१, '         | ९३, ९ | s <b>y</b> , 9 | ९१,       |
| प्रणवहंस:   | प्रणत्र: .        | •         | · | .१५७–२    |                      |       | २२             | ५–२, २४३  |
| प्रणास:   | प्रजापतिः         |           | • | . ૧૭      | बाह्यप्रणवः          | •     |                | . 996     |
| प्रतिषिद्धानि ७८, २५७ बुद्धिः   | प्रणवहंस:         |           | • | . १५२     | बाह्यार्चनम्         | •     |                | . २०४     |
| प्रतिष्ठा ९८ ब्रह्म २२-४, २३, ३३, ३५-२,<br>प्रत्यक्चेतनम् २४९ ४५, ६४, ०३, १००, १२०,<br>प्रथम: पाद: १२४ १२३-२, १२८, १५७,<br>प्रमाणम् २५-२ १६७, १७९, २०८, २१४,<br>प्रमाता २५-२ ब्रह्मम् १२८-२   | प्रणासः .         |           |   | . २१६     | बिन्दुः .            | •     |                | . ૧૨૧     |
| प्रत्यक्चेतनम् २४९ ४५, ६४, ७३, १०७, १२०, प्रथम: पाद: १२४ १२३-२, १२८, १५७, प्रमाणम् २५-२ १६७, १७९, २०८, २१४, प्रमाता २५-२ व्हाम्   | प्रतिषिद्धानि     | •         |   | ७८, २५७   | बुद्धिः .            |       |                | १०४, १०६  |
| प्रथम: पाद:   | प्रतिष्ठा .       |           |   | . ९८      | ब्रह्म २२-४, २       | 3, 3  | <b>३, ३</b> ५. | -3,       |
| प्रमाणम् २५-२ १६७, १७९, २०८, २१४,<br>प्रमाता २५-२ २२३, २३०, २३३, २४०, २५९<br>प्रमेयम् २५-२ ब्रह्मम्   | प्रत्यक्चेतनम्    | •         | • | . २४९     | ४५, ६४, ५            | १३, १ | ०७,१           | २०,       |
| प्रमाता २५-२ २२३, २३०, २३३, २४०, २५९<br>प्रमेयम् २५-२ ब्रह्मम्  | प्रथम: पाद:       |           |   | . १२४     | १२३–२,               | 926   | , 9'           | 40,       |
| प्रमेयम् २५-२ ब्रह्मम्  | प्रमाणम्          |           | • | . २५–२    | १६७, १७              | ९, २  | ०८, २          | 98,       |
| 되었습니다. 그렇게 나가지는 사람들은 그는 이 사람이 되어 있다. 그런 이 아이를 하고 나는 사람들이 다른 분들이 일어서 살려서 이 살아지다니다. 그 아이를 하는 것이 없는 것이다.   | प्रमाता .         |           |   | . २५–२    | २२३, ३               | २३०,  | २३३,           | २४०, २५९  |
| प्रमोदः २ ब्रह्मचक्रम् १२७  | प्रमेयम् .        |           | • | . २५–२    | ब्रह्मम् .           |       | •              | .9२८–२    |
|   | प्रमोदः .         | •         |   | . २       | ब्रह्मचक्रम्         |       | •              | . १२७     |

| पदम् पुः                                 | टसंख्या | पदम्              |        |       | g;            | रसंख्या       |
|--|---------|-------------------|--------|-------|---------------|---------------|
| ब्रह्मचर्यशान्तिसंग्रहणम्                | 980     | <b>भैक्षमुक्</b>  |        |       | <b>Ę</b> 8, 9 | <b>ξ</b> \4_2 |
| ब्रह्मचारिण:                             | ४२      | भ्रमरकीटन्याय:    | ٧٤,    | ९४, १ | 03,           |               |
| ब्रह्मत्वम्                              | १५२     |                   |        |       | 908,          | २५१           |
| ब्रह्मपुच्छम्                            | २, २३   | भ्रान्तिहननम्     |        | •     |               | १४६           |
| ब्रह्मप्रणव: ११६, ११७, ११८,              |         | मकार: .           | •      |       |               | 929           |
| १२२, १२६, १६६–२,                         | १६७     | मकारांश:          |        |       |               | १६७           |
| ब्रह्मभूत:                               | २१९     | मठ: .             | •      |       |               | १३५           |
| ब्रह्मभूयसे                              | 900     | मधु .             |        |       |               | २५५           |
| 회의 생활이 많다면 하는 것으로 하게 되는 것이 없는 것이 없는 것이다. | ₹८–३    | मध्यमा            | •      |       |               | 929           |
| ब्रह्मसूत्रम् , १०                       | ,१५९    | मनः .             |        | 908,  | 984,          | २२२           |
| ब्रह्मस्वरूपम्                           | 920     | मननम् .           |        | •     |               | 990           |
| ब्रह्महा                                 | १७३     | मनोनिरोधिनी       | •      |       | •             | १३५           |
| ब्रह्माकाशः                              | १२६     | मनोन्मनी          |        |       |               | 929           |
| ब्रह्माखण्डाकारम्                        | 983     | मनोवागगोचरम्      |        |       | •             | १३५           |
| ब्रह्माण्डादि                            | २२      | मन्त्रचिन्ता      |        |       |               | २०३           |
| ब्रह्मानन्दः                             | २४      | मन्त्रजपाधिकार:   |        |       |               | 998           |
| ब्रह्मावलोकयोगपदः                        | १३४     | मन्मथक्षेत्रपालाः |        |       |               | १३४           |
| ब्राह्मण:                                | ८٩      | महामख:            |        |       |               | ३             |
| भगवान्                                   | २१६     | महायोग:           |        | •     |               | 3             |
| भस्मस्नानम्                              | 994     | महावाक्यम्        |        | •     |               | १६४           |
| भस्मोद्भूलनम्                            | 99६     | महावाक्योपदेशा    | धिकार: |       |               | ११६           |
| भास्यविलक्षणः                            | . ३४    | महावीचिवागुरा     |        | •     |               | ६८            |
| भिक्षाचरणम्                              | २५५     | महावतम्           | •      |       | •             | ४             |
| भुवलींकः                                 | २५१     | महाश्मशानम्       | •      |       |               | १३५           |
| फ़्तः                                    | १५१     | मात्राः .         | •      | •     |               | २२४           |
| भूतात्मा                                 | १९५     | मात्वम् .         |        |       |               | 98            |
| भूलोंक:                                  | २५१     | माध्करम्          |        |       | 99६,          | = ५४          |
| भैक्षम् १९९, २०१-२, २५४-२,               | २५५     | मानसस्रानम्       | •      |       |               | ११५           |

| पदम् पुटसं                  | ल्या <sub> </sub> पदम् | पुटसंख्या |
|-----------------------------|------------------------|-----------|
| मानसार्चन्म् १              | १६ यथोक्तः .           | \$9       |
| मानुषप्रणवः १               | १६ यन्मन्युः           | 39        |
| मायाममताहङ्कारदहनम् १       | ३६ यन्मृत्युः .        |           |
| मार्गः                      | ३५ यादच्छिक: .         | . ৬৭, ৭৭২ |
| मार्जारी २५९                | −२   योगयज्ञ: •        | २२७       |
| माषाप्पादि २                | ५५ योगी                |           |
| मित्राह्लादकम् २'           | ९६ रञ्जुसर्पत्रत् .    | 934       |
| मिथुनम्                     | <b>६९ रसः</b>          | २४५       |
| मुक्तः ५७–२, १३१–२, २०१, २० | • ४ रसास्वादनम्        | 906       |
| मुक्तस्य लक्षणम्            | ९ राजधानी .            | २५६       |
| मुक्तासनसुखगोष्ठी १         | १४ ह्यम्               | ২১५       |
| मुक्तिः : २०                | , २ हपग्रहणम .         | 904       |
| मुख:                        | ∘ <b>ी लौकिकम्</b>     | २००       |
| मुमुञ्चः १                  | । १ वरणा               | . ४०,४१   |
| मूढ:                        | ३ वस्त्रम्             | २५६       |
| मृत्पाबम्                   | ।३ वाग्व्यापार: .      | 906       |
| मैत्रः                      | । १ वानप्रस्थाश्रम: .  | ५६        |
| मेथुनमष्टाङ्गम् :           | १९   वानरी             |           |
|                             | १६ वायव्यस्नानम् .     | 994       |
|                             | ० वासना                | ২४९       |
| मोक्षाश्रमः२३१-             | -२ विकारदण्डः .        | ৭২५       |
| मोदः                        | २ विक्षेप:             | ६–२       |
| मौनम् २९                    | ८ विचारदण्डः .         | ৭২৮       |
| यज्ञोपवीतम् ४६, ८५२. १६५    | विदेहमुक्तिः .         | ৭६৬       |
| १६८, १८१, १८४, २३           | ७ विद्वत्संन्यासी .    | 24        |
|                             | .३ विसुः               | २४४       |
| यतिवृत्तिहा ९७,१७           | ३ वियोगोपदेश: .        | ৭২৮       |
| यतेर्नियमं: , १९            | ३ विरजाहोम:            | . , 9६३   |
|                             |                        |           |

| पदम्               |         |           | पुट         | संख्या | पदम्             |             |       | ga          | संख्या      |
|--------------------|---------|-----------|-------------|--------|------------------|-------------|-------|-------------|-------------|
| विराट् .           |         | •         |             | १२०    | शतावयवोपेत:      |             |       |             | 920         |
| विराट्प्रणवः       |         | 196, 9    | 120,        | 929    | शब्द: .          | •           | •     |             | २४४         |
| विविदिषासंन्यास    |         |           |             | ८६     | शब्दग्रहणम्      |             | •     |             | 904         |
| विवेकरक्षा         |         |           |             | १३४    | शरीरम् .         | •           | •     | ۲8,         | 988         |
| विवेकलभ्यम्        | •       | •         |             | १३५    | शरीरत्रयम्       | •           |       | •           | ७६          |
| विश्व: .           | •       |           |             | ९५     | शवालंकारवत्      |             | •     | ९६,         | २५२         |
| विश्वमायानिश्वतिः  |         |           |             | 926    | शाटीद्वयम्       |             |       |             |             |
| विश्वरूप: .        | •       | •         | •           | २२९    | शान्तिः          | . 909       | ३, १२ | 9, २४       | rc-2        |
| विश्वस्य चातुर्विध | यम्     | •         | •           | 950    | शान्तिदान्ती     |             |       |             | 908         |
| विश्वायमनुसंयोग    |         |           | •           | ३२     | शान्त्यतीता      | •           | •     | •           | १२१         |
| विश्वास:           | •       | •         | •           | २०२    | शारदाचेष्टा      | •           | •     | •           | १३५         |
| विष्णुलिङ्गम्      |         | •         | .२३         | 9-2    | शाश्वतम्         | •           |       | •           | 964         |
| विष्णुविध्यादिश    | ताभिधान | ालक्ष्यम् | •           | १३५    | शास्त्रचिन्तनम्  | •           |       |             | २०३         |
| त्रथाजल्प:         |         | •         |             | २५७    | शिखा .           |             | 1३५,  | 968,        | २३७         |
| वेदपुरुष:          | •       | ५१, १     | ξ٩,         | 909    | शिखी .           | •           | ७४,   | १५९,        | 963         |
| वेदयोनिः           | •       | •         | •           | १५२    | शिवम् .          | •           | •     |             | <b>न</b> ३० |
| वेदानुशासनम् २     | २४, २   | २८, २     | <b>₹</b> ₹, |        | शिवयोगनिदा       | •           |       |             | १३५         |
|                    |         | २         | <b>₹</b> ₹, | २३४    | शिवशक्तिसंपुटित  | प्रपश्चच्छे | दनम्  | •           | १३५         |
| वैणवम् .           | ·       |           | •           | २४१    | शिष्यसंग्रहः     |             |       |             | २५७         |
| वैराग्यम् .        | •       | ٠ ٩       | ٥٧,         | 905    | शीतवातोष्णत्राण  | करम्        | •     |             | ٤ ۾         |
| वैराग्यसंन्यासः    | •       |           | •           | 66     | शुक्रध्यानपरायण: |             |       | <b>હ</b> દ્ | 99.9        |
| वराग्यसंन्यासी     | . 66,   | ९०, ः     | १४२–        | २      | शुद्धम् .        |             |       | . ২         | ५–२         |
| वैश्वानरेष्टिः     | •       | •         | •           | २३६    | शुद्धचेतन:       |             | •     | •           | २३५         |
| व्यक्तम् .         |         | •         | •           | २२४    | शुद्धशौचम्       |             | •     |             | २००         |
| व्यवहार:           | •       | •         | •           | ६–२    | शूल्यम् .        | •           |       | •           | १३५         |
| व्यापारा:          | •       |           |             | 904    | श्रूर: .         | •           | •     |             | 96          |
| व्यावहारिकप्रणवः   |         | •         | •           | 996    | शौचम् .          |             | .98   | ९, २०       | 9–२         |
| शतस्द्रीयम्        | •       |           | .•          | ४२     | श्रवणम् .        |             | •     |             | 99७         |

| <b>यदम्</b>            | पुटसंख्या    | पदम्                       | पुटसं <del>ख</del> ्या |
|------------------------|--------------|----------------------------|------------------------|
| षट्पदवृत्तिः .         | . 9३२        | सर्वलोकात्मक: .            |                        |
| षड्मिरहित: .           | • 998        | सर्वविद्या .               | 920                    |
| षड्भावविकारश्र्न्य:    | . ৭৭४, ৭६९   | सर्वविन्न्यासः .           | 9४७                    |
| षड्विधगाईस्थ्यम्       | 40           | सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार:   | २५                     |
| षण्णत्रतितत्त्वानि     | . , 946      | सर्वसन्देहनाशनम्           | ৭४৬                    |
| षोडशमात्रात्मक: .      | ୩६६          | सर्वोत्तमः .               | ৭০९                    |
| षोडशमात्रात्मकत्वम्    | 939          | सहस्रावयवान्वित:           | 970                    |
| षोडशमात्रारुढाः .      | , পৃহ্ড      | साक्षी                     | ६, १०७, १८५            |
| सङ्केत:                | 934          | साधनचतुष्ट्यसंपन्न:        | ५७, २३९, २४२           |
| सिचदेकरस: .            | 9२५          | सुखम्                      | 924.                   |
| सञ्चय:                 | २५७          | सुवर्णम्                   | २५६                    |
| सन्नार:                | 9•६          | सुषुप्तम् . ९५, १५         | , <sup>1</sup> , 928,  |
| सत्यलोक: .             | . ୧४, २५१    |                            | १२५–२, १८६             |
| सत्यसिद्धियोग: .       | 934          | सुषुप्ततुरीय:              | १६७                    |
| सत्त्वम्               | 9९५          | सुषुप्ततेजसः .             | . 9६७                  |
| सदानन्दस्त्ररूपदर्शनम् | 9३५          | सुषुप्तप्राज्ञः .          | ୁ ୩६७                  |
| सद्यति:                |              | सुषुप्तविश्वः .            | , ৭६৬                  |
| सनामधेय: .             | २९           | <b>सुषुप्तश्येनाकाशवत्</b> | 949                    |
| सन्ततोक्षिकमण्डलम्     | १३६          | सूत्रम् ७४-६,१५८-३         | ,૧૫૧–૫,                |
| सन्धानम् .             | 940          | 969-                       | ४, १८२, १८३–२          |
| सन्ध्या                | ४१, १७३, २०२ | सूत्रविद: .                | , . , ৭५९              |
| सपवित्रम् .            | 9६९          | सूपम्                      | २५५                    |
| सप्तविंशतितत्वसंबन्धः  | 94,६         | स्रयः                      | . , २०४                |
| सभास्थलम् .            | २५६          | सृष्टिप्रणवः .             | 199                    |
| समता                   | २४६          | सोऽहम्                     | ৭३४                    |
| समयः                   | 9४६          | सोऽहंभावः .                | 999                    |
| समाधिः                 | ६-२          | सोऽहंभावना .               | . 998                  |
| सर्वभूतान्तर्वती .     | , ৭३४        | संन्यस्तः .                | ., २३६                 |
| 医骶骨切除 医多克耳氏 医多亚氏氏管切除术  |              |                            |                        |

| पदम्            |      | g        | टसंख्या | पदम्                 |            |        | पुट  | संख्या |
|-----------------|------|----------|---------|----------------------|------------|--------|------|--------|
| संन्यस्तपुष्पाः | •    |          | २२५     | स्वप्रप्राज्ञ:       |            |        |      | १६७    |
| संन्यास: ८७,    | 980, | १६४, २०२ | , २३६   | स्वप्नविश्वः         |            |        |      | १६७    |
| संयोगदीक्षा     |      |          | १३४     | स्वप्रकाशब्रह्मतत्त् | <b>रम्</b> |        | •    | १३५    |
| संविन्मात्रपरः  | •    | . ?      | ४९–३    | स्वरूपस्थितिः        | •          |        | ٠    | २०५    |
| संसरणम्         | •    |          | ٩, ३    | स्वरूपानुसन्धानम     | Į          | • 14   |      | १३२    |
| संसारतारकम्     | •    |          | 990     | स्वर्गलोक:           | •          | •      | ٩.૪, | २५१    |
| संहार: .        |      |          | 920     | स्वर्ग्यः .          |            |        |      | 96     |
| संहारप्रणव:     | •    | . ৭৭৬    | , 996   | स्वसंवित्            |            |        | •    | १३५    |
| स्त्री .        |      |          | २५६     | स्वहृदयार्चनम्       |            |        |      | २०४    |
| स्नानम् .       |      | १९९, २   | 00-8    | स्वाध्याययज्ञः       |            | •      |      | २२७    |
| स्पर्शः .       | •    |          | २४४     | स्वानुभवः            | •          | •      |      | 206    |
| स्पर्शग्रहणम्   |      |          | 905     | स्वान्तरिन्द्रियनि   | प्रह:      |        |      | १३५    |
| स्यहा .         |      |          | २५६     | स्वान्तस्सूत्रम्     | •          |        |      | 950    |
| स्वधर्मः .      | •    |          | ১৩      | स्वेच्छाचारस्वभा     | व:         |        | •    | १४६    |
| स्त्रप्रम् .    | •    | ९५, १०५  | 925     | हृदयम् .             |            |        |      | ঀড়ড়  |
| स्त्रप्रजगत्    | •    |          | १३५     | हंस: ९१, ९३,         | 98, 9      | २७, १३ | 8    |        |
| स्त्रप्रतुरीय:  |      |          | १६७     | 94,                  |            |        |      | 5.83   |
| स्वप्रतेजमः     |      |          | १६७     | हंसाचार: .           |            |        |      | १३४    |

## ब्रह्मादिमुक्तिकान्तानां (९८) उपनिषदामकारादिक्रमः

| संख्या     | उपनिषदां नामानि        | ईशादिसंख्या | संपुटनाम   | पुटसंख्या |
|------------|------------------------|-------------|------------|-----------|
|            |                        |             |            |           |
| ۹,         | अक्षमालिकोपनिषत्       | Ęv          | शैव०       | ٩         |
| ٦.         | अक्ष्युपनिषत्          | ७२          | सामान्यवे० | ٩         |
| ₹.         | अयर्वेशिखोपनिषत्       | •3          | शैव०       | 90        |
| 8.         | अथर्वशिर उपनिषत्       | २२          | शैद०       | २०        |
| ч.         | अद्वयतारकोपनिषत्       | ৸३          | योग० ्     | 9         |
| ξ.         | अध्यात्मोपनिषत         | ७३          | सामान्यवे० | १२        |
| ৩.         | अन्नपूर्णीपनिषत्       | ৩০          | सामान्यवे० | ે ર       |
| ٥.         | अमृतनादोपनिषत्         | २१          | योग०       | 99        |
| ٩.         | अमृतबिन्दूपनिषत्       | २०          | योग०       | २६        |
| 90.        | अवधूतोपनिषत्           | ७९          | सन्न्यास०  | 9         |
| 99.        | अव्यक्तोपनिषत्         | ६८          | वैष्णव०    | ٩         |
| 93.        | आत्मबोधोपनिषत्         | ४२          | सामान्यवे० | 80        |
| 93.        | आत्मोपनिषत्            | ७६          | सामान्यवे० | 9a        |
| 98.        | आरुण्युपनिषत्          | १६          | सन्न्यास०  | 8         |
| 94.        | एकाक्षरोपनिषत्         | ६९          | सामान्यवे० | 908       |
| 9६.        | कठरद्रोपनिषत्          | ૮રૂ         | सन्न्यास०  | 90        |
| ৭৬.        | कलिसन्तरणोपनिषत्       | 903         | बैष्णव•    | 9 €       |
| 96.        | कालाभिरुद्रोपनिषत्     | ₹८          | शैव०       | ३९        |
| 98.        | कुण्डिकोपनिषत्         | ષ્ઠ         | सन्न्यास०  | २७        |
| २०.        | कृष्णोपनिषत्           | ९६          | वैष्णव०    | 29        |
| २.<br>२१.  | कैवल्योपनिषत्          | 93          | शैव॰       | ४६        |
| २१.<br>२२. | कौषीतिकत्राह्मणोपनिषत् | રપે         | सामान्यवे  | 999       |
| २३.        | क्षुरिकोपनिषत्         | 39          | योग०       | 3 €       |

| संख्या<br>'   | उपनिषदां नामानि                  | ईशादिसंख्या | संपुटनाम     | पुटसंख्य |
|---------------|----------------------------------|-------------|--------------|----------|
| २४.           | गणपत्युपनिषत्                    | <b>د</b> ٩  | शैव०         | 46       |
| રૂપ.          | गरुडोपनिषत्                      | 902         | वैष्णव०      | 32       |
| २६.           | गर्भोपनिषत्                      | 90          | सामान्यवे०   | 982      |
| રહ.           | गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत्         | ९५          | वैष्णव०      | 89       |
|               | गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्         | ९५          | वैष्णव०      | 46       |
| २८.           | जाबालोपनिषत्                     | 93          | सन्न्यास०    | 36       |
| २९.           | जाबाल्युपनिषत्                   | 908         | शैव०         | દ્રષ     |
| ₹०.           | तारसारोपनिषत्                    | 93          | वैष्णव ०     | 96       |
| ફે9.          | तुरीयातीतावधूतोपनिषत्            | ६४          | सन्न्यास०    | 49       |
| <b>રે</b> ૨.  | तेजोबिन्दूपनिषत्                 | ३७          | योग०         | ४५       |
| <b>३</b> ३.   | त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत्   | ५२          | वैष्णव०      | 28       |
| ₹४.           | त्रिपुरातापिन्युपनिषत्           | 60          | <b>গাক্ত</b> | 99       |
| રૂપ.          | त्रिपुरोपनिषत्                   | ८२          | হাাক্ক৹      | ٩        |
| <b>३</b> ६.   | त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्          | 88          | योग०         | 998      |
| ₹७.           | दत्तात्रेयोपनिषत्                | 909         | वैष्णव०      | 949      |
| ₹८.           | दर्शनोपनिषत्                     | ९०          | योग०         | १५२      |
| ३९,           | दक्षिणामूर्ल्युपनिषत्            | ४९          | शैव०         | ৩০       |
| 80.           | देव्युपनिषत्                     | ८9          | शाक्त०       | ५३       |
| 89.           | ध्यानबिन्दूपनिषत्                | ३९          | योग०         | 926      |
| ४२.           | नादबिन्दूपनिषत्                  | ३८          | योग०         | 298      |
| <b>6</b> ₹.   | नारदपरित्राजकोपनिषत्             | ४३          | संन्यास०     | ५५       |
| 88.           | नारायणोपनिषत्                    | 96          | वैष्णव०      | 950      |
| <b>۲</b> ۷.   | निरालम्बोपनिषत्                  | ३४          | सामान्यवे०   | 969      |
| ४६.           | निर्वाणोपनिषत्                   | ४७          | संन्यास०     | 938      |
| <b>ধ</b> ও.   | <b>नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्</b> | २७          | वैष्णव०      | 908      |
|               | नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत्        | २७          | वैष्णव०      | 223      |
| 86."          | पञ्चनह्योपनिषत्                  | ९३          | शैव०         | ७९       |
| ४९.           | परब्रह्मोपनिषत्                  | 96          | संन्यास०     | 989      |
| 10.           | परमहंसपरिवाजकोपनिषत्             | ६६          | संन्यास०     | 969      |
| 19.           | परमहंसोपनिषत्                    | 98          | संन्यास०     | 909      |
| 17.           | पाञ्चपतब्रह्मोपनिषत              | ৩৩          | योग०         | २२७      |
| <b>।</b> ३. । | पैङ्गलोपनिषत्                    | ا برم       | सामान्यवे०   | 993      |

| संख्या      | उपनिषदां नामानि           | ईशादिसंख्या | संपुटनाम   | पुटसंख्या      |
|-------------|---------------------------|-------------|------------|----------------|
| <b>.</b>    | प्राणाभिहोत्रोपनिषत       | 98          | सामान्यवे० | ২৭৬            |
| ع فع .      | बह्युचोपनिषत्             | 900         | शाक्त०     | <b>६</b> 9     |
| <b>ر</b> ξ. | बृहज्जाबालोपनिषत्         | २६          | शैव०       | 23             |
| <b>1</b> ७. | ब्रह्मविद्योपनिषत्        | ४०          | योग०       | 288            |
| 36.         | ब्रह्मोपनिषत्             | 99          | संन्यास०   | 900            |
| ۹٩.         | <b>भस्मजाबालोपनिषत</b>    | 60          | शैव०       | 928            |
|             | भावनोपनिषत्               | 68          | शाक्त०     | <b>&amp;</b> Z |
| 9.          | <b>मिधुकोपनिषत्</b>       | Ęo          | संन्यास०   | 990            |
| <b>६</b> २. | मण्डलब्राह्मणोपनिषत्      | 86          | योग०       | २७३            |
| ₹.          | मन्त्रिकोपनिषत्           | ३२          | सामान्यवे० | <b>२</b> २५    |
| 8.          | महावाक्योपनिषत्           | 99          | योग०       | ३०१            |
| ч.          | <b>महोपनिषत्</b>          | <b>६</b> 9  | सामान्यवे० | २३४            |
| ξ.          | मुक्तिकोपनिषत्            | 906         | सामान्यवे० | ३४५            |
| . હ.        | मुद्ग लोपनिषत्            | ५७          | सामान्यवे० | ३७८            |
| 6.          | <b>मैत्रायण्युपनिषत्</b>  | र १४        | सामान्यवे० | ३८८            |
| <b>६९</b> . | <b>मैत्रेय्युपनिषत्</b>   | २९          | संन्यास०   | 993            |
| 90.         | याज्ञवल्क्योपनिषत्        | ९७          | संन्यास०   | २१३            |
| 99.         | योगकुण्डल्युपनिषत्        | 25          | योग० ,     | १०७            |
| ૭૨.         | योगचूडामण्युपनिषत्        | ४६          | योग०       | ३३७            |
| <b>9</b> ξ. | योगतत्त्वोपनिषत्          | ४१          | योग०       | ३६३            |
| ૭૪.         | योगशिखोपनिषत्             | ६३          | योग०       | ३९०            |
| ૭૫.         | रामपूर्वतापिन्युपनिषत्    | 44          | वैष्णव०    | ३०५            |
|             | रामोत्तरतापिन्युपनिषत्    | ५५          | वैष्णव०    | ३२६            |
| ૭૬.         | रामरहस्योपनिषत्           | 48          | वैष्णव०    | ३४४            |
| . e/e       | हद्रहृदयोपनिषत्           | 24          | शैव०       | 986            |
| ٥८.         | रुद्राक्ष्जाबालोपनिषत्    | 66          | शैव०       | १५६            |
| <b>୬</b> ९. | वज्रसूचिकोपनिषत्          | 3,6         | सामान्यवे० | ४१६            |
| ٤٥.         | वराहोपनिषत्               | ९८          | योग०       | ४६४            |
| ٤٩.         | वासुदेवोपनिषत्            | ५६          | वैष्णव०    | ३७५            |
| ८२.         | शरभोपनिषत्                | 40          | शैव०       | 966            |
| ८३.         | शाट्यायनीयोपनिषत्         | 3.8         | संन्यास०   | २२२            |
| ۲8.         | शाण्डिल्योप <b>निष</b> त् | 46          | योग०       | 496            |

| संख्या      | उपनिषदां नामानि        | ईशादिसंख्या | संपुटनाम   | पुटसंख्य |
|-------------|------------------------|-------------|------------|----------|
| ۵4.         | शारीरकोपनिषत्          | <b>£</b> 2  | सामान्यवे० | ४२३      |
| ۷٤.         | शुकरहस्योपनिषत्        | 34          | सामान्यवे० | ४२९      |
| ८७.         | श्वेताश्वतरोपनिषत्     | 98          | शैव०       | 904      |
| 66.         | सन्न्यासोपनिषत् -      | ६५          | संन्यास०   | २३६      |
| <b>د٩.</b>  | सर्स्वतीरहस्योपनिषत्   | 906         | शाक्त०     | ७४       |
| 90.         | सर्वसारोपनिषत्         | 33          | सामान्यवे० | 888      |
| <b>९9.</b>  | सावित्र्युपनिषत्       | 194         | सामान्यवे० | ४५५      |
| ९२.         | सीतोपनिषत्             | 84          | शाक्त०     | 68       |
| ९३.         | <b>सुबालोपनिषत्</b>    | ३०          | सामान्यवे० | ४६०      |
| ९४.         | स्योपनिषत्             | ৩৭          | सामान्यवे० | ५०२      |
| 34.         | सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् | १०५         | शाक्त ं    | 904      |
| <b>९६</b> . | स्कन्दोपनिषत्          | 49          | सामान्यवे० | 406      |
| ९७.         | हय <b>प्रीवोपनिषत्</b> | 900         | वैष्णव०    | ३८३      |
| <b>36.</b>  | हंसोप <b>निषत्</b>     | 94          | योग०       | ५५९      |